संवर्ग–1

इकाई–1 : भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएं

संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 संस्कृति

- 1.2.1 संस्कृति का अर्थ
- 1.2.2 संस्कृति की परिभाषाएं

1.3 भारतीय संस्कृति की विशेषता

- 1.3.1 प्राचीनता
- 1.3.2 निरन्तरता
- 1.3.3 धर्म की प्रधानता
- 1.3.4 ग्रहणशीलता
- 1.3.5 सहिष्णुता
- 1.3.6 सर्वांगीणता
- 1.3.7 कर्मवाद
- 1.3.8 शान्ति एवं अहिंसा का सिद्धान्त
- 1.3.9 विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास
- 1.3.10 विभिन्नता में एकता

1.4 सारांश

1.5 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में है लेकिन आज विश्व में कोई भी संस्कृति इस रूप में सुरक्षित नहीं है जैसे भारतीय संस्कृति। किसी भी देश की संस्कृति से उस राष्ट्र की उन्नति एवं अवनति का पता चलता है। संस्कृति मानव के भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का द्योतक है। संस्कृति व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करने में सहायक है। व्यक्ति का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र एवं विश्व का कल्याण संस्कृति पर निर्भर है। संक्षेप में यूं कह सकते हैं – ''संस्कृति सभ्यता के सूक्ष्म उदात्त तत्त्वों के रचनात्मक विकास एवं पल्लवन का नाम है।''

विश्व की अनेक संस्कृतियों – बेबीलोनिया, मिश्र, क्रीट, यूनान असीरिया में भारतीय संस्कृति सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसकी पृथक विशेषता रही है जैसे प्रचीनता – जहां विश्व की अन्य संस्कृति समय के साथ गर्त में दब गई और समाप्त हो गई लेकिन भारतीय संस्कृति अपनी हजारों साल पुरानी प्राचीनता के साथ आज भी निरन्तर अग्रसर है। भारतीय संस्कृति ने मानवता के विकास को अपने परम लक्ष्य माना। विश्व बन्धुत्व की भावना को अपनाते हुये इसने सभी धर्मों – बौद्ध, जैन, हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई के अनुयायियों को शरण दी। आज भारत में सभी जाति – ब्राह्मण, जैन, हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम, तुर्क सभी निवास करते हैं लेकिन धर्म या मजहब को लेकर कभी कोई विवाद नहीं हुआ है। एक आध अपवाद स्वरूप हुये है लेकिन वह भारतीय संस्कृति की विशेषताओं के बाधक नहीं बने। भारतीयों ने कभी कट्टरता को नहीं अपनाया बल्कि सौहार्दपूर्ण विदेशियों के अच्छे सिद्धान्तों को सह्रदय अपनाया यही ग्रहणशीलता उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता भी है। इसी प्रकार सर्वांगीणता, कर्मवाद, शान्ति अहिंसा, त्याग

तपस्या, अवतारवाद, पूनर्जन्मवाद एवं आशावाद भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है।

1.1 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य भारतीय संस्कृति एवं उसकी विशेषताओं से पाठकों को अवगत कराना है। इस पाठ के द्वारा संस्कृति के अर्थ का निम्न बिन्दूओं पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा।

- भारतीय संस्कृति विश्व में क्या महत्त्व रखती है और उसकी विशेषताओं को विभिन्न महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं द्वारा समझाया गया है। साथ ही साथ विभिन्न विद्धानों द्वारा वर्णित संस्कृति की परिभाषा का भी वर्णन किया गया है।
- इस पाठ में प्राचीनता, निरन्तरता, विश्वबन्धुत्व, सर्वांगीगता, ग्रहणशीलता तथा आध्यात्मिकता आदि बिन्दुओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को व्याख्यायित किया गया है।
- इसके अलावा भारत की एकता एवं अखण्डता के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.2 संस्कृति

भारतीय संस्कृति अति प्राचीन तथा गौरवपूर्ण है। जहा आजकल का युग आर्थिक महत्त्व का है एवं मनुष्य का एक ही उद्देश्य है–धन कमाना वहीं हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सांस्कृतिक कार्य भी कल्पवृक्ष की भांति फलदायी होते है। विश्व में अलग-अलग स्थान की अलग-अलग संस्कृतियां है जिनमें विभिन्नता देखने को मिलती है। ऐसे में भारतीय संस्कृति अपनी अलग अहमियत रखाती है। भारतीय संस्कृति ने जीवन एवं जगत के प्रति 'सर्व-भूत-हिते-रता' होना ही अपना परम धर्म समझा। भारतीय संस्कृति का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण मानवता का विकास करना है और इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये भारत ने ''वसुधैव कुटूम्बकम्'' के कराल गाल में समा चुकी है वहीं भारतीय संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी अपनी संस्कृति, प्राचीनता के आज भी संजोये हुये है। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता, सर्वांगीणता, विशालता, उदारता एवं सहिष्णुता की समता अन्य कोई संस्कृति नहीं रख सकती। राष्ट्रियता, शान्ति, अहिंसा एवं विश्व बन्धुत्त्व का सन्देश देते हुये भारतीय संस्कृति ने मानवता का विकास किया हैं। व्यक्ति के मन शरीर तथा आत्मा से सम्बद्ध नैसर्गिक शक्तियां संस्कृति से ही परिवर्तित और परिष्कृत होती है।

1.2.1 संस्कृति का अर्थ

'संस्कृति' शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। यह परिष्कृत अथवा परिमार्जित करने के भाव का सूचक है। इसी प्रकार कुछ विद्धानों का कथन है कि 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का रूपान्तरण है, कुछ अन्य विद्धान संस्कृति को मानव के नैतिक आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों की समग्रता को समझते है। ''संस्कृति शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उसके परिष्कार का द्योतक है। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का सर्वांगीण विकास है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति हैं। संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्न का परिणाम नहीं होती, बल्कि वह समाज के अनगिनत व्यक्तियों के सामुहिक प्रयत्न का परिणाम होती है औ र यह प्रयत्न भी ऐसा जिसे एक के बाद एक आने वाली मनुष्य की वभिन्न संततियां निरन्तर करती रहती है।

1.2.2 संस्कृति की परिभाषाएँ

एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित करने के लिए अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है और उसके बाद वह कहीं 'संस्कृत' (परिमार्जित या Cultured) कहा जाता है। इस प्रकार संस्कृति की परिभाषा अलग-अलग विद्वानों ने अलग–अलग प्रकार से की है –

- **डॉ. सम्पूर्णानन्द** – मानव का प्रत्येक विचार प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं है पर जिन कामों से किसी देश विशेष के समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े, वहीं स्थायी प्रभाव ही संस्कृति है। संस्कृति वह आधारशिला है, जिसके आश्रय से जाति, समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।
- **डॉ. व्हाइटहेड** – संस्कृति मानसिक प्रयास, सौन्दर्य और मानवता की अनुभूति है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

- ★ **गिलिन** – प्रत्येक समूह तथा समाज में व्यवहार के ऐसे प्रतिमान होते है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते है तथा बच्चों को सिखलाये जाते है, जिनमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना रहती है।
- ★ **रामधारी सिंह दिनकर** – संस्कृति एक ऐसा गुण है जो हमारे जीवन में छाया हुआ है। एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी तरह व्याप्त हुआ है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग–युगान्तर में होता है।
- ★ **ग्रीन** : संस्कृति ज्ञान व्यवहार, विश्वास की उन आदर्श पद्धतियों को तथा ज्ञान व व्यवहार से उत्पन्न हुए साधनों की व्यवस्था को जो कि समय के साथ परिवर्तित होती है, कहते है, जो सामाजिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने किसी विशेष समूह, देश, जाति या कलात्मक एवं बौद्धिक विकास के रूप को देखते हुये संस्कृति की अलग–अलग परिभाषा दी है। या यूं कह सकते हैं सभ्यता के सूक्ष्म, शुद्ध और उदात्त तत्त्वों के रचनात्मक विकास और पल्लवन का नाम 'सस्कृति' है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में संस्कृति की परिभाशा इस प्रकार की जाती है ''संस्कृति वह जीवन पद्धति है जिसकी स्थापना मानव व्यक्ति तथा समूह के रूप में करता है वह उन आविष्कारों का संग्रह है जिनकी खोज मानव ने अपने जीवन को सफल बनाने के लिये की है। अपनी आत्मा और प्रकृति पर विजय प्राप्त करके ही व्यक्ति उन्नत हो सकता है।''

1.3 भारतीय संस्कृति की विशेषताएं

प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व जो आज से हजारों वर्ष पूर्व तक भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग थे आज भी किसी न किसी रूप में भारतीय संस्कृति में विद्यमान है और भारतीय संस्कृति की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखकर हम प्राचीन भारत की परिस्थिति का आकलन कर सकते है। ''भारतीय संस्कृति में धर्म, अध्यात्मवाद, ललितकला ज्ञान, विज्ञान, विविध विद्याए, नीति, विधि–विधान, जीवन प्रणालियां और वे समस्त क्रियाएं और कार्य है जो उसे विशिष्ट बनाते हैं और जिन्होंने भारतीय के सामाजिक और राजनैतिक विचारों को, धार्मिक और आर्थिक जीवन को साहित्यक, शिष्टाचार और नैतिकता में ढाला है।'' इस प्रकार भारतीय संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएं हैं –

1.3.1 प्राचीनता

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में मानी जाती है। विश्व की अनेक संस्कृतियां – मिश्र, असीरिया, बेबीलोनिया, क्रीट, यूनान आदि संस्कृतियां समय के साथ नष्ट होती गई। आज इन प्राचीन संस्कृतियों का नाम लेने वाला कोई नहीं बचा है लेकिन भारत की संस्कृति आज भी भारतीय संस्कृति की प्राचीनता वेदों की प्रामाणिकता, महावीर स्वामी एवं गौतम बुद्ध का अहिंसा एवं शान्ति का सन्देश, देवी–देवता, समाज, संस्कार आदि भारतीय संस्कृति में देखे जा सकते हैं। मद्रास के निकट पल्लवरम, चिंगलपेट, वैल्लौर, सोहनघाटी के क्षेत्र, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर के रिहन्द क्षेत्र, मध्य प्रदेश आदि स्थानों से पाषाणकालीन संस्कृति के अवशेष मिले हैं तथा हड़प्पा, मोहनजोदड़ो आदि स्थानों की खुदाई से लगभग 3200 ई.पू. की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का पता चलता है इस प्रकार भारतीय संस्कृति लगभग 5200 वर्ष पुरानी है।

1.3.2. निरन्तरता

भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी निरन्तरता है। जहां विश्व की अन्य संस्कृतियां समय के साथ जर्जर या लुप्त प्राय हो गई वहीं भारतीय संस्कृति न केवल जीवित है वरन् प्राचीन आदर्श सिद्धान्तों को भी वर्तमान से बांधे है। सिन्धु घाटी सभ्यता का उत्खनन कार्य निरन्तर हो रहा है ऐसे ही आज भी संस्कृत भाषा उसी तरह से बोली या पढी जाती है जैसी आज से कई हजारों वर्ष पहले बोली या पढ़ी जाती थी जैसे पाणिनी के समय। इसी प्रकार प्राचीनकाल के समान आज भी गंगा, यमुना, गोदावरी नदियों को देवी के रूप में पूजा जाता है। वेद, उपनिषद, पुराण आदि साहित्यों को आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है जितना उस काल में। इस प्रकार ये सभी तत्त्व भारतीय संस्कृति की निरन्तरता को बरकरार रखते हुये आज भी समाज एवं संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग बने हुये है। यद्यपि यह पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं है लेकिन भारतीय संस्कृति में किसी न किसी रूप में यह सुरक्षित है।

1.3.3 धर्म की प्रधानता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता आध्यात्मिकता भी रही है। प्राचीनकाल से ही भारत में धर्म अग्रणीय रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को धर्म से जोड़ा जाता रहा है चाहे विवाह संस्कार हो, वर्ण व्यवस्था हो या फिर आश्रम व्यवस्था। आज भी विवाह संस्कार के लिये यही माना जाता है कि वर वधु का चुनाव तो भगवान के घर में ही हो जाता है। भारत में तप, सत्य एवं धर्म को जीवन के लिये श्रेयस्कर बताया है। इस तरह पूरी भारतीय चिन्तन पर आध्यात्मिकता की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार "किसी भी संस्कृति की श्रेष्ठता का मापक उसका आध्यात्मिक चिन्तन होता है। जिस संस्कृति के आध्यात्मिक विचार जितने अधिक और गहन होते है, वह संस्कृति इतिहास में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।" भारतीयों ने शुरू से ही स्थूल संसार से परे किसी अलौकिक सत्ता को माना है। भारत की इसी आध्यात्मिकता ने विदेशी जातियो – शक, कुषाण, यवन, मुसलमानों को भी अपने धर्म का अभिन्न अंग बना लिया। मानव जीवन का परम लक्ष्य आध्यात्मिकता पर चलते हुए ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना या अन्य साधनों से सांसारिक जीवन से मोक्ष प्राप्त करना माना गया है और आज भी मोक्ष प्राप्त करना भारतीयों का परम लक्ष्य है।

1.3.4. ग्रहणशीलता

ग्रहणशीलता से तात्पर्य होता है किसी भी अन्य वस्तु को अपनाना और भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता उसकी ग्रहणशीलता है। जब–जब भारतीयों का अन्य देशों के साथ सम्पर्क हुआ तब–तब उन्होंने वहां की अच्छाइयों को ग्रहण किया यही कारण रहा है कि भारत में आई विदेशी जातियों (शक, हूण, मंगोल एवं तुर्क आदि) के रिति–रिवाज, धर्म, भाषा, संस्कारों को आत्मसात कर लिया यदि भारतीय भी अन्य देशों की तरह इन्हें ग्रहण नहीं करते तो शायद आज भारतीय संस्कृति सुरक्षित नहीं रह पाती। भारतीय ज्योतिष एवं कला यूनानी एवं इस्लामी प्रभाव से समृद्ध है। भारतीयों ने 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त को अपनाते हुए विदेशियों की अच्छाइयों को ग्रहण किया परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति और अधिक समृद्ध हो गई। यह तो सब जानते हैं कि भारतीय संस्कृति ने विश्व को शान्ति, अहिंसा, सद्भावना, राष्ट्रीयता, मैत्री भाव, अपनत्व का सिद्धान्त दिया है लेकिन इसके साथ भारतीयों ने ग्रहण भी किया है। इसी ग्रहणशीलता के कारण ही भारतीय संस्कृति में विशालता, व्यापकता तथा विविधता परिलक्षित होती है।

1.3.5. सहिष्णुता

भारत में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति सम्मान का भाव प्राचीनकाल से ही रहा है। यहां अनेकों धर्मों के अनुयायी रहते हैं कभी भी धर्म को लेकर भारत में कोई संग्राम, रक्तपात, नहीं हुआ जबकि यूरोप में कई स्थानों पर धर्म का विषय लड़ाई और झगड़े का कारण बना। विश्व में एक धर्म ने अपने ही धर्म की अन्य शाखा को पनपने नहीं दिया इसी कारण सुकरात को विषपान करना पड़ा ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया गया लेकिन भारत के इतिहास में ऐसा एक भी पन्ना नहीं लिखा है जिसमें युद्ध का कारण धार्मिक विश्वास, भिन्न–भिन्न पूजा विधियां, विभिन्न रहन–सहन, खानपान आदि रहा हो बल्कि भारत में सभी सम्प्रदायों के लोग एक साथ स्वीकृत रहते आये हैं। सहिष्णुता का सुन्दर उदाहरण अशोक के बारहवें शिलालेख में भी देखने को मिलता है जिसमें लिखा हैं – "लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करे। जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुंचाता है और दूसरे सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। सभी सम्प्रदाय वाले विद्वान होते है और कल्याण का कार्य करते हैं।" यहीं नहीं वरन् भारतीयों ने ग्रहणशीलता के सिद्धान्त को अपनाते हुए, विदेशों से धार्मिक अत्याचारों द्वारा पीड़ित होकर आने वाले पारसियों, यहुदियों ओर सीरियन ईसाइयों को अपने यहां शरण दी जो कि भारतीयों की धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है।

1.3.6. सर्वांगीणता

भारतीय संस्कृति ने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के विकास को आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण माना जबकि विश्व की अन्य संस्कृतियों ने भौतिक विकास तो किया मगर आत्मा विज्ञान का विकास नहीं परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति के सर्वांगीणता के सिद्धान्त ने भारतीय संस्कृति की एक अलग ही छवि बना दी। विद्वानों ने चार पुरुषार्थों काम, अर्थ द्वारा शरीर एवं धर्म मोक्ष के द्वारा आत्मिक विकास का सिद्धान्त दिया। पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये चार आश्रम – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम का प्रावधान रखा। इस तरह भारतीय संस्कृति मनुष्य के किसी एक पक्ष के स्थान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पर उसके सर्वांगीण विकास को महत्त्व देती है जबकि अन्य संस्कृतियों में यह कमी रही है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने मनुष्य की ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति को बढ़ावा दिया।

1.3.7. कर्मवाद

भारतीय आर्य संस्कृति ने विश्व संस्कृति को कर्मवाद का एक मूलमंत्र दिया। भारतीय मान्यतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसके अच्छे एवं बुरे कर्मों का फल अवश्य मिलता है और अपने कर्मों को भोगने के लिए बार–बार एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेना पड़ता है और अच्छे एवं बुरे कर्मों से देव योनि या जीव योनि में जन्म लेता है और मोक्ष प्राप्त होने पर जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म करते रहने एवं फल की इच्छा नहीं करने को कहा है। इस प्रकार कर्मवाद भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है।

1.3.8 शान्ति एवं अहिंसा का सिद्धान्त

प्राचीन भारत के दो महत्त्वपूर्ण धर्म जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ने सम्पूर्ण मानवता को शान्ति एवं अहिंसा का पाठ पढ़ाया तथा समस्त जीव एवं अजीव के प्रति अहिंसा एवं सहानुभूति की भावना रखने को कहा। आज वर्तमान में भारत की इसी अहिंसा एवं शान्ति नीति ने विश्व में भारत को अग्रणीय स्थान प्रदान किया। अशोक मौर्य ने भी समस्त जीवों के प्रति प्रेमभाव रखने का सन्देश दिया। समस्त विश्व में शान्ति एवं मित्रता बढ़ाने में जैन धर्म द्वारा प्रदत्त अहिंसा एवं शांति अखण्डित अस्त्र कहा जा सकता है।

1.3.9 विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास

भारतीयों का एक नारा है –

सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिच्छ दुःखभाग् भवेत।।

कहने का तात्पर्य सब सुखी हो तथा सभी स्वस्थ रहे इस प्रकार का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय परम्परा में मनुष्य, जीव मात्र की सहायता करना, रक्षा करना एवं कल्याण करने को विशेष महत्त्व दिया गया है।

1.3.10 विभिन्नता में एकता

भारतीय संस्कृति की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है – विभिन्नता में एकता। भारत अनेक जातियो, समुदायों, धर्मों में विभाजित होने के बावजूद एक है। भारत में अनेक भाषाएं, बोली जाती है लेकिन उनमें भाषागत विभिन्नता होते हुए भी एकता विद्यमान है। डॉ. राधाकुमद मुखर्जी के अनुसार "भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों, रितिरिवाजो, धर्मों, संस्कृति, विश्वासों, भाषाओं, जातियों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का एक संग्रहालय है।" लेकिन इतनी विभिन्नताओं के होते हुए भी भारतीय संस्कृति में एकता स्पष्ट दिखाई देती है। यहां ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, मुस्लिम, भील, संथाल, जैन आदि अनेक जातियों के लोग निवास करते हैं तथा अनेक धर्मों के अनुयायी मुख्यतः हिन्दू, जैन, बौद्ध, इसाई, इस्लाम, पारसी आदि भी रहते हैं लेकिन भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता अनेकता में एकता है भारत की एकता की छवि निम्न बिन्दुओं से आंकी जा सकती है –

* **राजनीतिक एकता** : भारत एक विशाल देश है यहां पर प्राचीनकाल से राजनीतिक सत्ता के लिये संघर्ष होता रहा है लेकिन इसके बावजूद भारतीयों में राजनीतिक एकता स्पष्ट दिखाई देती है। प्राचीनकाल में मौर्यकाल, गुप्तकाल, वर्धनवंश, चोल, चालुक्यों ने राजनीतिक एकता की परम्परा को बरकरार रखा। इसी तरह मराठा, पेशवाओं ने भारतीय राजनीति को एक करने का प्रयास किया। मुगलकाल में एक भाषा, एक सी राजव्यवस्था, एक कानून ने भारतीयों को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरायो और अंग्रेजी शासन के तहत यह एकता एकदम स्पष्ट हो गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सविधान, शासन व्यवस्था आदि सभी में एकता दृष्टिपात होती है।

* **भौगोलिक एकता** : यूं दूखने पर भारत का निर्माण बड़े–बड़े भूखण्डों, नदियों, पर्वतों, वनस्पतियों से हुआ है। इसकी भौगोलिक स्थिति पर नजर डाले तो यह उत्तर में हिमालय, दक्षिण में समुद्री जल सीमा से घिरा है लेकिन इतनी भौगोलिक विषमताओं के बावजूद यहां के निवासी स्वयं को भारतीय कहते हैं। विष्णुपुराण में तो स्पष्ट रूप से बताया गया है कि समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण का सारा प्रदेश 'भारत' है और इसके निवासी भारत की सन्तान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

* **सांस्कृतिक एकता :** विभिन्न जातियों एवं धर्मों के होने के बीच यहां की सांस्कृतिक एकता स्पष्ट दिखाई देती है। यहां के तीज त्यौहार, खान–पान, रहन–सहन, वस्त्राभूषण, कला साहित्य सभी भारत की सांस्कृतिक एकता का बखान करते हैं। भारत की संस्कृति बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुस्लिम तथा वैदिक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। भारत में अनेक धर्मों के अनुयायी निवास करते हैं। अलग–अलग धर्म होने के बावजूद इनके नैतिक सिद्धान्तों में मूलभूत एकता है। एकेश्वरवाद, आत्मा का अमरत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, निर्वाण, भक्ति, योग, बोधिसत्व और तीर्थंकर आदि प्रायः सभी धर्मों की निधि है। नियम, शील, तप, सदाचार, सत्य, शांति, अहिंसा आदि सिद्धान्तों का सभी धर्मों में जोर है। यही नहीं सभी धर्मों के रिति–रिवाज अलग–अलग होने के बावजूद यहां के निवासी विभिन्न त्यौहारों – होली, दीवाली, ईद, रक्षाबन्धन आदि आपस में मिलजुल कर मनाते हैं जो भारतीय सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। सांस्कृतिक एकता का एक पहलू यहां पर अनेक भाषाएं – मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बांगला, पंजाबी, हरियाणवी होने के बावजूद हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा, दिया गया हैं में भी देखने को मिलता है। कला के प्रतिमानों में यहां सभी धर्मों से सम्बन्धित मन्दिर, स्तूप, चैत्य, मस्जिद, मूर्तियां, दरगाह है जो सांस्कृतिक एकता का महत्त्वपूर्ण अंग है।

अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न – सहिष्णुता एवं कर्मवाद भारतीय संस्कृति की विशेषता है समझाइये।

उत्तर – ....

1.4 सारांश

विद्यार्थियों ऊपर वर्णित भारतीय संस्कृति एवं उसकी विशेषताओं से पूरी तरह अवगत हो गये होंगे। भारतीय संस्कृति का मूल उद्देश्य व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का सर्वांगीण विकास करना है। यह संस्कृति प्राचीनतम होने के बावजूद भी आज सुरक्षित है जहां विश्व की अन्य संस्कृतियां काल का ग्रास बनी या प्राकृतिक आपदाओं से नष्ट हो गई वहीं भारतीय संस्कृति किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है। प्राचीन रीति रिवाज, धर्म, संस्कार, रहन–सहन, कला, साहित्य को आज भी उसी तरह माना जाता है। यद्यपि यह पूरी तरह से सुरक्षित नहीं है लेकिन इसके अंश आज किसी न किसी रूप में भारतीय समाज एवं मनुष्य में देखने को मिलते हैं। भारतीय संस्कृति का यदि बारीकी से अध्ययन करे तो पता चलता है कि अतीत के सभी युगों और परिस्थितियों में उसकी अन्तःधारा निर्बाध रूप से निरन्तर आगे बढ़ती रही आज भी सुरक्षित है यहीं कारण है कि इतनी प्राचीन होने के बावजूद यह निरन्तर गतिमान है। भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने उसे सबल बनाया। अनेक भाषाओं, रीति–रिवाजो, परम्पराओं के होने के बावजूद इसमें एकता दृष्टिगत होती है। भारतीय संस्कृति ने विश्व बन्धुत्व की भावना एवं सहिष्णुता की नीति अपनाकर अनेक धर्मों एवं अनुयायियों को स्थान प्रदान कर रखा है जिसके कारण इसका विश्व संस्कृति में अलग पहचान बन गई है। यहीं नहीं विश्व को शान्ति एवं अहिंसा, ग्रहणशीलता का सिद्धान्त भी भारतीय संस्कृति की देन है। विश्व की अन्य संस्कृतियों में जहां स्वार्थ सिद्धि के लिये युद्ध होते हैं वहीं भारतीय संस्कृति ने ''जीओं और जीने दो'' का नारा देकर मानवता का पाठ पढ़ाया है। भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता जिसके कारण भारतीय कोई गलत कार्य करते डरते हैं – वह है कर्मवाद। भारतीय विद्वानों के अनुसार व्यक्ति को अपने कर्मों के अनुसार फल भोगना पड़ता है और इसी कर्मवाद के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर भारतीय कोई भी कार्य करते हैं तो उसके अच्छे बुरे फल का पहले अनुमान लगा लेते हैं यही कारण है अन्य देशों की तुलना में भारतीय अपराध कम करते हैं। यही कर्मवाद भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है। समय के साथ भारतीयों ने भी प्राचीन संस्कृति के साथ नयी संस्कृति, आधुनिकीकरण को अपनाया है यह ग्रहणशीलता भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय संस्कृति ने पहले भी मानव का पथ–प्रदर्शन किया था और आज भी स्वार्थ, द्वेष, वैमनस्य तथा हिंसा से पीड़ित मानवता के ऋण में यही भारतीय संस्कृति उपकारक सिद्ध हो सकेगी।

1.5 बोध प्रश्न

प्रश्न –1 'संस्कृति मानसिक प्रयास, सौन्दर्य और मानवता की अनुभूति है' किसका कथन है?

(अ) गिलिन (ब) रामधारी सिंह दिनकर (स) डॉ. व्हाइटहेड (द) ग्रीन

प्रश्न –2 ''विभिन्नता में एकता'' भारतीय संस्कृति की विशेषता को समझाइये? (30 शब्द)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न – 3 संस्कृति का अर्थ बताते हुए भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएं बताइयें? (निबन्धात्मक)

इकाई–2 : सिन्धु धर्म

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 सिन्धु घाटी सभ्यता
  2.2.1 सिन्धु घाटी सभ्यता का विस्तार क्षेत्र
  2.2.2 सिन्धु सभ्यता का समय
  2.2.3 रिान्धु राग्यता के निर्गाता
2.3 सिन्धु घाटी सभ्यता की धार्मिक विशेषता
  2.3.1 परमपुरुष की उपासना
  2.3.2 मातृदैवी की उपासना
  2.3.3 वृक्ष पूजा
  2.3.4 पशु पूजा
  2.3.5 लिंग एवं योनि पूजा
  2.3.6 जल पूजा
  2.3.7 अग्नि पूजा
  2.3.8 बलि प्रथा
  2.3.9 प्रतीक पूजा
  2.3.10 अंधविश्वास एवं जादू–टोना
  2.3.11 योग साधना में विश्वास
  2.3.12 पूजा पद्धति
  2.3.13 मृतक संस्कार
2.4 सारांश
2.5 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.0 प्रस्तावना

सिन्धु घाटी सभ्यता भारत की ही नहीं विश्व की प्राचीन सम्भ्यताओं में से एक है। यह नगरीय सभ्यता है जो कि उन्नतावस्था में थी। प्राप्त अवशेषों से सिन्धु सभ्यता के अन्य पक्षों के साथ–साथ सिन्धु धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का पता चलता है। सिन्धु निवासी मुख्यतः द्विदेवमूलक थे ये देव थे – मातृदेवी और परमपुरुष। सैन्धव केन्द्रों से उत्खनन में अत्यधिक मात्रा में मुद्राएं मिली है जिन पर नारी चित्रण है।

सैन्धववासी मातृदेवी की उपासना कई रूपों में करते थे जैसे – जननी, वानस्पति देवी आदि इसी प्रकार सैन्धववासी आधुनिक शिव के समान किसी देव की उपासना करते थे जो गेंड़ा, भैसा, हाथी, व्याघ्र तथा नाग आदि पशुओं से घिरे रहते थे। इसी तरह 'अग्निवेदिकाओं के साक्ष्य, जल पूजा के साक्ष्य सैन्धववासियों की धार्मिक विश्वास और आस्था को प्रकट करते हैं। इसके अलावा सैन्धववासियों को लिंग योनी पूजा, जादू टोना आदि अन्धविश्वासों में विश्वास था। पशु पूजा में मुख्यतः एक श्रृंगी बैल, हाथी, व्याघ्र तथा नाग की पूजा की जाती थी। वृक्ष पूजा में बबूल, पीपल, नीम प्रमुख थे। सैन्धववासी मृतक संस्कार को भी धार्मिक

कार्य से जोड़ते थे। इस प्रकार सैन्धववासियों के धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं आज भी भारतीय संस्कृति का आधार है। शिव पूजा, नाग पूजा, जल पूजा, अग्नि पूजा आदि धार्मिक संस्कार भारतीयों को सिन्धु सभ्यता की देन है।

2.1 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य सैन्धव वासियों की धार्मिक आस्था और विश्वास पर प्रकाश डालना है। प्रस्तुत पाठ में सिन्धु सभ्यता के धर्म के महत्त्वपूर्ण बिन्दू बताते हुए उनकी विशेषताओं का वर्णन किया जायेगा विशेषतः इन बिन्दूओं पर–

* सिन्धुवासियों के द्विदेव – मातृदेवी की उपासना एवं परमपुरुष की उपासना का वर्णन किया जायेगा।
* लिंग योनि पूजा, अग्नि पूजा, जल पूजा, नाग पूजा, पशु–पक्षियों की पूजा, वृक्ष पूजा के द्वारा सिन्धु धर्म की विशेषताओं की व्याख्या की जायेगी।
* इसके अलावा प्रतीक पूजा, योग साधना, अन्धविश्वासों एवं मृतक संस्कार का भी उल्लेख किया जायेगा।

2.2 सिन्धु घाटी सभ्यता

आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व तक यही माना जाता था कि वैदिक सभ्यता भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता हैं लेकिन 1826 ई. में सर्वप्रथम चार्ल्स मेस्सन ने हड़प्पा टीले का सर्वप्रथम उल्लेख किया तत्पश्चात 1856 ई. में करांची से लाहौर तक रेल्वे लाइन बनाते समय इस सभ्यता का रहस्योद्घाटन हुआ। 1872 ई. में पुरातत्त्वेत्ता सर अलेक्जेन्डर कनिघंम ने हड़प्पा से अनेक पुरातात्त्विक वस्तुएं प्राप्त की और अनुमान लगाया कि सम्भवतः यहां कोई प्राचीन सभ्यता दबी हुई है 1922 ई. में पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी राखालदास बनर्जी के नेतृत्व में पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले के मोहनजोदड़ों की खुदाई के साथ ही एक उन्नत सभ्यता प्रकाश में आई। इसका प्रारम्भिक उत्खनन हड़प्पा नगर में हुआ अतः इसे ''हडप्पा सभ्यता'' के नाम से जाना जाने लगा। लेकिन मोहनजोदड़ों के प्रकाश में आते ही यह अनुमान लगाया जाने लगा कि यह सभ्यता सिन्धु नदी की घाटी तक सीमित है अतः इसे ''सिन्धु घाटी सभ्यता'' नाम दिया गया। लेकिन अब तक भारतीय उपमहाद्वीप में इसके लगभग 1000 स्थानों का पता चलने के बाद इसका नामकरण ''हड़प्पा सभ्यता'' अधिक उपयुक्त समझा जाता है।

2.2.1 सिन्धु घाटी सभ्यता का विस्तार क्षेत्र

अब तक किये गये उत्खनन से विद्धानों ने इसके विस्तार क्षेत्र को भारत, पाकिस्तान ब्लूचिस्तान, सिन्धु एवं अफगानिस्तान बताया है। प्रमुख पुरास्थल केन्द्र इस प्रकार हैं –

1. **सिन्ध** : मोहनजोदड़ो, अमरी, कोटदीची, रहमानढेरी, चन्हूदड़ों अलीमुराद, झूकर, झांगर, सुकुर आदि।
2. **ब्लूचिस्तान** : मेहरगढ़, राणा घुटई, सुतकागेनडोर बालाकोट, डाबरकोट आदि।
13. **पश्चिमी पंजाब** : हड़प्पा, गनेरीवाला, देरावर, जलीलपुर, संघनवाला आदि।
4. **गुजरात** : लोथल, धौलावीर, सुरकोतदा, रंगपुर, रोजदी, देषलपुर।
5. **राजस्थान** : कालीबंगा, पीलीबंगा, बाड़ा, हनुमानगढ़, छुपास आदि
6. **हरियाणा** : बनावली, मीताथल, राखीगढ़ी आदि।
7. **उत्तर प्रदेश** : आलमगीरपुर, मानपुर, बड़गांव आदि।
8. **पूर्वी पंजाब** : रोपड़, कोटला, निहांग खान इत्यादि।
9. **अफगानिस्तान** : सोरतघई, मुण्डीगाक आदि।

इस प्रकार सिन्धु घाटी सभ्यता का विस्तार क्षेत्र पूर्व में उत्तरप्रदेश के आलमगीरपुर से लेकर पश्चिम मं ब्लूचिस्तान के सुतकागेनडोर, तथा उत्तर में जम्मू के मांडा से दक्षिण में दैमाबाद तक फैला है। इस प्रकार पूर्व से पश्चिम तक इसकी लम्बाई 1600 कि.मी. तथा उत्तर से दक्षिण में 1000 कि.मी. तक है। सभ्यता का कुल क्षेत्रफल 12.99, 600 वर्ग कि.मी. है और सभ्यता का आकार त्रिभुजाकार है।

2.2.2 सिन्धु सभ्यता का समय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यद्यपि इसकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं गई अतः इसका काल निर्धारण करना अत्यन्त जटिल कार्य है लेकिन विभिन्न विद्धानों ने इसका अलग-अलग समय निर्धारित किया है जैसे –

विद्वान		समय		
सर जान मॉर्शल	:	3250 ईसा पूर्व	–	2750 ईसा पूर्व
अर्नेस्ट मैके	:	2800 ईसा पूर्व	–	2500 ईसा पूर्व
रेडियो कार्बन (C-14) पद्धति	:	2350 ईसा पूर्व	–	1750 ईसा पूर्व
माधोस्वरूप वत्स	:	3500 ईसा पूर्व	–	2700 ईसा पूर्व
माटीमर व्हीलर	:	2500 ईसा पूर्व	–	1500 ई.पू.
फेयर सर्विस	:	2000 ईसा पूर्व	–	1500 ईसा पूर्व

रेडियों कार्बन (C-14) जैसी नवीन विश्लेषण पद्धति के द्वारा हडप्पा सभ्यता का सर्वमान्य समय 2500 ई.पू. से 1750 ई.पू. है।

2.2.3 सिन्धु सभ्यता निर्माता

सिन्धु घाटी सभ्यता के काल के समान ही इस सभ्यता के निर्माता कौन थे यह भी विवाद का विषय बना हुआ है। अलग–अलग विद्वानों ने अलग–अलग मत दिये है –

- **डॉ. लक्ष्मण स्वरूप** : सिन्धु सभ्यता के निर्माता 'आर्य' थे।
- **गार्डन चाइल्ड** : सुमेरियन को सिन्धु सभ्यता का निर्माता बताया है।
- **राखलदास बनर्जी** : सिन्धु सभ्यता के निर्माता 'द्रविड़' थे।
- **व्हीलर** : 'दस्यू दास' को सिन्धु सभ्यता के निर्माता होना बताया है।

इन समस्त विवादों का अवलोकन करके **डॉ. रमा शंकर त्रिपाठी** का कहना है कि, ''ऐतिहासिक ज्ञान की इस सीमा पर खड़े होकर अभी इस विषय पर हमारा मौन ही सराहा और उचित है।'' इस प्रकार सिन्धु सभ्यता के निर्माता के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

2.3 सिन्धु घाटी सभ्यता की धार्मिक विशेषता

आधुनिक भारत में धर्म की प्रधानता प्राचीनकाल से चली आ रही है और इसका प्रारम्भिक स्वरूप सिन्धु घाटी सभ्यता में देखने को मिलता है। सिन्धु घाटी सभ्यता की अभ्युन्नति में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राप्त सैन्धव अवशेषों से ज्ञात होता है कि सिन्धुवासियों का सुव्यवस्थित एवं विकसित धर्म एक विकसित दीर्घकालीन परम्परा का द्योतक है। सैन्धववासी देवतावादी थे जिसमें भी परम सत्ता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि सैन्धव स्थलों के उत्खनन से किसी मन्दिर के अवशेष (स्पष्टतः) नहीं मिले हैं लेकिन फिर भी मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कुछ वस्तुएं ऐसी मिली है जिनके आधार पर सिन्धु सभ्यता के धर्म के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है इनमें मुद्राये, मूर्तियां प्रमुख है।

प्राप्त अवशेषों में स्पष्टतः किसी मन्दिर अथवा पूजाघर के अवशेष तो नहीं मिले लेकिन मोहनजोदड़ों के एक खण्डित भवन को व्हीलर महोदय ने देवालय माना है लेकिन अभी यह विवादास्पद विषय है। इसी प्रकार बनावली से प्राप्त अर्द्धवृत्ताकार ढांचे को देवालय या मन्दिर कहते हैं लेकिन पूरी तरह से स्पष्ट नहीं का जा सकता है।

सैन्धववासी मूलतः द्विदेवमूलक थे जिसमें परमपुरुष की उपासना एवं मातृदेवी की उपासना प्रमुख थी। इसके अलावा सैन्धववासी पशु पूजा, नाग पूजा, जल पूजा, अग्नि पूजा, वृक्ष पूजा, लिंग एवं योनि पूजा करते थे। सैन्धववासियों की धार्मिक विशेषताओं को देखते हुये आभास होता है कि सिन्धु धर्म हिन्दू धर्म से काफी मिलता है। सिन्धु धर्म की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

2.3.1 परम पुरुष की उपासना

विभिन्न सैन्धव केन्द्रों से कुछ ऐसी मुद्राएं मिली है जिन पर अंकित आकृतियों को देखकर इतिहासकारों का मानना है कि सैन्धववासी शिव के समान किसी परमपुरुष की उपासना करते थे। मोहनजोदड़ों से प्राप्त योगी की मुद्रा में, जिसके तीन मुख, दांयी और हाथी और व्याघ्र तथा बांयी ओर भैंसा और गेंड़ा अंकित है जो देखकर इतिहासकार जॉन मार्शल ने इसे पशुपति शिव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की मूर्ति बताया है। इस योगी के सिर पर त्रिशुल के समान आकृति भी है। मार्शल महोदय का मानना है कि जिस प्रकार त्रिशुल शिव का अस्त्र है तथा शिव को वर्तमान में पशुपति भी कहते हैं। उसी प्रकार इस मुद्रा में अंकित योगी जो पशुओं से घिरा है तथा जिस के सर पर त्रिशुल बना है तथा शिव के समान त्रिनेत्र रूप में तीन मुख है। को इस प्रकार की मुद्रा में देखकर इतिहासकारों ने भी इस योगी को शिव बताया है। एक अन्य मुद्रा में एक पुरुष के सामने दो साँपों तथा दाये–बाये एक–एक साँप का अंकन है जिसे देखने से भगवान शिव का आभास होता है जो नाग को गले में डाले रखते हैं। सम्भवतः मुद्रा में पुरुष, नाग की पूजा करता हुआ दर्शाया है। इसी प्रकार एक अन्य मुद्रा में धनुषधारी शिकारी का अंकन है जिसने किसी जानवर की खाल के समान कोई वस्त्र पहन रखा है इतिहासकार इसे किरातवेशधारी शिव मानते हैं।

एक अन्य पुरुष मूर्ति, जो स्लेटी पत्थर की बनी है तथा नृत्य मुद्रा में है यद्यपि इस मूर्ति का सिर खण्डित हो गया है तथा मूर्ति में पुरुष के पतला शॉल जैसा वस्त्र पहना दिखाया है। हडप्पा से प्राप्त इस मूर्ति को मार्शल महोदय ने 'नटराज' की मूर्ति बताया है जो नृत्य कर रही है।

इन समस्त मुद्राओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि कि सम्भवतः सिन्धुवासी शिव के समान किसी देव की या शिव की ही पूजा करते थे। हिन्दू धर्म में शिव को अनेक नामों से – पशुपति, त्रिनेत्रधारी, किरातवेशधारी, नागपति आदि से पुकारा जाता है तथा सैन्धव केन्द्रों से प्राप्त मुद्राओं में परम पुरुष का अंकन किसी न किसी तरह शिव से मिलता है या यूं कह सकते हैं – भारतीयों को शिव उपासना की देन सैन्धववासियों द्वारा मानो जा सकती है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। लेकिन आज भी यह विवाद का विषय बना हुआ है कि सैन्धववासी शिव को किस नाम से पूजते थे। सैन्धव लिपि पढ़े जाने के पश्चात् ही इस का निदान मिल पायेगा।

2.3.2 मातृ देवी की उपासना

सैन्धव क्षेत्रों से बहुत अधिक संख्या में मिट्टी की बनी नारी की मूर्तियां प्राप्त हुई है जो अधिकांशतः नग्नावस्था में है तथा कटि में पटका एवं मेखला, गले में हार धारण किये हुये हैं यह मूर्तियां सिन्धुवासियों के मातृदेवी की उपासना को बताते हैं। इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त नारी प्रतिमाओं तथा उनके अंकन से इतना तो स्पष्ट है कि अन्य सभ्यताओं के समान सिन्धु सभ्यता में भी मातृदेवी–प्रजनन शक्ति, वनस्पति की देवी, जगत जननी के रूप में स्थापित हो चुकी थी।

एक मुद्रा पर पीपल की टहनी के प्रभामण्डल के मध्य एक आकृति को ऋृंता मुकुट धारण किये हुये दिखाया गया है। सिर के पीछे उसके केश वेणी के रूप में लटक रहे हैं। इस खड़ी आकृति के सम्मुख उसी प्रकार की दूसरी आकृति एक घुटना नीचे टेक कर बैठी है इसी के समीप गले में माला पहने एक भेड़ खड़ी है। मुद्रा के नीचे के भाग में इसी प्रकार की सात आकृति में खड़े हुये दिखाया गया है।

इसी प्रकार मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक दूसरी मुद्रा पर ऊपर की ओर एक पंक्ति में छः व्यक्तियों खड़े हुये दिखाया गया है। नीचे के भाग में एक झुकी हुई आकृति चौड़े फल वाला शस्त्र लिये हैं और उसके सामने बकरा और वृक्ष जैसा आकार है। पुरातत्वविदों और विद्वानों ने इन मुद्राओं पर देवी के सामने बलि दिये जाने के दृश्य का प्रगटीकरण माना है।

हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर स्पष्टतः मातृदेवी की प्रजनन शक्ति का प्रदर्शन हुआ है। इस मुद्रा पर शीर्षासन करते हुये एक नारी की योनि से वृक्ष निकलते हुये दिखाया गया है तथा बाई ओर दो बाघों का अंकन है। इस प्रकार के अंकन से सैन्धव वासियों ने वनस्पति देवी को दर्शाने का प्रयत्न किया है या इस प्रकार यह देवी पूरे वनस्पति जगत की सृष्टिकारिणी देवी कही जा सकती है।

इसके अलावा कुछ ऐसी नारी मूर्तियां भी मिली है जो शिशु को स्तनपान कराते हुये या गर्भवती को लेटे हुये दिखाया है। सम्भवतः यह साधारण नारी मूर्तियां भी हो सकती है जो सजावट के लिये बनाई गई हो लेकिन कई विद्वान इन्हें जगत जननी के रूप में मानते हैं। मोहनजोदड़ों से एक सैलखड़ी की नारी मूर्ति मिली है जिसमें नारी के सिर पर पंख फैलाये पक्षी के समान कुछ अंकित है। इसके अलावा अनेक नारी मूर्तियों के साथ अनेक पशुओं का अंकन भी वनस्पति जगत के साथ–साथ पशु जगत पर मातृदेवी के आधिपत्य को दर्शाता है।

2.3.3 वृक्ष पूजा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सिन्धु सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों में नारी एवं पुरुष के अंकन के अलावा कई वृक्षों का अंकन मिलता है जिनमें पीपल का अंकन सर्वाधिक है सम्भवतः सैन्धवासी वृक्षों में देवत्व को मानते हुये उनकी पूजा करते थे। एक मुद्रा में पीपल की टहनी के मध्य खड़ी आकृति को मार्शल महोदय ने पीपल की आत्मा बताया है। साथ में अंकित सात आकृतियां देवी की दूत है।

मोहनजोदड़ों से एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें दो पशुओं का अंकन है जिनके सिर पर पीपल की नो (9) पत्तियां बनी है जो वृक्षों को पशुओं से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। एक अन्य मुद्रा पर वृक्ष देवी को प्रसन्न करने हेतु पशुबलि का चित्र अनुमानित है। इसी तरह एक मुद्रा पर एक नग्ननारी चित्रित है जिसके दोनो ओर वृक्ष की टहनियां है और सामने सिर पर पत्तियों का मुकुट है।

पीपल आज भी पवित्र वृक्ष के रूप में पूजा जाता है यह परम्परा सिन्धु काल से चली आ रही है। इसके अलावा बबूल, नीम, शीशम तथा केले के पत्तों का अंकन भी मिलता है जिसे देखने से आभास होता है सैन्धववासी वृक्षों की दो रूपों में पूजा करते थे –

1. देवताओं के वास के रूप में जैसे – पीपल

2. प्राकृतिक रूप में जैसे – नीम, बबूल

सम्भवतः यही से वृक्ष पूजा का प्रारम्भ रहा हो और आगे चलकर कला रूपों में भी वृक्ष पूजा को स्थान मिल गया यहीं कारण है साँची, भरहुत, अमरावती स्तूप आदि की वेदिकाओं पर सुन्दर वृक्षों, लताओं कअंकन अधिक मात्रा में किया गया है।

2.3.4 पशु पूजा

सैन्धवकालीन मुद्राओं में मातृदेवी एवं परम पुरुष की उपासना के साथ कई पशुओं का अंकन भी मिला जो उनके धार्मिक महत्त्व को बताता है। पशु आकृतियां मुख्यतः तीन रूपों में मिली है स्वतन्त्र आधा पशु आधा मानव एवं खिलौने रूप में। सैन्धववासी मुख्यतः हाथी, गेंडा, व्याघ्र, एकश्रृंगी, घड़ियाल एवं बकरी आदि पशुओं से परिचित थे जिनमें कुछ पशु धर्म से जुड़े थे। सैन्धववासियों का प्रिय पशु वृषाभ था। कुबड़ वाला बैल सैन्धववासियों का प्रमुख पशु था तथा यह शक्ति का प्रतिक माना जाता था। इसके अलावा मोहनजोदड़ों से प्राप्त मुद्रा में एक व्यक्ति को एक नाग के सामने हाथ जोड़े हुये दर्शाया जो नाग पूजा को प्रदर्शित कर रहा है। पशु आकृतियों में मुड़े हुये सींग वाले अज (बकरा) का चित्रण महत्त्वपूर्ण है। पशु के गले में तीन मालाएं है विद्वानों का मानना है यह बलि का दृश्य है।

प्राचीनकाल में लोगों का विश्वास था कि पहाड़ों पर विचरने वाली बकरी दूसरे लोक का मार्ग बताती है। हड़प्पा के शव स्थानों में एक अस्थि पंजर के बगल में अल्प आयु की भेड़ या बकरी का पंजर मिला है जिसे कई स्थानों पर काटा गया है। उसकी कुछ पसलियां मृतक की हथेली पर रखी थी। ऐसा लगता है मृतक संस्कार के साथ इस पशु का बलिदान किया गया था। पशुओं का अंकन सैकड़ो मुद्राओं पर होने से सैन्धव समाज में इनके महत्त्व का अनुमान लगाना सम्भव है।

2.3.5 लिंग एवं योनि पूजा

उत्खनन में अत्यधिक संख्या में लिंग की आकृति के पत्थर मिले है जो मुख्यतः लाल पत्थर, चीनी मिट्टी, शेड स्टोन, सीपी एवं कार्नेलियन के बने हैं। इनमें कुछ का सिर गोल तथा कुछ का नुकीला है यह छोटी तथा बड़ी दोनों आकृतियों में मिले हैं। बड़ी आकृति का चार फुट तक का मिला है लेकिन विद्वानों का मानना है कि सम्भवतया यह धान कूटने का मूसल होगा। छोटी आकृति के लिंग देखने में पासे या ताबीज जैसे है ये आकार में इतने छोटे है कि इन्हें जेब में भी रखा जा सकता था। सैन्धववासी लिंग पूजा को स्वतंत्र तथा प्रतीक दोनों रूप में पूजते थे। किसी भी शुभ कार्य को करने से पहले सैन्धववासी सम्भवतया छोटे लिंग को अपनी जेब में रखते थे तथा इनको शुभ मानते थे।

हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों से पत्थर चीनी मिट्टी तथा सीप के अनेक छल्ले मिले हैं। जिनका आकार ½ इंच व्यास से लेकर 4 फीट व्यास तक हैं इनमें छोटे चक्र काचली मिट्टी शंख और कार्नेलियन के बने है। कई विद्वान इन्हें योनि मानते हैं जो मातृ देवी का प्रतीक माना जा सकता है। कुछ इतिहासकार इन्हें स्तम्भों के शीश का अंलकरण मानते हैं। यह भी माना जाता है कि सैन्धववासी परम पुरुष एवं मातृदेवी की उपासना करते थे तथा लिंग एवं योनि उन्हीं का प्रतीक रहे होंगे। इन्हें प्रजनन शक्ति का प्रतीक कहा गया है। प्राचीनकाल से ही रोम, मिश्र एवं यूनान में इस प्रकार की प्रचलन में रही है तो सम्भवतया लिंग एवं योनि पूजा सिन्धु धर्म की भी विशेषता रही हो।

2.3.6 जल पूजा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सैन्धववासी जल पूजा में भी विश्वास रखते थे। सम्भवतया विशेष पर्व, शुभ दिन में वह नदी, कुण्ड आदि में स्नान किया करते थे। मोहनजोदड़ों के विशाल स्नानागार को देखते हुये विद्वानों का मानना है कि सैन्धववासियों के जीवन में स्नानादि एवं जल का विशेष महत्त्व रहा होगा। यह स्नानगार प्राचीन कुण्डों के समान जल के स्थायी स्रोत से सम्बन्धित नहीं था। इसमें कुए से जल भरा जाता था। अन्य स्थानों से इतने विशाल स्नानागार के अवशेष न मिलना इसकी विशेषता और पवित्रता की ओर इशारा करते हैं। स्नानागार के पास में छोटे कमरे से प्राप्त राख इस बात की ओर इशारा करती हैं कि सम्भवतया विशाल स्नानकुण्ड में स्नान करके पुजारी लोग यज्ञ या हवन आदि करते थे। **व्हीलर महोदय** भी सिन्धुवासियों में जल एवं जलकुण्ड के महत्त्व को मानते हैं।

2.3.7 अग्नि पूजा

सैन्धववासी अग्नि पूजा में भी विश्वास करते थे। प्राप्त अवशेषों से अग्नि पूजा का पता चलता हैं। लोथल तथा कालीबंगा से प्राप्त राख के अवशेषों से इतिहासकारों का मानना है कि सैन्धववासी विशेष पर्व या अनुष्ठान पर यज्ञ आदि करते थे। कालीबंगा से एक चबूतरे पर खण्डित सात अग्निवेदिकाओं के साक्ष्य मिले है जिनमें राख भी है, इतिहासकारों का मानना है ये अग्निवेदिकाएं हवल एवं यज्ञ आदि में काम ली जाती थी। इन अग्निवेदिकाओं में कोयला और पके हुये मृद् पिण्ड पाये गये है एक मृदपिण्ड पर मानव द्वारा सम्भवतः बकरी की बलि दिये जाने के चित्र उत्कीर्ण है। दूसरी ओर देवता का चित्र बना है जिसके सिर पर ऋंगमुकुट हैं इस प्रकार के कुण्ड अमरी एवं लोथल से भी मिले हैं। इसी प्रकार मोहनजोदड़ों के विशाल स्नानागार के पास बने छोटे कक्ष में भी राख के अवशेष मिले हैं न केवल राख वरन् चावल के दाने भी प्राप्त हुये हैं और चावल मुख्यतः हवन, यज्ञ आदि में काम आने वाला धान है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सैन्धववासी अग्नि पूजा करते थे।

2.3.8 बलि प्रथा

सिन्धु केन्द्रों से कई मुद्राओं पर अंकित चित्र से उस काल में बलि प्रथा होने का संकेत मिलता है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा पर बकरे के समीप तेज धार वाले हथियार का अंकन तथा हड़प्पा के शव स्थानों में एक अस्थि पंजर के बगल में अल्प आयु की भेड़ या बकरी का पंजर मिला है जिसे कई स्थानों से काटा गया है उसकी कुछ पसलियां मृतक की हथेली पर रखी थी इन्हें देखने से पशु बलि का आभास होता है। इसके अलावा सिन्धु सभ्यता की सैकडो मुद्राओं पर विभिन्न पशु पक्षियों का अंकन उनके महत्त्व को सिद्ध करता है।

2.3.9 प्रतीक पूजा

उत्खनन में स्वस्तिक, चक्र एवं सींग का अंकन अधिक एवं विशेष रूप से मिलता है जिसके आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु निवासी प्रतीक रूप में भी पूजा करते थे।

2.3.10 अन्धविश्वास एवं जादू टोना

सिन्धु सभ्यता की खुदाई में अत्यधिक मात्रा में ताबीज की आकृति के अवशेष मिले हैं सर्वाधिक मात्रा में हड़प्पा और मोहनजोदड़ों से प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा, कालीबंगा में कब्रों में कंकाल के साथ दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं की प्राप्ति हुई है जैसे बर्तन, कपड़े आदि। सैन्धववासियों का मानना था कि व्यक्ति मृत्यु के बाद एक दूसरे जन्म में चला जाता है परिणामस्वरूप वहां पर भी उसे इन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती होगी और सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि इनकी कब्रों में कंकाल के साथ अन्य वस्तुओं की प्राप्ति हुई है।

2.3.11 योग साधना में विश्वास

सिन्धुवासी भारतीय योग परम्परा से परिचित थे ऐसा प्राप्त मुद्राओं को देखने से लगता है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त मुद्रा में पुरुष को ध्यान मुद्रा में अंकित किया है योगी के नेत्र अधखुले है तथा दृष्टि नासाग्र पर टिकी है। इन मुद्राओं से आभास होता है कि भारतीय योग परम्परा सिन्धुकालीन है।

2.3.12 पूजा पद्धति

सैन्धववासी धर्म में आस्था रखते थे। उनकी पूजा में जलपूजा, प्रतीक पूजा, अग्नि पूजा का महत्त्व था। दीवार में बने हुये आलों में कालिख इस बात की द्योतक है कि सैन्धववासी दीपक भी प्रज्जवलित करते थे। सैन्धववासी धार्मिक कार्य करने से पूर्व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पवित्र स्नान करते थे। मोहनजोदड़ों से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति एवं वाद्य यन्त्रों का अंकन भी देवोपासना की ओर इशारा करता है। लोथल, कालीबंगा से अग्निवेदिकाओं के साक्ष्य से सिन्धुवासियों के हवन एवं यज्ञ करने का पता चलता है।

2.3.13 मृतक संस्कार

सिन्धुवासी भी मृतक संस्कार को एक धार्मिक कृत्य मानते थे यद्यपि मृतक संस्कार सम्पन्न करने की विधि पर मतभेद है पर मार्शल महोदय ने सिन्धुवासियों के मृतकों की अन्तिम संस्कार की तीन विधियां बताई जो इस प्रकार हैं –

- **पूर्ण समाधि** : विभिन्न वस्तुओं के साथ शव को भूमि नें गाड़ देना।
- **आंशिक समाधि** : शव को पशु पक्षियों के भक्षणार्थ खुले में रख देना और शेष भाग को जमीन में गाड़ देना।
- **दाह कर्म** : शव जला कर भस्म को गाड़ देना। अधिकतर यही पद्धति प्रचलन में थी।

सिन्धुनिवासियों का धर्म केवल विश्वास एवं आस्था पर निर्भर था। यह कहना कठिन होगा की उनका धर्मदर्शन क्या था लेकिन प्राप्त अवशेषों से सिन्धुवासियों की धार्मिक विशेषताओं का पता चलता हैं।

2..4 सारांश

सिन्धु सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त विविध सामग्री द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि सभ्यता के धार्मिक विश्वास एवं जीवन की पृष्ठभूमि में एक दीर्घकालीन परम्परा थी। प्राप्त अवशेषों से निष्कर्ष निकलता है कि सैन्धववासी द्विदैव मूलक थे जिसमें मातृदेवी की उपासना एव परम पुरुष की उपासना थी। इसके अलावा जल पूजा, अग्निपूजा, बलि प्रथा, अन्धविश्वास, लिंग योनि की पूजा उनकी धार्मिक आस्था का माध्यम थी। अत्यधिक पशु पक्षियों का अंकन सैन्धववासियों का पशु पूजा में विश्वास को बताता है। वर्तमान समाज में शिव आराधना, अग्निपूजा, जल पूजा, वृक्ष पूजा, पशु पूजा सभी सैन्धवकाल की देन है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्रकार अनेकानेक प्रमाणों तथा उनके तथ्यनिरूपण द्वारा हमें सिन्धु घाटी के धार्मिक जीवन एवं विश्वास का रूप प्राप्त होता है। डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार – ''यह धर्म कुछ बाहरी अंगो के होते हुये भी मुख्यतः इसी भूमि की उपज था और हिन्दू धर्म का पूर्व रूप था जिसमें आज की कई विशेषताएं पायी जाती है जैसे शिव शक्ति की पूजा, नाग, पशु, वृक्ष और पाषाण की पूजा एवं लिंग और योनि की पूजा तथा योग।''

2.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1 – सैन्धववासी किसकी पूजा नहीं करते थे?

(अ) मातृदेवी (ब) नाग

(स) गणेश (स) वृक्ष

प्रश्न 2 – सिन्धु सभ्यता के निर्माता कौन थे बताइये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न 3 – सैन्धव धर्म की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करिये? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–3 : वैदिक धर्म

संरचना

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 वैदिक धर्म – भूमिका
3.3 वैदिक धर्म की जानकारी के स्रोत
3.4 वैदिक धर्म का स्वरूप
3.5 ऋग्वैदिककालीन धर्म एवं विशेषताएं
    3.5.1 प्राकृतिक शक्तियां एवं देवीकरण
    3.5.2 देवताओं का वर्गीकरण
    3.5.3 पूजा पद्धति
    3.5.4 प्रवृत्ति मार्गी
    3.5.5 एकेश्वरवाद
    3.5.6 बहुदेववाद
3.6 उत्तर वैदिककालीन धर्म एवं विशेषताएं
    3.6.1 प्रमुख दैवी–देवता
    3.6.2 यज्ञ विधि–विधान
    3.6.3 बलि का महत्त्व
    3.6.4 तप की प्रधानता
    3.6.5 अंधविश्वास और आडम्बर
    3.6.6 ऋण की मान्यता
    3.6.7 एकेश्वरवादी भावना का विकास
    3.6.8 पुनर्जन्म में विश्वास
    3.6.9 मोक्ष की अवधारणा
3.7 सारांश
3.8 बोध प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट करना जो आज भी हिन्दु समाज में किसी न किसी रूप में सुरक्षित है। प्रस्तुत पाठ में निम्न बिन्दुओं को स्पष्ट किया जायेगा –

- ऋग्वैदिककालीन धर्म की विशेषता
- उत्तरवैदिककालीन धर्म की विशेषताओं
- प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण
- ऋग्वैदिककाल से उत्तरवैदिककाल में धार्मिक कर्मकाण्डों की जटिलता को बताना।

3.1 प्रस्तावना

वैदिक धर्म की विस्तृत जानकारी मुख्यतः वैदिक साहित्य से मिलती है। भारतीय संस्कृति के धर्म विचार में वैदिक धर्म की अवधारणा ज्ञात धर्मों में सबसे प्राचीन हैं। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति में होने वाली अदभुत घटना में किसी देवता की कल्पना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करके उसकी उपासना प्रारम्भ कर दी। सम्पूर्ण प्रकृति उनके लिए देवमय थी। देवताओं की कृपा से उन्हें जीवन मिलता। वैदिक देव स्वरूपों को ही कालान्तर में दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों में मूर्त रूप दिया गया। इस दृष्टि से वैदिक देव–चिन्तन भारतीय धर्म और कला का प्राण है। वैदिककाल को दो भागों –ऋग्वैदिक काल और उत्तरवैदिक काल में विभाजित किया गया है। दोनों कालों में पृथक–पृथक विशेषता रही है। ऋग्वैदिककालीन धर्म सरल एवं साधारण था। आर्यों ने प्रकृति के देवताओं को तीन वर्गों में – पृथ्वी के देवता, आकाश के देवता अन्तरिक्ष के देवता में विभाजित करके उनकी पूजा प्रारम्भ कर दी वहीं उत्तर वैदिककाल तक आते–आते इन देवताओं के स्वरूप बदल गये। अब देवतओं को प्रसन्न करने में यज्ञों का महत्त्व बढ़ने लगा तथा यज्ञों में जटिलता, बलि, तप की प्रधानता होने के कारण पुरोहित वर्ग का महत्त्व बढ़ने लगा। यही नहीं अब लोगों के धार्मिक विचारों में भी परिवर्तन हुये वे आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष में विश्वास करने लगे तथा सभी देवताओं के ऊपर एक ब्रह्म शक्ति की कल्पना करने लगे। इसके अलावा अन्धविश्वासों में वृद्धि हुई। इस प्रकार वैदिक धर्म की समस्त विशेषताओं ने अन्य ध र्मों को संबल दिया।

3.2 वैदिक धर्म–भूमिका

सिन्धु सभ्यता के विनाश के पश्चात् भारत में एक नवीन सभ्यता का उदय एवं विकास हुआ जिसे वैदिक सभ्यता कहते हैं क्योकि इस काल की जानकारी के प्रमुख स्त्रोत वेद ही है। भारत संस्कृति के धर्म–विचार में वैदिक धर्म की अवधारणा ज्ञात धर्मों में सब से प्राचीन है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति में व्याप्त तत्त्वों को मानवीय न मानकर दैवीय माना और अपने धर्म की कल्पना की थी और इसी वैदिक धर्म का प्रकाशन जिन लोगों ने किया वे 'आर्य' थे। आर्य शब्द का अर्थ श्रेष्ठ या कुलीन व्यक्ति से हैं। वैदिक सभ्यता विश्व की समृद्धतम सभ्यता थी। पुरातत्त्व की दृष्टि से भारतीय धर्म का विकसित रूप सर्वप्रथम सिन्धु सभ्यता में दिखाई देता है, लेकिन साहित्यिक दृष्टि से इसका परिपक्व रूप सर्वप्रथम वैदिक सभ्यता में देखने को मिलता है।

आर्यो ने तीनों लोकों में व्याप्त प्राकृतिक शक्तियों को धर्म का केन्द्र माना इसलिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इन शक्तियों की कृपा के बिना सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं था। अतः भोगवादी आर्यों के लिये चाहे स्वरूप जीवन की कामना हो, पुत्र प्राप्ति की इच्छा हो, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना हो या राज्य का विस्तार करना हो, सभी कुछ प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर था और यही कारण था आर्यों ने इन्ही प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व रूप की कल्पना कर डाली और उसे धार्मिक स्वरूप प्रदान कर दिया। इस प्रकार अपने जीवन में मंगल के लिये देवों को अनुकूल करने का प्रयास वैदिक धर्म का मूलाधार है।

3.3 वैदिक धर्म की जानकारी के स्रोत

वैदिक धर्म की जानकारी के स्रोतों में सर्वप्रमुख है वेद। वेद शब्द 'विद' ज्ञाने धातु से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान' होता है। वेद चार है – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। इनमें सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुति करने वाले भक्ति गीत हैं यजुर्वेद यज्ञों से सम्बन्धित जानकारी देता है। सामवेद में उन मंत्रों का संकलन है जिनको गाकर देवताओं का आह्वान किया जाता है। अथर्ववेद में भूत प्रेम जादू टोने आदि के मंत्र है। वेद भारतीय धर्म और संस्कृति का शाश्वत और अक्षय कोष है। भारतीय धर्म का विकास क्रम वेदों में उल्लेखित है। इसके अलावा वैदिक साहित्य को चार भागों में बांटा गया है – संहिता, ब्राह्मण आवश्यक और उपनिषद। ये भी वैदिक धर्म के महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इस पूरे साहित्य को अध्ययन की सुविधा के लिये छः प्रमुख विद्याओं में बांटा गया जिन्हें वेदांग कहते हैं। इन समस्त साहित्यों से वैदिक धर्म की जानकारी मिलती है।

3.4 वैदिक धर्म का स्वरूप

भारतीय संस्कृति के धर्म विचार में वैदिक धर्म की अवधारणा ज्ञात धर्मों में सबसे प्राचीन है प्रकृति के प्रत्येक रूप में देवता की कल्पना करने के कारण आर्यों के धर्म में बहुत से देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई। वैदिक धर्म साधारण था। प्राकृतिक शक्तियों–सूर्य, चन्द्र, आकाश, बादल, वायु, अग्नि, नदी आदि सभी में आर्यों ने देवत्त्व की कल्पना की, परिणामस्वरूप देवत्त्व मानते हुये इन्हें पूजना प्रारम्भ कर दिया। जहां कहीं भी जीवित शक्ति का आभास होता आर्य उसकी उपासना करना प्रारम्भ कर देते थे। वैदिक धर्म बहुदेववादी था। वैदिककाल को दो भागों में विभाजित किया जाता है ऋग्वैदिककाल और उत्तरवैदिककाल। वैदिक धर्म को जानने के लिए ऋग्वैदिककालीन धर्म एवं उत्तर वैदिककालीन धर्म को जानना जरूरी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.5 ऋग्वैदिक धर्म एवं विशेषताएं

ऋग्वैदिककालीन धर्म की जानकारी मुख्यतः ऋग्वेद के प्रथम, द्वितीय एवं सातवें मण्डल से मिलती है। ऋग्वैदिककालीन धर्म सरल एवं सहज था। इस समय आर्यों का मानना था कि प्राकृतिक शक्तियों पर ही मनुष्य जीवन टिका है। अतः आर्यों ने प्राकृतिक शक्तियों को देवता माना उन्होंने अनुभव किया कि देवता ही एकमात्र ऐसे साधन है, जो प्रसन्न होने पर उपासक का उपर्युक्त मार्ग दर्शन कर सकते हैं। ऋग्वेदिक धर्म की निम्नलिखित विशेषताएं है –

3.5.1 प्राकृतिक शक्तियां एवं देवीकरण

आर्यों ने भौतिक सुख सुविधाओं का सुख भोगते हुये भौतिक एवं सांसारिक जीवन की उन्नति की कामना की परिणामस्वरूप प्रकृति में व्याप्त शक्ति में किसी पवित्र आत्मा को मानते हुये आर्यों ने उनका देवीकरण कर दिया इन शक्तियों को आर्य जीवन का संहारक एवं पालक मानने लगे और विभिन्न देवताओं को इन प्राकृतिक शक्तियों का प्रतीक बना कर उपासना करने लगे।

3.5.2 देवताओं का वर्गीकरण

वैदिक धर्म में आर्यों द्वारा जगत् की कल्पना तीन लोकों के रूप में करने के कारण देवताओं को उनके गुण एवं प्राकृतिक स्वरूप के अनुसार तीन भागों में विभाजित कर दिया गया –

1. **पृथ्वी के देवता** : अग्नि, सोम, बृहस्पति, सरस्वती, पृथ्वी, इन्द्रा, भारती, मातरिश्वा आदि।
2. **आकाशीय देवता** : वरूण, मित्र, विष्णु, अश्विन, सूर्य, सविता, ऊषा और आदित्य आदि।
3. **अन्तरिक्ष के देवता** : इन्द्र, रूद्र, मरूत् वायु, पर्जन्य, अदिति, यम, आदि।

इन सभी में भी इन्द्र, वरूण और अग्नि को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था। इन्द्र को शक्ति और वीरता का देवता मानते हुये पुरन्दर कहा गया है। जबकि अग्नि को देवताओं का मुख माना गया और ऐसा माना जाता है कि अग्नि, देवता और मनुष्य के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं। वरूण को ऋतुओं में संतुलन स्थापित करने वाला जल का अधिपति माना गया है।

ऋग्वेद में इन्द्र के लिये 250 सूत्र है यह सर्वाधिक प्रतापी देवता था। यह युद्ध एवं वर्षा का देवता माना जाता था तथा दुर्गों का भेद करने वाला भी कहलाता था इसी को बज्रबाहु भी कहते थे। अग्नि के लिये ऋग्वेद में 200 श्लोक मिलते हैं ऋग्वेद में कई स्थानों पर इसे देवताओं का मुख भी कहा गया है। आकाशीय देवताओं में वरूण देवता प्रमुख थे। वायु को वरूण का ृ वास कहा जाता था। वरूण के लिये 30 सूक्त है। इसे समुद्र का देवता, विश्व का नियामक, ऋतु परिवर्तन एवं दिन–रात का कर्ता–धर्ता, आकाश, पृथ्वी एवं सूर्य का निर्माता के रूप मे जाना जाता था।

इसके अलावा 'सोम' वनस्पति का देवता, 'उषा' प्रगति एवं उत्थान की देवी, 'यम' मृत्यु का देवता, 'अश्विन' चिकित्सा का देवता, 'पूषण' सूर्य से सम्बन्धित सड़क, पशुपालन एवं चरागाह का देवता, 'मित्र' शपथ एवं प्रतिज्ञा का देवता था।

3.5.3 पूजा पद्धति

ऋग्वैदिक आर्य अपने देवी देवताओं की पूजा प्रार्थना एवं स्तुति, यज्ञों द्वारा करते थे। आर्यों ने अन्तरिक्षीय एवं आकाशीय देवता तक अपनी प्रार्थना पहुंचाने के लिये 'यज्ञ' का आविष्कार किया इस प्रक्रिया में अग्नि को मनुष्य एवं देवता के सम्बन्ध का सूत्र मान कर यह विश्वास किया गया कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये अग्नि में वह सब सामग्री अन्न, घृत, दुग्ध, सोम जिसमें कोई मनुष्य प्रसन्न हो सकता था – अर्पित की जाए तो वह देवताओं तक पहुचेगी और वे प्रसन्न होकर मनुष्य पर कृपा करेंगे। अतः वैदिक धर्म को यज्ञ प्रधान धर्म बताया गया है। यज्ञ को सम्पादित करने चार ऋत्विक प्रमुख होता था – (सूक्तों द्वारा देव स्तुति करने वाला), अध्वर्यु (अग्नि कुण्ड में हवि प्रदान करने वाला), ब्रह्म (निर्विघ्न यज्ञ के सम्पादन का दायित्व लेने वाला) तथा उद्गाता (कामना सम्बन्धित मन्त्रों का सस्वर गायन करने वाला)।

3.5.4 प्रवृत्ति मार्गी

ऋग्वैदिक युग में आर्यों की अभिरूचि पारलौकिक सुख एवं मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा ऐहिक व भौतिक सुखों की ओर थी ऋग्वैद में ऐसे मंत्र विहित है जिनके माध्यम से भौतिक इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास दिखाई देता है। पूर्ववर्ती साहित्य में उल्लेखित मोक्ष, कर्म, आत्मसाक्षात्कार एवं सांसारिक पदार्थों की नीरसता जैसी कल्पना भी इस समय करीब अज्ञात सी है अतः प्रारम्भिक वैदिक धर्म का उल्लेखनीय पक्ष ज्ञात होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.5.5 एकेश्वरवाद

ऋग्वेद में एक कथन हैं – ''एको सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'' अर्थात ईश्वर एक है परन्तु उसका वर्णन कई रूपों में किया जाता है। ऋग्वेद के इस कथन से स्पष्ट होता है कि आर्य 'एक सत्' में विश्वास रखते थे – वह एकेश्वरवाद थी। ऋग्वेद में प्रार्थना, उपासना तथा भेंट द्वारा जिन देवताओं की स्तुति की गई है, वे सभी सत्य के अभिभावक है। इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यो ने एकेश्वरवाद की उपासना प्रारम्भ कर दी थी।

3.5.6 बहुदेववाद

ऋग्वैदिक आर्य एक सार्वभौमिक सत्ता में विश्वास रखते हुये भी बहुदेववादी हो गये थे। ऋग्वेद अनेक देवताओं का अस्तित्व मानता है। एकेश्वरवाद और बहुदेववाद के इस समन्वयी दृष्टिकोण के विषय में यास्क ने उदाहरण देते हुये कहा है कि व्यक्तिगत रूप से भिन्न होते हुए भी जैसे असंख्य मनुष्य राष्ट्र के रूप में एक है – वैसे ही विविध रूपों में प्रकट होने पर भी देवताओं में एक ही परमात्मा व्याप्त है।

इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यो ने प्राकृतिक शक्तियों का दैवीयकरण कर दिया तथा प्रकृति की प्रत्येक अद्भुत शक्ति यथा – बादल, वायु, बिजली, नदी, वर्षा आदि सभी में एक परमात्मा की कल्पना करके उनकी उपासना प्रारम्भ कर दी परिणामस्वरूप आर्यो के एक से अनेको देवता हो गये। बहुदेववादी होने के बावजूद आर्यो ने एकेश्वरवाद को भी माना।

3.6 उत्तरवैदिककालीन धर्म एवं विशेषताएं

ऋग्वैदिक काल के दूसरे चरण को उत्तरवैदिककाल कहते है। ऋग्वेद के पश्चात् वैदिक साहित्य सामवेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद की रचना हुई। ऋग्वैदिक कालीन समाज, राजनीति तथा आर्थिक जीवन में उत्तरवैदिक तक आते–आते काफी परिवर्तन आ गया है। इसी प्रकार ऋग्वैदिक धर्म और उत्तरवैदिक धर्म में काफी बदलाव दृष्टिगोचर होता है। जहां ऋग्वैदिककाल में बहुदेववाद का बोलबाला था अब उत्तरवैदिककाल में कई देवी–देवताओं का प्रादुर्भाव हो गया। जहां ऋग्वैदिककाल में आर्य प्रवृत्तिमार्गी थे। उत्तरवैदिककाल में आते–आते निवृत्ति मार्गी हो गये। इतना होते हुये भी उत्तरवैदिककालीन धर्म की कुछ विशेषताएं है जो इस प्रकार हैं –

3.6.1 प्रमुख देवी देवता

उत्तरवैदिककाल में भी यद्यपि बहुदेववाद की प्रतिष्ठा रही। आर्यों के देवता तो वही रहे, परन्तु अब उनके महत्त्व में परिवर्तन आ गया। उत्तरवैदिक काल में अब शिव, विष्णु, ब्रह्मा, पार्वती, दुर्गा, भैरव, गणेश आदि देवता महत्त्वपूर्ण हो गये। इसी प्रकार प्रजापति को भी ब्रह्म के रूप में यज्ञों का स्वामी माना जाने लगा। ऋग्वैदिक देवता – इन्द्र, वरूण, अग्नि तथा सूर्य का स्थान अब गौण हो गया। रूद्र का नाम शिव में परिवर्तित कर दिया गया और सम्भवतः यही से शैव–सम्प्रदाय का उदय माना जाता है। अब नाग, गन्धर्व, अप्सरा आदि को भी स्थान मिला। उत्तरवैदिक काल में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश त्रिदेव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे।

3.6.2 यज्ञ विधि–विधान

उत्तरवैदिक काल तक आते–आते यज्ञ विधि विधान भी अत्यन्त जटिल हो गया। इन यज्ञों को सम्पादित करने वाले पुरोहितों का भी महत्त्व बढ़ने लगा। अब एक यज्ञ को सम्पादित करने के लिये सोलह–सतरह पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। यज्ञ के लिये कहा जाता था कि ''विश्व की स्थिति के लिये यह नितान्त आवश्यक है।'' उत्तरवैदिक काल में एक निश्चित यज्ञ शैली का उदय हुआ। अब यज्ञ पूरे विधि–विधान से की जाने लगे। अब यज्ञ सम्पादित करने में चार समूहों में विभाजित बहुसंख्यक पुजारियों की आवश्यकता होती थी। अब दैनिक एवं सामयिक यज्ञ दोनों किये जाने लगे। सामयिक यज्ञों में तो कई यज्ञों में कई वर्षों लग जाते थे।

3.6.3 बलि का महत्त्व

जटिल यज्ञों के साथ इस काल में बलि का महत्त्व भी बढ़ गया। पुरोहित वर्ग हवन कुण्ड में दूध, घी, चावल तो चढ़ाते थे अब देवताओं को खुश करने के लिये सोम एवं पशु बलि भी दी जाने लगी। ऋग्वैदिक काल में आर्यों में देवताओं के प्रति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आत्मसमर्पण की भावना थी, वही इस युग के आर्यों में मंत्र शक्ति तथा यज्ञादि के द्वारा देवताओं को अपने वश में करने की भावना का विकास हुआ इसलिये यज्ञों में 'बलि' महत्त्वपूर्ण हो गई। यहां तक कई यज्ञ तो वर्षों चलते थे और उनमें बलि भी बड़ी दी जाती थी जैसे – अश्वमेघ यज्ञ में अश्व की बलि, पुरुष–मेघ यज्ञ में पुरुष की बलि।

3.6.4 तप की प्रधानता

उत्तरवैदिक काल तक आते–आते तप की प्रधानता भी बढ़ने लगी। अब धार्मिक विश्वासों में तप को भी विशेष स्थान प्राप्त था मगर तप के लिये किसी अनुष्ठान या आयोजन की आवश्यकता नहीं थी। इस समय तप और ब्रह्मचर्य को जीवन में अधिक महत्त्व दिया गया तथा संन्यास धारण करने का समर्थन किया गया और संन्यासी जीवन कठोर अनुशासन से युक्त होता था। इस प्रकार तप की महत्ता भी इस काल में बढ़ गई।

3.6.5 अन्धविश्वास और आड़म्बर

समय के साथ यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि में जैसे–जैसे जटिलता आती गई लोगों में अंधविश्वास की भावना भी बढ़ने लगी। अथर्ववेद में ऐसे मंत्रों का संग्रह है जिनसे भूत, प्रेतों से रक्षा तथा जादू टोने से उनका हल या निवारण सम्भव है। इनसे स्पष्ट है कि जादू टोना, वशीकरण, प्रेतात्माओं आदि मनगढन्त बातों में लोगों का विश्वास बढ़ने लगा और अन्धविश्वास लोगो के जीवन का अंग बन गया।

3.6.6 ऋण की मान्यता

उत्तरवैदिक काल के धार्मिक जीवन में एक अवधारणा और जुड गई कि व्यक्ति का जीवन संचालित करने में माता–पिता, गुरू एवं देव का महत्त्व होता है और इनका ऋण व्यक्ति पर रहता है जब तक ऋण नहीं उतारा जाता तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती अतः देवताओं की पूजा से देव ऋण, वेदों का अध्ययन करने से गुरु ऋण तथा पुत्र उत्पन्न करके वंश वृद्धि करके माता–पिता का ऋण पूरा कर सकते हैं इसलिये इस काल में यह माना जाने लगा कि प्रकृति के अन्य जीवधारियों के प्रति भी वह ऋणी होता है अतः जीव दया का पालन में व्यक्ति आने लगा एवं ऋण को महत्त्व देने लगा।

3.6.7 एकेश्वरवादी भावना का विकास

यद्यपि ऋग्वैदिक काल के समान ही इस काल में भी अनेक देवी–देवताओं की उपासना की जाती थी लेकिन अब आर्य एक सर्वोच्च शक्ति में विश्वास करने लगे जो सभी में श्रेष्ठ एवं नियन्त्रक है। अब प्रजापति को अखिल ब्रह्माण्ड का निर्माता ओर रचियता माना जाने लगा। उसे एक सर्वोच्च देवता के रूप स्वीकार किया गया। इसी समय ब्रह्म की अवधारणा भी विकसित हो रही थी और ऋग्वैदिक काल के समान अनेक देवों में भी एक परम ब्रह्म की उपासना बलवती होती जा रही थी।

3.6.8 पुनर्जन्म में विश्वास

इस काल में आर्यों की मान्यता होने लगी कि आत्मा अजर और अमर है वह कभी नहीं मरती बल्कि मृत्यु होने पर मृत शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में प्रवेश करती है और जब मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो वह इस सांसारिक आवागमन से दूर होकर परब्रह्म में लीन हो जाती है। इस प्रकार उत्तरवैदिक कालीन आर्यों की मान्यता थी।

3.6.9 मोक्ष की अवधारणा

अब आर्यों ने जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष प्राप्त करना स्वीकार कर लिया था। मोक्ष का अभिप्राय जीव के जन्म–मरण से मुक्ति पाना था और उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि बिना आत्म तत्त्व को पहचाने मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। मनुष्य जैसे कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है परिणामस्वरूप उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती वरन् जन्म–मरण के सांसारिक बन्धन में बंधा रहता है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्मों की शुद्धिकरण आवश्यक बतायी।

इस प्रकार उत्तरवैदिक काल में बहुदेव होते हुये भी उनके महत्त्व में परिवर्तन आ गया तथा एकेश्वरवादी भावना जोर पकड़ने लगी। यज्ञीय कर्मकाण्ड और जटिल हो गये। आत्मा के पुनर्जन्म की भावना प्रबल हो गई। लोगों ने ऋणों को महत्त्व देते हुये उसके अनुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। कर्मकाण्ड बढ़ने से अन्धविश्वासों में भी वृद्धि हुई तथा पुरोहितों का महत्त्व बढ़ने लगा। इस तरह उत्तरवैदिक काल धर्म का स्वरूप बहुत कुछ आज भी देखने को मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.7 सारांश

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल के सरल धर्म ने उत्तरवैदिक काल में कुछ परिवर्तनों के साथ जटिलता धारण कर ली। धर्म मूलतः बहुदेववादी ही रहा। मगर अब सभी देवताओं के ऊपर एक सर्वशक्तिमान देवता की कल्पना की जाने लगी। जहां ऋग्वैदिक काल में व्यक्ति भौतिक सुखों की कल्पना करके प्रवृत्तिमार्गी था वही उत्तरवैदिक काल में आध्यात्मिकता एवं दर्शन की वृद्धि ने उसे निवृत्ति मार्गी बना दिया। अब यज्ञीय जटिलता के कारण बलि, पुरोहित एवं तप का महत्त्व बढ़ने लगा या संक्षिप्त में कह सकते है व्यक्ति ने आध्यात्मिक चिन्तन के साथ आगे बढ़ना प्रारम्भ कर दिया।

3.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1 – निम्न में से कौनसा ऋग्वेद कालीन अन्तरिक्ष देवता नहीं है?

(अ) इन्द्र (ब) रूद्र

(स) वायु (द) अग्नि

प्रश्न 2 – वैदिक धर्म को जानने के प्रमुख स्त्रोतों का उल्लेख करिये? (30 शब्द)

प्रश्न – 3 वैदिक कालीन धार्मिक जीवन की विवेचना किजिये? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-4 : जैन धर्म

संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 जैन धर्म एवं पार्श्वनाथ
4.3 महावीर स्वामी
4.4 जैन धर्म की शिक्षाएं एवं विशेषताएं
- 4.4.1 निवृत्ति मार्ग
- 4.4.2 पांच महाव्रत
- 4.4.3 त्रिरत्न
- 4.4.4 जीव–अजीव
- 4.4.5 आश्रव
- 4.4.6 बन्धन
- 4.4.7 संवर
- 4.4.8 निर्जरा
- 4.4.9 मोक्ष
- 4.4.10 कर्मवाद एवं पूनर्जन्म
- 4.4.11 अनेकान्तवाद
- 4.4.12 सात शीलव्रत
- 4.4.13 पांच समिति
- 4.4.14 तपस्या

4.5 जैन संगीतियां एवं जैन धर्म का विभाजन
4.6 भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की देन
- 4.6.1 अहिंसा परामोधर्मः
- 4.6.2 सांस्कृतिक योगदान
- 4.6.3 दर्शन के क्षेत्र में योगदान
- 4.6.4 कला के क्षेत्र में योगदान

4.7 सारांश
4.8 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.0 प्रस्तावना

जैन धर्म प्राचीन भारत का धर्म है जो वर्तमान में भी अपनी वही पहचान लिये हुये है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जैन धर्म अस्तित्व में आया लेकिन भगवान महावीर जैन धर्म के 24वें तीर्थकर थे। इससे पूर्व 23 तीर्थकर थे जिसका अभिप्राय जैन धर्म इससे भी प्राचीन रहा है। भगवान महावीर ने जैन धर्म के प्रचार प्रसार के लिये महत्त्वपूर्ण शिक्षाएं दी परिणामस्वरूप आज भी जैन धर्म में ये सिद्धान्त सुरक्षित है। भगवान महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम सिद्धान्त में ब्रह्मचर्य जोड़कर पंच महाव्रत का सन्देश दिया। इसके आलावा रत्न त्रयी के माध्यम से व्यक्ति अपने चरित्र को मजबूत बना सकता है। जैन धर्मानुसार सात अवस्थाओं को पार कर मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है ये सात अवस्थाएं हैं–जीव-अजीव, आस्त्रव, बन्धन, संवर, निर्जरा, मोक्ष। संसार में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मो से बंधा रहता है। जैन धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता अनेकान्तवाद है। जैन

धर्मानुसार प्रत्येक वस्तु के एक से अधिक रूप होते है यही अनेकान्तवाद है। जैन धर्म में श्रमणों के लिए कठोर तपस्या का प्रावधान है। जैन धर्मानुसार शरीर को कष्ट पहुंचाकर व्यक्ति संचित कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार जैन धर्म में गृहस्थों के लिये भी सात शील, पांच समिति का पालन करना आवश्यक बताया।

महावीर के पश्चात् जैन धर्म में आचार्यों में आचरण नियमों को लेकर वैचारिक मतभेद हो गये परिणामस्वरूप आगे चलकर जैन संघ दो भागों श्वेताम्बर एवं दिगम्बर में विभाजित हो गया। कालान्तर में इन दो शाखाओं की भी अनेक उपशाखाएं बन गई। लेकिन आज भी भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की कला, साहित्य, दर्शन आदि के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन रही है और आज जैन धर्म भारत में ही नहीं वरन् विश्व में अपनी पहचान लिये हैं।

4.1 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारत के छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारत में प्रचलित धर्मों में से जैन धर्म की विशेषताओं को बताना है। प्रस्तुत पाठ में मुख्यतः जैन धर्म की प्राचीनता महात्मा पार्श्वनाथ एवं उनकी शिक्षाएं तथा भगवान महावीर एवं उनके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का वर्णन किया जायेगा। निम्न बिन्दुओं पर विशेष विस्तार पूर्वक अध्ययन किया जायेगा।

- पांच महाव्रत, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, त्रिरत्न, जीव–अजीव, मोक्ष, कर्मवाद एवं पुनर्जन्म आदि।
- भगवान महावीर के बाद जैन संघ में आये वैचारिक मतभेद को बताते हुए संघ विभाजन का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जायेगा।
- दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय का वर्णन किया जायेगा।
- अन्त में जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन विशेषतः धार्मिक, साहित्यिक, दर्शन, कला आदि के क्षेत्र में वर्णित की जायेगी।

4.2 जैन धर्म एवं पार्श्वनाथ

छठी शताब्दी ई.पू. तक आते-आते ब्राह्मण धर्म में कट्टरता, पुरोहितवाद, जटिलता तथा व्ययशीलता जैसे दुर्गुण उत्पन्न हो चुके थे परिणामस्वरूप जनता में धार्मिक असन्तोष उत्पन्न होने लगा। अतः ऐसे समय में समानता पर बल देने वाले सहज एवं सरल धर्म की आवश्यकता थी और इसी समय भारत में जैन एवं बौद्ध धर्मों के उदय की पृष्ठभूमि तैयार हुई। यद्यपि इस समय कई धर्मों का पदार्पण हुआ लेकिन जेन धर्म अत्यधिक प्रतिष्ठित हुये। 'जैन' शब्द संस्कृत के 'जिन्' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है जीतना अर्थात् जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ले। विविध भौतिक वासनाओं को नियंत्रित कर आध्यात्मिक विजय प्राप्त करे वही 'जैन' है। जैन धर्म के प्रवर्तकों को तीर्थंकर कहा गया है। तीर्थ का अभिप्राय भौतिक संसार से मुक्ति का मार्ग एवं 'कर' से तात्पर्य 'करने वाला' अर्थात् सांसारिक जीवन के कर्मफलों से मुक्त होने का उपाय बताने वाला तीर्थंकर कहलाए। जैन धर्म में 24 तीर्थंकर हुये है आदि तीर्थंकर ऋषभदेव है। जैन धर्म के प्रचार का कारण तत्कालीन आचार्य महावीर का प्रयास था लेकिन मूलतः जैन धर्म का प्रवर्तन महावीर के जन्म के कई शताब्दी पूर्व हो चुका था। वैसे तो जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इस परम्परा के अनुसार महावीर के जन्म तक 24 तीर्थंकरों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। महावीर 24वें तीर्थंकर थे इनसे पहले के 23 तीर्थंकरों में केवल 23वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन के बारे में जानकारी मिलती है अन्य 22 तीर्थंकरों की नहीं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे। यद्यपि विष्णु पुराण एवं भागवत पुराण में ऋषभदेव की कथा का उल्लेख है लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक एवं संस्थापक माना जाता है। पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से 250 वर्ष पूर्व आठवीं शताब्दी ई.पू. में वाराणसी नगर में अश्वपति राजा की वामा नामक रानी से हुआ था। 30 वर्ष की आयु में उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने राजपाट छोड़ दिया। इन्होंने 83 दिन तक कठोर तपस्या की और उन्हें सत्य ज्ञान प्राप्त हुआ परम्परा से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ की पत्नि और माता सबसे पहले श्रमण परम्परा में दीक्षित हुये। लगभग 70 वर्ष तक धर्म का प्रचार करते रहे और 100 वर्ष की आयु में इन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। महात्मा पार्श्वनाथ की शिक्षाएं चातुर्मास कहलाती है अर्थात अहिंसा, सत्य बोलना तथा सत्य व्यवहार करना, अस्तेय या चोरी न करना और अपरिग्रह व्रत का पालन करना। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने इन चार सिद्धान्तों को जैन धर्म का महत्वपूर्ण अंग बनाया।

4.3 महावीर स्वामी

'वर्द्धमान महावीर' का जन्म 599 ई.पू. (कुछ के अनुसार 540 ई.पू.) में वज्जि संघ के प्रधान सिद्धार्थ के यहां हुआ। ये ज्ञातृक कुल के थे इनके बचपन का नाम वर्धमान था। इनकी माता 'त्रिशला', लिच्छिवी क्षत्रियों के प्रधान राजा 'चेटक' की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बहिन थी। वर्धमान का लालन–पालन राजकुमारों की तरह हुआ। जब ये 30 वर्ष के थे तब इनके पिता का देहान्त हो गया परिणामस्वरूप इनकी निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति मजबूत हो गयी और इन्होंने अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर संन्यास धारण कर लिया।

12 वर्ष की कठोर तपस्या के बाद तेरहवें वर्ष उज्जुवालिया (ऋजुपालिका) नदी के तट पर स्थित जम्भियग्राम (जृम्भिका) नामक स्थान पर कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ तभी उन्हें 'केवलिन' की उपाधि मिली। अपनी इन्द्रियों को जीत लेने के कारण वे 'जिन' कहलाये। तपस्या के समय अपूर्व साहस दिखलाने के कारण वे 'महावीर' के नाम से पुकारे जाने लगे तथा समस्त सांसारिक बन्धनों को तोडने के कारण निग्रन्थ कहलाये।

सत्य का ज्ञान हो जाने के बाद महावीर ने जैन धर्म के प्रचार–प्रसार का कार्य किया जिसमें मगध, काशी, कोशल, आदि के राजाओं ने इनका पूरा सहयोग किया। इनकी सत्यवाणी तथा जीवन के सरल मार्ग से प्रभावित होकर सैकड़ों लोग इनके अनुयायी बनने लगे। अन्त में 527 ई.पू. (कुछ के अनुसार 467 ई.पू.) के आस–पास 72 वर्ष की आयु में पावापुरी (पटना) में महावीर स्वामी को मोक्ष प्राप्त हुआ।

4.4 जैन धर्म की शिक्षाएं एवं विशेषताएँ

जैन धर्म के सिद्धान्त एवं शिक्षाएं, प्राचीनतम जैन आगम साहित्य में संग्रहीत है। यह आगम साहित्य तीर्थंकरों के कैवल्यज्ञान एवं स्ववचनों पर आधारित माना जाता है। महावीर स्वामी ने पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों में 'ब्रह्मचर्य' जोड़कर पांच व्रत को प्राणीमात्र के लिये बताया। इस तरह पार्श्वनाथ के चतुर्याम सिद्धान्त में महावीर स्वामी ने 'ब्रह्मचर्य' और जोड़ दिया। महावीर स्वामी ने धर्म प्रचार में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उसकी विशेषताएं हैं –

4.4.1 निवृत्ति मार्ग

जैन धर्म के अनुसार संसार अनेक वासनाओं, कामनाओं से भरा है जिसका अन्त दुःख से होता है। अतः महावीर स्वामी ने इस भौतिकवादी संसार का परित्याग कर इन्द्रिय निग्रह करके भिक्षु धर्म अपना कर कठोर तपस्या के मार्ग पर चलने की शिक्षा दी। जैन धर्म के अनुसार वास्तविक सुख संसार त्याग में निहित है। इसलिये जैन धर्म में कहा गया है–''सम्पत्ति, परिवार, समाज आदि का त्याग कर भिक्षु बनों एवं परिभ्रमण करते रहो।'' इस प्रकार जैन धर्म निवृत्ति मार्ग पर बल देता है।

4.4.2 पांच महाव्रत

चरित्र निर्माण के लिये जैन धर्म ने पांच महाव्रत का पालन करने को कहा ये पांच महाव्रत है–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य।

1. **अहिंसा** : किसी भी निरपराध प्राणी को दण्डित या पीड़ित न करना ही अहिंसा हैं जैन धर्म में अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जैन परम्परानुसार चलने या श्वास लेने से छोटे से छोटे जीव की हत्या भी हिंसा है। जैन धर्म के अनुसार केवल शारीरिक कष्ट देना ही हिंसा नहीं बल्कि मन से भी किसी को तकलीफ देना हिंसा है अतः जैन धर्मानुसार मन, वचन और कर्म से हमें अहिंसा व्रत का पालन करना चाहिए।
2. **सत्य** : असत्य वाचन का पूर्ण परित्याग एवं मधुर बोलना ही सत्य है। 'सुनृत' अर्थात् सर्वहिताय एवं प्रिय सत्य बोलना चाहिये। जैन धर्मानुसार बोलते समय क्रोध, अभिमान और लोभ को छोड़ देना चाहिए।
3. **अस्तेय** : अस्तेय का अर्थ है बिना स्वामी की अनुमति के उसकी वस्तु को छूना अतः चोरी भी हिंसा है। दूसरे व्यक्ति की वस्तु का हरण नहीं करना चाहिये यहां तक कि ऐसी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये यही अस्तेय है।
4. **अपरिग्रह** : सांसारिक वस्तुओं या व्यक्तियों अथवा रसों में आसक्त न रहना ही अपरिग्रह है। अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं को छोड़कर धन का अधिक संग्रह नहीं करना या आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना ही अपरिग्रह है।
5. **ब्रह्मचर्य** : पार्श्वनाथ की दी चार शिक्षाओं में महावीर स्वमी ने पांचवा व्रत ब्रह्मचर्य व्रत और जोड़ दिया जिसके अनुसार समस्त वासनाओं का परित्याग, इन्द्रिय सुख ही नहीं समस्त प्रकार के 'काम' का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। सभी प्रकार की कामनाओं – मानसिक, शारीरिक, सूक्ष्म, स्थूल, ऐड़िक, पारलौकिक आदि का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.4.3 त्रिरत्न

भगवान महावीर ने कैवल्य प्राप्ति (मोक्ष प्राप्ति) के तीन साधन बताये जिन्हें जैन धर्म में त्रिरत्न कहा गया है। इस प्रकार हैं–

1. **सम्यक् ज्ञान :** सत्य और पूर्ण ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। जैन धर्म के अनुसार ज्ञान पांच प्रकार – मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःज्ञान एवं केवल ज्ञान, का होता है।
2. **सम्यक् दर्शन :** सम्यक् दर्शन का अर्थ है सही विश्वास या श्रद्धा। तीर्थकरों और जैन शास्त्रों में निहित ज्ञान के प्रति संशय रहित पूर्ण आस्था एवं श्रद्धा ही सम्यक् दर्शन है।
3. **सम्यक् चरित्र :** सम्यक् चरित्र का अर्थ है सही काम अथवा आचरण। बाह्य जगत् के विषयों के प्रति समान सुख दुख पूर्वक उदासीनता ही सम्यक् आचरण या चरित्र है।

4.4.4 जीव अजीव

जैन परम्परानुसार यह संसार जीव एवं अजीव तत्त्वों से मिलकर बना है। इसमें नित्य ही परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु इसका आदि और अन्त नहीं है। यह अनादि भी है और अनन्त भी। सभी जीव चेतन है। जैन धर्म में जीव दो प्रकार के माने गये है – मुक्त और बाह्य। मुक्त जीव वे है जिन्होंने मुक्ति पा ली है और बद्ध जीव वे है जो अब भी कर्म के माध्यम से संसार से बंधे हुये है।

अजीव चेतन या जीवन से रहित होता है। यह जड़ द्रव्यों से मिलकर बना हुआ है। जैन धर्म में अजीव या जड़ तत्त्व को पुद्गल कहा गया है। पुद्गल का अर्थ है जिसका संयोग एवं विभोग हो सके। इस प्रकार जीव–अजीव का पारस्परिक सम्बन्ध शरीर और आत्मा का पारस्परिक सम्बन्ध है।

4.4.5 आस्त्रव–जीव जो कर्म करता है उनका प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है। अच्छे कर्मो का उच्च प्रभाव होता है और बुरे कर्मो का निम्न। कर्मों के प्रभाव के ढंग को आस्त्रव कहते हैं।

4.4.6 बन्धन– अपने भले बुरे कर्मों के फलस्वरूप जीव सांसारिक बन्धन में फंसा हुआ रहता है और कर्मों के फल को भोगने के लिये वह बारम्बार अलग–अलग योनियों में जन्म लेता है यही बन्धन है।

4.4.7 संवर– संवर उन प्रयत्नों को कहते हैं जो इस हेतु किये जाते हैं कि जीव पर कर्मो का प्रभाव न पड़े। मुख्य रूप से ये प्रयत्न सदाचार, ब्रह्मचर्य, संयम, उपवास तपस्या तथा व्रत आदि है।

4.4.8 निर्जरा– निर्जरा का अर्थ है 'जला कर दूर करना' जीव के ऊपर पूर्व जन्मों के कर्मों का प्रभाव अर्थात् फल प्रभावी होते हैं। कठोर तपस्या द्वारा इन प्रभावों को जलाकर दूर करने की क्रिया निर्जरा कहलाती है।

4.4.9 मोक्ष– मोक्ष उस दशा को कहते हैं जब जीव कर्मो के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्ति पा जाता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। मोक्ष की प्राप्ति कठोर तपश्चर्या द्वारा पिछले जन्मों के कर्म फल से मुक्ति पाकर इस जन्म से कर्म–फल संचय न करके ही सम्भव है। महावीर स्वामी ने मोक्ष प्राप्ति के लिये त्रिरत्न का प्रतिपादन किया तथा सम्यक् जीवन व्यतीत करने के लिये पंच महाव्रत का उपदेश दिया।

4.4.10 कर्मवाद एवं पुनर्जन्म– जैन धर्म आवागमन या पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। अपने कर्मों के अनुसार जीव उच्च या नीच योनि में जन्म लेता रहता है। जैन धर्म के अनुसार संसार में रहने वाला प्रत्येक मनुष्य आठ प्रकार के कर्मों में आबद्ध रहता है और यही कर्म उसके पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। (1) ज्ञानावरणीय कर्म (2) दर्शनावरणीय कर्म (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयु कर्म (6) नाम कर्म (7) गोत्र कर्म (8) अन्तराय कर्म

इन्ही कर्मो के बन्धन को जैन धर्म में पुनर्जन्म का कारण माना है इसलिये स्पष्ट रूप से कहा गया है कि किये गये कर्मों व फल भोगे बिना जीव को जीवन–मृत्यु के बन्धन से मुक्ति नहीं मिलती। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्म से विमुख होना अनिवार्य है।

4.4.11 अनेकान्तवाद– जैन धर्म के अनुसार किसी भी वस्तु के अनेक स्वरूप होते हैं और उसके प्रत्येक स्वरूप को केवल ज्ञानी अथवा जीवन मुक्त या अर्हत ही जान सकते है। ज्ञान की यह विभिन्नता सात प्रकार की हो सकती है।

- स्यात अस्ति (शायद है)
- स्यात नास्ति (शायद नहीं है)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

* स्यात अस्ति नास्ति (शायद है या नहीं है)
* स्यात अव्यक्तत्वम् (शायद है या नहीं है)
* स्यात अस्ति च अव्यक्तत्वम् (शायद है किन्तु कहा नहीं जा सकता)
* स्यात नास्ति च अव्यक्तत्वम् (शायद नही है और कहा भी नहीं जा सकता)
* स्यात अस्ति च नास्ति अव्यक्तत्वम् (शायद है नहीं और कहा भी नहीं जा सकता)

इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए जैन ग्रन्थों में अनेक अन्धों एवं हाथी का दृष्टान्त दिया गया है। इसके अनुसार प्रत्येक अन्धा हाथी के अलग–अलग अंग को छूकर उसकी आकृति का बखान करता है अर्थात् कोई कहता है यह पांव है तो कोई पूछ। यद्यपि ये सभी अलग–अलग तर्क देते है लेकिन यह हाथी के शरीर के विभिन्न अंग ही होते है। इसी प्रकार जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं उनको जानकर निष्कर्ष निकालना अनेकान्तवाद है।

4.4.12 सात शील व्रत – जैन धर्म के अनुसार पांच व्रतों के साथ–साथ सात शील व्रतों का पालन करना जरूरी है। ये सात शील विशेष रूप से गृहस्थ अनुयायियों के लिये बने हैं ये सात शील व्रत हैं – दिग्व्रत, दण्डव्रत, सामयिक, पोषधोपवास, उपभोग–प्रतिभोग परिणाम, अतिथि संविभाग।

4.4.13 पांच समिति – सात शील के समान ही पांच समिति का भी गृहस्थों द्वारा निवर्हन करना अनिवार्य बताया है। जैन धर्मानुसार मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में पांच बातों की सतर्कता बरतनी चाहिये – ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेप समिति एवं उत्सर्ग समिति।

4.4.14 तपस्या – जैन धर्म में सम्यक् आचरण की पालना के पश्चात् भी संचित कर्मों के फलों के नाश के बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं हैं। इसके लिये तप के मार्ग का निर्देश दिया गया। उत्तराध्ययन सूत्र में दो प्रकार के तप बताये हैं – बाह्य एवं अभ्यन्तर। बाह्य तपस्या का तात्पर्य व्रत, उपवास, भिक्षा करन, आत्मचिन्तन, शरीर त्याग आदि है। आन्तरिक तप में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत, स्वाध्याय, ध्यान आदि है। महावीर स्वामी ने तप के आन्तरिक रूप को अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार जैन धर्म में अनेक सिद्धान्तों पर चलकर व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। महावीर स्वामी ने दार्शनिक, आध्यात्मिक, धार्मिक सभी क्षेत्र में उपदेश दिये यही नहीं उनके अन्य दृष्टिकोण भी मानव हितैषी रहे है जैसे – नारी स्वातन्त्रय, नग्नता, आचार, तत्त्व या आचरण सम्बन्धी पवित्रता या चरित्रता।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1 – पांच महाव्रतों का विवेचन किजिए ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

4.5 जैन संगीतियां एवं जैन धर्म का विभाजन

महावीर पश्चात् उनके शिष्यों में इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा और जम्बू स्वामी ने कैवल्य प्राप्त कर धर्म का प्रसार किया। इसके बाद के पांच शिष्यों को जिनमें अन्तिम भद्रबाहु थे 'श्रुतकेवली' कहा जाता है क्योंकि उन्हें जैन आगमों का तो पूर्ण ज्ञान था लेकिन वे कैवल्य पद प्राप्त नहीं कर पाये। महावीर उपदेशों को श्रुति परम्परा द्वारा सुरक्षित रखा गया और समय–समय पर श्रमणों ने कई समागम किये जिनमें महावीर के उपदेशों को प्रामाणिक रूप में स्मरण किया गया।

जैन श्रमणों की पहली संगीति महावीर के निर्वाण के 200 वर्ष बाद स्थूलभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में आयोजित की गई। इस संगीति का मुख्य उद्देश्य जैन आगमों का प्रामाणिक संकलन और शुद्धिकरण था।

इस संगीति में द्वादश अंगों की रचना हुई, जो जैन धर्म सिद्धान्तों का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है।

द्वितीय जैन संगीति का आयोजन गुजरात के वलभिनगर में हुआ, जिसके सभापति देवर्षि क्षमाक्षमण थे। इस संगीति का मुख्य उद्देश्य प्राचीन लुप्त जैन ग्रन्थों का संग्रह तथा नवीन जैन ग्रन्थों की रचना करना।

12 ईसा पूर्व चौथी शती के अन्तिम भाग में बारह वर्ष का भयंकर अकाल पड़ा ऐसे में आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्त्व में बहुत बड़ा समूह मैसूर चला गया और जैन आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व प्रथम संगीति का आयोजन किया। बारह वर्ष के पश्चात् अकाल की समाप्ति पर जब अपने अनुयायियों के साथ भद्रबाहु मैसूर लौटे तब तक मगध के जैन समूह में महाव्रत पालन की दृष्टि से बहुत अन्तर पाया ऐसे में भद्रबाहु आदि ने मगध में निर्णीत द्वादश अंगों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार इन दो जैन समूहों में गहरा वैचारिक मतभेद उत्पन्न हो गया। मगध के जैन समूह ने श्वेत वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया तथा पंचशील पालन में शिथिल हो गये लेकिन भद्रबाहु एवं उनके शिष्य अभी भी नग्न रहते और महावीर के सिद्धान्तों का कठोरता से पालन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करते। इस प्रकार जैन संघ दो भागों में विभाजित हो गया – दिगम्बर एवं श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी भगवान महावीर के उपदेश, सिद्धान्तों का कट्टरता से पालन करते थे तथा वस्त्र वस्त्र त्याग रखा था जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों ने मूल उपदेशों में थोड़ी शिथिलता अपनाते हुये उनमें कुछ फेरबदल कर दिया। छठी शताब्दी के उपरान्त इन दोनो में भी वैचारिक मतभेद प्रारम्भ हो गया। कालान्तर में इन दोनो शाखाओं के अन्तर्गत भी तेरापन्थी, मन्दिर मार्गी, स्थानकवासी आदि अन्य उपशाखाओं का विकास हुआ और जैन धर्म अनेक मतमतान्तरों में विभाजित हो गया।

प्रश्न 1 – संक्षिप्त में कर्मवाद का विवेचन किजिए ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

4.6 भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की देन

जैन धर्म की शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों ने भारत में एक अलग छवि बनाई। जितना प्रचार–प्रसार भारत में हुआ उतना अन्य देशों में जैन धर्म का प्रचार–प्रसार नहीं हो सका लेकिन फिर भी इसका भारतीय इतिहास को अनुपम देन रही है जो इस प्रकार हैं –

4.6.1 अहिंसा परमोधर्मः – भारत में अहिंसा को परम धर्म बनाने का श्रेय प्रायः बौद्धों को दिया जाता है लेकिन इसके वास्तविक जन्मदाता जैन है। जैन धर्म ने जनसाधारण के दुख निवारण के कार्य जैसे विद्यालय, चैत्य, धर्मशालाएं आदि धार्मिक भावना से किये जिसका समाज पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

4.6.2 सांस्कृतिक योगदान – जैन अनुयायियों ने जैन धर्म प्रचार हेतु विभिन्न भाषाओं में साहित्य का सृजन किया। प्राकृत अपभ्रंश के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं में कन्नड़, तमिल, तेलगु, हिन्दी, गुजराती एवं मराठी भाषाओं की उन्नति हुई। जैन आचार्यो ने साहित्य में अपना पूर्ण योगदान दिया परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य समृद्ध है। प्रारम्भिक रचनाएं प्राकृत में लिखी गई। 12 अंग, 11 उपांग, 10 पैन्न, 4 मूल सूत्र, 1 नन्दी सुत्त, 7 देर्वदसुत्त प्रमुख आगम साहित्य है।

4.6.3 दर्शन के क्षेत्र में योगदान – दर्शन के क्षेत्र में जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान 'अनेकान्तवाद' एवं स्यादवाद का सिद्धान्त है। इसी प्रकार कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के विशिष्ट सिद्धान्त जैन धर्म की देन रही हैं जैन दर्शन के अनेकान्तवाद से भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता और उदारता की प्रवृत्ति परिपुष्ट हुई है।

4.6.4 कला के क्षेत्र में योगदान – विभिन्न ललित कलाओं के क्षेत्र में जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को अनुठे उपहार दिये है। जैन धर्मावलम्बियों ने अपने तीर्थकरों की स्मृति में स्तूपों, प्रस्तर वेदिकाओं, तोरण द्वारों, जैन मन्दिरों का निर्माण किया जिससे वास्तुकला एवं स्थापत्य कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। आबू दिलवाड़ा जैन मन्दिर, गिरनार, पावापुरी के मन्दिर उड़ीसा का हाथी गुम्फा मन्दिर आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

4.7 सारांश

जैन धर्म ने कृकि समन्वय और एकता की भावना का विकास किया। विचार–समन्वय के लिय अनेकान्त दर्शन दिया। आचार–समन्वय की दिशा में मुनि–धर्म और गृहस्थ धर्म की व्यवस्था की। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गो का समन्वय किया गया। जैन धर्म ने सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तीयवाद, भाषावाद आदि सभी मतभेदों को त्यागकर राष्ट्रहित की कामना रखी। प्राचीन साहित्य के संरक्षक के रूप में भी जैन धर्म की विशेष भूमिका रही। जैन साधुओं ने जीर्ण–शीर्ण एवं दुर्लभ ग्रन्थों का प्रतिलेखन कर उनकी रक्षा की।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि जैन धर्म भारत के अनेक प्राचीन धर्मों में से एक है। इसके नियमों में कट्टरता होने के बावजूद इसमें समानता एवं सदाचार का पक्ष मजबूत बना रहा। या यूं कह सकते हैं जैन धर्म ध्रुव तारे की तरह उदित हुआ जो आज भी आकाश को पूर्ववत् अपने प्रकाश से आलोकित कर रहा है, जिसकी कोई एक किरण आज तक धूमिल नहीं हो पाई।

4.8 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 निम्न में से कौनसा रत्न त्रिरत्न में नहीं है?

(अ) सम्यक् ज्ञान (ब) सम्यक् चरित्र (स) सम्यक् दर्शन (स) सम्यक् व्यायाम

प्रश्न –2 कला एवं दर्शन के क्षेत्र में जैन का योगदान स्पष्ट कीजिए ? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न – 3 जैन धर्म के सात तत्वों का विस्तृत विवेचन कीजिए? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–5 : बौद्ध धर्म

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म
5.2.1 तप के मार्ग पर
5.2.2 बुद्धत्व की प्राप्ति
5.2.3 ज्ञान का प्रचार
5.3 बौद्ध धर्म के सिद्धान्त
5.3.1 आर्य सत्य
5.3.2 अष्टांगिक मार्ग
5.3.3 मध्यमा प्रतिपदा
5.3.4 दस शील
5.3.5 प्रतीत्य समुत्पाद
5.3.6 अनात्मवाद
5.3.7 कर्मवाद
5.3.8 पूनर्जन्म
5.3.9 क्षणिकवाद
5.3.10 निर्वाण
5.3.11 अहिंसा
5.4 बौद्ध संगीतियां
5.5 बौद्ध धर्म की देन
5.5.1 धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र में
5.5.2 साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में
5.5.3 कला के क्षेत्र में
5.5.4 सामाजिक क्षेत्र में
5.5.5 राजनीति के क्षेत्र में
5.6 सारांश
5.7 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में ब्राह्मण धर्म का बोलबाला था। ब्राह्मणों के जटिल कर्मकाण्ड यज्ञादि से जनता अत्यन्त दुःखी थी ऐसे में महात्मा बुद्ध ने न केवल भारत में अवतरण लिया बल्कि समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करते हुए उन्होंने समानता, विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया।

महात्मा बुद्ध ने संसार की प्रत्येक वस्तु में दुःख को बताया लेकिन इसके साथ ही महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्य के द्वारा दुःख पर विजय पाने का मार्ग बताया और यह कि किस प्रकार मनुष्य तृष्णा पर विजय पाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बौद्ध धर्म ने मनुष्य को दुःख से छुटकारा पाने का साधन अष्टम् मार्ग को बताया। बौद्ध धर्म ने नैतिकता पर बल दिया तथा मन, वचन और कर्म से पवित्र होने का सन्देश दिया। महात्मा बुद्ध ने नैतिक आचरण पर बल देने के लिये दस शील के नियमों का पालन करने को कहा। बौद्ध धर्म ने वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन करते हुये कर्मवाद पर जोर दिया कर्मों की पवित्रता से व्यक्ति जन्म–मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बौद्ध धर्म जातिवाद के बन्धन से ऊपर उठकर सभी को मोक्ष का अधिकारी मानता था यही कारण है कि बौद्ध धर्म को लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.1 उद्देश्य

'बौद्ध धर्म' पाठ का उद्देश्य छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में उदय हुये बौद्ध धर्म के बारे में विस्तारपूर्वक बताना है। इस पाठ में निम्न बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जायेगा –

* गौतम बुद्ध की जीवनी
* महात्मा बुद्ध की प्रमुख शिक्षाएं
* बौद्ध धर्म में आई विसंगीतियों को दूर करने के लिये किये गये प्रयासों के रूप में चारों संगीतियों का वर्णन करना।
* अन्त में बौद्ध धर्म को मानव समाज का क्या देन है यह विस्तार से वर्णित किया जायेगा।

5.2 गौतम बुद्ध एवं बौद्ध धर्म

भारतीय धार्मिक इतिहास में बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारत में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में धार्मिक उथल–पुथल का समय था। भारत में वैदिक धर्म की जटिलता बड़े–बड़े खर्चीले यज्ञ, पुरोहितों का बोलबाला से त्रस्त जनता का उद्धार करने दो धार्मिक सन्तों ने धरती पर जन्म लिया जो मुख्यतः जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थे।

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध के बचपन नाम सिद्धार्थ गौतम था। वह शाक्य गणराज्य के क्षत्रिय मुखिया शुद्धोधन के पुत्र थे। इनका जन्म 563 ई. पू. कपिलवस्तु की महारानी माया देवी के गर्भ से वैशाख पूर्णिमा के दिन लुम्बिनी वन में हुआ। सिद्धार्थ के जन्म के सात दिन बाद ही मायादेवी का देहान्त हो गया अतः मायादेवी की बहन महाप्रजापति गौतमी ने सिद्धार्थ का पालन पोषण किया। बालक सिद्धार्थ के शारीरिक लक्षणों को देखकर देवज्ञों ने यह बता दिया था कि यह बालक चक्रवर्ती सर्माट या तेजस्वी धर्म प्रवर्तक होगा। राजा के पुत्र होने के कारण उनका सांसारिक जीवन बहुत लाड़प्यार में बीता लेकिन बाल्यावस्था में ही वह विचारवान, एकान्तप्रिय और करूणावान थे। लोगों के कष्ट को देखकर उनका हृदय जल्दी ही दया से भर जाता था। यद्यपि उनके पिता ने उनके लिये क्षत्रियों की समस्त शिक्षा प्रबन्ध कराया लेकिन सिद्धार्थ का मन इन सुखों से काफी ऊपर था परिणामस्वरूप 16 वर्ष की आयु में ही सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नाम की एक सुन्दर राजकुमारी से कर दिया गया। सिद्धार्थ के विरक्त स्वभाव को देखकर उनके पिता ने उनके लिये भोग विलास की सामग्री का प्रबन्ध किया लेकिन सिद्धार्थ के मन में कोई आसक्ति नहीं पैदा हुई। एक बार नगर का भ्रमण करते समय क्रमशः एक वृद्ध, एक रोगी, एक मृतक एवं एक सन्यासी को देखा। प्रथम तीन के दृश्य ने उन्हें विचलित कर दिया क्योंकि ये तीनों ही दृश्य दुःख से भरे थे केवल सन्यासी के चेहरे पर उन्हें सन्तोष और प्रसन्नता की झलक दिखाई दी इस घटना के बाद यही निवृत्ति मार्ग उनके जीवन का लक्ष्य बन गया।

विवाह के दस वर्ष बाद उन्हें पुत्र रत्न प्राप्त हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया लेकिन सिद्धार्थ इसे एक और बन्धन मानते थे अतः एक रात्रि इन्होंने ज्ञान की खोज में गृहत्याग कर दिया। गृहत्याग की यह घटना ''महाभिनिष्क्रमण कहलायी।

ज्ञान की खोज में इधर–उधर भटकते हुये इनकी मुलाकात बिम्बीसार उद्रक, आलार कालाम नामक व्यक्तियों से हुई। इसके बाद वे गया के समीप उरूवेला नामक स्थान पर पहुंचे जहां उनकी मुलाकात कोण्डिन्य आदि पांच साधकों से हुई।

5.2.1 तप के मार्ग पर – सन्यासी बनने के बाद गौतम बुद्ध वैशाली के 'आलारकालाम' नामक एक तपस्वी के पास ज्ञानार्जन हेतु गये लेकिन इनसे सन्तुष्ट नहीं हुए तत्पश्चात उन्होंने उद्रक रामपुत्र से ज्ञान का मार्ग पूछा लेकिन इनसे भी वह सन्तुष्ट नहीं हो गये लेकिन इन दोनों गुरुओं से सिद्धार्थ ने योगसाधना एवं समाधिस्थ होना सीखा। यहां से वे उरूवेला में पांच ब्राह्मणों के साथ तप करने लगे। सिद्धार्थ ने पहले तो तिल एवं चावल खाकर तप किया फिर आहार का सर्वथा त्याग कर दिया। परिणामस्वरूप उनका शरीर सूखकर कांटा हो गया। इससे भी उन्हें सन्तुष्टि नहीं मिली परिणामस्वरूप उन्होंने तपस्या के इस मार्ग का त्याग करते हुये सुजाता नामक कन्या से अन्न ग्रहण किया। ऐसे में पांचों ब्राह्मणों में सिद्धार्थ को गौतम भ्रष्ट कहकर छोड़ दिया और सारनाथ चले गये।

5.2.2 बुद्धत्त्व की प्राप्ति – उरूवेला से गौतम निरंजना नदी के तट पर पहुंचे जहां तक पीपल के वृक्ष के नीचे वे ध्यान लगाकर बैठ गये और ध्यान लगाने का मन में दृढ़ निश्चय किया। सात दिन तक ध्यान मग्न रहने के पश्चात् वैशाख पूर्णिमा की रात को सिद्धार्थ को प्रथम याम (प्रहर) में सम्बोधि (ज्ञान) प्राप्त हुआ। सम्बोधि प्राप्त करने के कारण वे सम्बुद्ध या 'बुद्ध' कहलाये। अब वे दुःख के रहस्य तथा सभी वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानने के कारण 'तथागत' भी कहलाये। इस समय

बुद्ध की आयु छतीस वर्ष थी। बौद्ध धर्म में बुद्ध द्वारा प्राप्त ज्ञान के मूल को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा गया है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात बुद्ध ने ज्ञान प्रचार का कार्य किया।

5.2.3 ज्ञान का प्रचार – ज्ञान प्राप्ति के बाद बोध गया में ही बुद्ध ने अपना ज्ञान उपदेश तपस्यु और मल्लिक नामक दो व्यापारियों को दिया। यहां से बुद्ध सारनाथ गये यहां पर उन्होंने वही पांचों ब्राह्मण साथियों को अपना उपदेश दिया। बुद्ध के इस उपदेश से बौद्ध धर्म का प्रारम्भ हुआ। बौद्ध धर्म में इस घटना को 'धर्म–चक्र–प्रवर्तन' कहा गया अर्थात् धर्म का प्रारम्भ। यहां से बुद्ध काशी पहुंचे। धीरे–धीरे पांच ब्राह्मणों के बाद बुद्ध के शिष्यों की संख्या 60 तक पहुच गई। अब बुद्ध ने एक संघ का निर्माण कर लिया उनकी सहायता से लगभग 45 वर्ष तक बुद्ध ने धर्म प्रचार किया। बिना किसी भेदभाव के बुद्ध ने सभी जातियों के लोगों साधारण बोलचाल की भाषा में उपदेश दिया। बुद्ध के शिष्यों ने कोसल के राजा प्रसेनजित, मगध के बिम्बीसार और अजातशत्रु, वैशाली की सुप्रसिद्ध गणिका आर्मपाली, स्वयं बुद्ध के पिता शुद्धोधन और पुत्र राहुल थे। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर ही स्त्रियों को भी बौद्ध धर्म की दीक्षा देना प्रारम्भ किया। 80 वर्ष की आयु में गोरखपुर के समीप कुशीनगर (कुशीनारा) नामक स्थान पर गौतम बुद्ध ने अपना शरीर त्याग दिया और यह घटना 'महापरिनिर्वाण' कहलायी।

5.3 बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध ने प्राचीन आर्य धर्म में आई बुराइयों को दूर कर उनका पुनरूद्धार करने का प्रयास किया। उनका मानना था कि वे किसी नये धर्म का प्रतिपादन नहीं कर रहे वरन् पुराने या सनातन धर्म की ही स्थापना कर रहे हैं बौद्ध धर्म में निहित सिद्धान्त है –

5.3.1 आर्य सत्य – बौद्ध धर्म की आधारशिला चार आर्य सत्य है। इन्ही आर्य सत्यों पर अन्य बौद्ध धर्म के सिद्धान्त टिके है। ये चार आर्य सत्य है –

(अ) दुःख : सांसारिक जीवन दुःखमय है बुद्ध ने कहा था सर्वम दुःखम्।

(ब) दुःख–समुदय : दुःख का कारण है तृष्णा।

(स) दुःख–निरोध : दुःख का अन्त सम्भव है। तृष्णाओं पर काबू करके या नाश करके दुःखों का अन्त किया जा सकता है। तृष्णा का निरोध – रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का निरोध करके किया जा सकता है?

(द) दुःख–निरोधगामिनी प्रतिपदा – दुःखों के अन्त का उपाय है। अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके दुःखों का अन्त किया जा सकता है।

5.3.2 अष्टांगिक मार्ग–महात्मा बुद्ध ने दुःख निर्वाण के उपाय के आठ अंग बताये जो कि जीवनयापन के बीच का रास्ता है इसे 'अष्टांगिक मार्ग' कहा गया है चूंकि यह बीच का मार्ग है अतः इसे 'मध्यम मार्ग भी कहा गया है ये अष्टांगिक मार्ग है –

(1) **सम्यक् दृष्टि** : सत्य असत्य, पाप–पुण्य, सदाचार और दुराचार में भेद करना ही सही ज्ञान है सम्यक् दृष्टि है।

(2) **सम्यक् संकल्प** : कामना और हिंसा से मुक्त आत्मकल्याण का पक्का निश्चय ही सम्यक् संकल्प है।

(3) **सम्यक् वाणी** : वाणी में संयम रखना सम्यक् वाणी है।

(4) **सम्यक् कर्मान्त** : सत्कर्म करना सम्यक् कर्मान्त है।

(5) **सम्यक् आजीव** : आजीविका चलाने के लिये न्याय का साथ देना सम्यक् आजीव है।

(6) **सम्यक् प्रयत्न** : सत्कर्मों के लिये निरन्तर प्रयास करना ही सम्यक् प्रयत्न है।

(7) **सम्यक् स्मृति** : जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त हो चुका है जो सत्कर्म है उन्हे निरन्तर स्मरण या याद करना सम्यक् स्मृति है

(8) **सम्यक समाधि** : राग–द्वेष से रहित होकर चित्त की एकाग्रता को बनाये रखना और निर्वाण प्राप्त करना ही सम्यक् समाधि है।

5.3.3 मध्यमा प्रतिपदा– दुःख से छुटकारा पाने के लिये महात्मा बुद्ध ने जो अष्टांगिक मार्ग बताया, वह विशुद्ध आचार तत्त्वों पर आधारित था। उसमें न तो शारीरिक कष्ट क्लेश से युक्त कठोर तपस्या को उचित बताया गया और न ही अत्यधिक सांसारिक भोग विलास को। वस्तुतः वह दोनों अतियों के बीच का मार्ग था इसी से उसे मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) भी कहा गया है।

5.3.3 दस शील – बौद्ध धर्म आचार शुद्धि पर बल देता है और इस शुद्धि के लिये महात्मा बुद्ध ने दस नियमों का उपदेश दिया जिसे ''दस शील'' कहते हैं। भिक्षुओं को इन दस शील नियमों का पालन करना आवश्यक बताया वहीं गृहस्थों के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लिये प्रारम्भिक पांच नियम अनिवार्य बताये ये दस शील निम्न हैं –

(1) दूसरों के धन का लोभ न करना।
(2) हिंसा से दूर रहना और अहिंसा पर तत्पर रहना।
(3) झूठ न बोलना
(4) मादक वस्तुओं का प्रयोग न करना
(5) व्याभिचार न करना
(6) नृत्य संगीत में भाग न लेना
(7) सुगन्धित पदार्थों का त्याग
(8) असमय भोजन का त्याग
(9) कोमल शय्या का त्याग
(10) कामिनी कंचन का त्याग

5.3.5 प्रतीत्य समुत्पाद– 'प्रतीत्य' अर्थात् 'इसके होने से और 'समुत्पाद' का अर्थ है – 'यह उत्पन्न होता है'' अर्थात् किसी कारण से कोई बात उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में इसे कार्य–कारणवाद भी कह सकते हैं। किसी भी घटना के लिये कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यह बौद्ध धर्म के मूल उपदेशों में एक उपदेश है। बौद्ध धर्म के कारण ही जरामरण होता है। सम्पूर्ण संसार कार्य कारण की इसी श्रृंखला से बंधा है जब तक मनुष्य निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेता तब तक यह श्रृंखला निरन्तर चलती रहती है। बौद्ध धर्न में अविधा से लेकर दुःख तक प्रतीत्य समुत्पाद की श्रृंखला मे 12 क्रम गिनाये गये है जो क्रमशः एक दूसरे को उत्पन्न करने के कारण होते हैं ये 12 क्रम हैं – अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जन्म और दुःख। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद से स्पष्ट होता है कि अविद्या के कारण ही मनुष्य जन्म ग्रहण करता है और दुःख भोगता है।

5.3.6 अनात्मवाद– बौद्ध धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। बौद्ध धर्म के अनुसार जीवन विभिन्न कर्मबद्ध और अव्यवस्थित अवस्थाओं का एक प्रवाह है। इस प्रवाह में प्रत्येक अवस्था की उत्पत्ति उसकी पूर्व अवस्था से होती है। इसी प्रकार वर्तमान अवस्था आगामी अवस्था को उत्पन्न करती है। बुद्ध ने कहा पंच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान) से युक्त शरीर में आत्मा नामक तत्त्व का कोई स्थान नहीं है। पुनर्जन्म आत्मा के अस्तित्व के बिना भी सम्भव है।

5.3.7 कर्मवाद– बौद्ध धर्म में 'कर्म' से तात्पर्य मनुष्य की मन, वचन और काया द्वारा की गई चेष्टाओं से है। इन्ही कर्मों के द्वारा मनुष्य सुख एवं दुःख भोगता है। महात्मा बुद्ध का कहना था ''जाति मत पुछो, आचरण पूछो।'' उनका कहना था कि निम्न जाति का व्यक्ति अपने कर्म से मुनि या ज्ञानी हो सकता है और उच्च जाति का व्यक्ति अपने कर्म से शूद्र। महात्मा बुद्ध ने कर्मवाद के अन्तर्गत समाज के नैतिक आदर्शों के प्रति घोर विश्वास व्यक्त किया है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म दर्शन कर्मवाद पर आधारित था।

5.3.8 पुनर्जन्म – बौद्ध धर्मानुसार व्यक्ति कर्मों के अनुसार अच्छा बुरा जन्म पाता है दूसरी और बौद्ध धर्म ने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। ऐसे में प्रश्न उठ सकता है कि पुनर्जन्म किसका होता है। महात्मा बुद्ध के अनुसार यह पुनर्जन्म आत्मा का नहीं अपितु अंहकार का होता है। जब मनुष्य की तृष्णाएं एवं वासनाएं नष्ट हो जाती है, तब वह पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है। मिलिन्दपन्हों में आचार्य नागसेन ने कहा है कि 'जिस प्रकार समुद्र में लहरे चलती है, एक लहर किनारे पर आकर समाप्त हो जाती है, दूसरी आ जाती है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है इसी प्रकार जन्म, मृत्यु और जन्म यह क्रम चलता रहता है। एक जीवन का अन्त और दूसरे का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म को माना है।

5.3.4 क्षणिकवाद– बौद्ध धर्म सतत् परिवर्तन में विश्वास करता है। बौद्ध धर्मानुसार जगत की प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तित होती है। संसार की कोई भी वस्तु नित्य नहीं है यहां तक कि आत्मा एवं जगत भी नित्य परिवर्तित होती हैं इस प्रकार बुद्ध ने संसार की प्रत्येक वस्तु को क्षणिक, अनित्य एवं परिवर्तनशील बताया है। उनके अनुसार जिस तरह नदी का पानी एवं दीपक की लौ प्रतिपल बदलते रहने पर भी एक समान प्रतीत होती है उसी प्रकार प्रवाह रूप में बने रहने के कारण अनित्य होने पर भी यह भौतिक संसार नित्य अथवा स्थायी दिखाई देता है। इस परिवर्तनशीलता का कारण प्रतीत्य–समुत्पाद है और बौद्धध र्म में इस अनित्यवाद को 'क्षणिकवाद' कहा है।

5.3.5 निर्वाण– बुद्ध के अनुसार निर्वाण के द्वारा ही मनुष्य अपने दुःखों का अन्त कर सकता है। राग–द्वेषों पर विजय प्राप्त करके जो मनुष्य उससे उत्पन्न दुःख से अप्रभावित रहता है वही जीवनकाल में निर्वाण पा लेता है। बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ है 'बुझना'। बौद्ध धर्मानुसार मन में पैदा होने वली तृष्णा या वासना की अग्नि को बुझा देने पर निर्वाण प्राप्त हो सकता है। निर्वाण का अर्थ है – बार–बार जन्म–मरण की स्थिति से मुक्ति। महात्मा बुद्ध के अनुसार जब व्यक्ति पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है तो वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.3.6 अहिंसा – बौद्ध धर्म ने अहिंसा को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। बौद्ध धर्म वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं मानता है क्योंकि वेदिकधर्म में बलि का प्रावधान था जो हिंसा थी। अतः बौद्धधर्म ने अहिंसा पर बल दिया। महात्मा बुद्ध ने यज्ञ के लिये पुशओं के मारे जाने का विरोध किया उन्होंने यह भी कहा कि मनुष्य को मन, वचन और कर्म से अहिंसा का पालन करना चाहिये।

5.4 बौद्ध संगीतियां

महात्मा बुद्ध ने अपने जीवनकाल में बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के लिये जगह–जगह उपदेश दिये लेकिन महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म में भिक्षु–भिक्षुणियों, नियमों को लेकर वैचारिक मतभेद प्रारम्भ हो गये और बौद्ध धर्म विभिन्न शाखाओं में विभाजित होने लगा ऐसे में इस समस्या के निराकरण हेतु समय–समय पर बौद्ध संगीतियों का आयोजन किया गया जो इस प्रकार हैं –

प्रथम बौद्ध संगीति : यह संगीति महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ समय बाद की गई इसका आयोजन राजगृह के निकट सप्तपर्णी नामक गुफा में किया गया यह अजातशत्रु के शासनकाल में आयोजित की गई। इस संगीति का मुख उद्देश्य महात्मा बुद्ध के उपदेशों का संकलन करना था।

द्वितीय बौद्ध संगीति : इस संगीति का आयोजन वैशाली में कालाशोक के राजत्त्व में किया गया। इस संगीति का मुख्य उद्देश्य भिक्षु नियमों में आई वैचारिक मतभेद को दूर करना था। इस संगीति के उपरान्त बौद्ध धर्म दो शाखाओं थेरवादी (प्राचीन नियमों – दसशील आदि मानने वाले) तथा महासांघिक (प्राचीन नियमों को भंग करने वाले तथा नवीनता लाने वाले) में विभाजित हो गया।

तृतीय बौद्ध संगीति : मोर्य सर्माट अशोक के शासनकाल में पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति का आयोजन 251ई. पू. में किया गया है। इस संगीति में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रमाणिक संग्रह करके मतमतान्तरों में मतभेद दूर किये गये और धर्म नियम संबन्ध एकता स्थापित की गई। इस संगीति में कथा वस्तु नाम धार्मिक ग्रन्थ किया गया।

चतुर्थ बौद्ध संगीति : बौद्धों की चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन कनिष्क प्रथम के समय में कश्मीर के कुण्डल वन विहार में हुई। इसमें लगभग 500 सर्वास्तिवादी बौद्ध विद्वान सम्मिलित हुये। इस संगीति के पश्चात् बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान दो महत्त्वपूर्ण शाखाओं में विभक्त हो गया।

5.5 बौद्ध धर्म की देन

छठी शताब्दी ई.पू. में हुये धार्मिक आन्दोलन में बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा बुद्ध ने अपने ओजस्वी उपदेशों से न केवल शिष्य बनाये वरन् इसके प्रचार–प्रसार में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया परिणामस्वरूप शीघ्र ही यह धर्म जनप्रिय हो गया आज भी बौद्ध धर्म भारत में नहीं वरन् विश्व में अपनी अलग पहचान लिये सुरक्षित है। बौद्ध धर्म की विश्व को कई क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण देन रही हैं जैसे –

5.5.1. धर्म एवं आध्यात्म के क्षेत्र में : बौद्ध धर्म ने धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया हैं। बौद्ध धर्म ने मनुष्य की मूल समस्या दुःख से मुक्ति का सरलतम उपाय प्रदान कर मानवता की सेवा की। बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण उपदेश–क्षणिकवाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, अष्टांगिक मार्ग है।

5.5.2. साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में : महात्मा बुद्ध ने आम बोलचाल की भाषा में उपदेश दिये लेकिन समकालीन भारतीय भाषाओं पाली, प्राकृत, संस्कृत आदि में भी विस्तृत साहित्य का सृजन हुआ जो भारतीय भाषाओं के विकास में बौद्ध धर्म की देन हैं। नालन्दा, विक्रमशिला, तक्षशिला आदि विश्वविद्यालय बौद्ध शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु, बुद्धघोष साहित्य एवं शिक्षा जगत महत्त्वपूर्ण विद्वान थे।

5.5.3. कला के क्षेत्र में : बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्राचीन भारत में मूर्तिकला, चित्रकला एवं भवन निर्माण कलाओं का सर्वाधिक विकास हुआ। प्राचीनकाल में कला धर्म का अनुसरण करती थी। वैदिक युग में कला की अधिक उन्नति इसलिये नहीं हुई क्योकि धर्म का प्रधान तत्त्व यज्ञ था जिसके लिये अस्थायी मण्डपों की ही आवश्यकता होती थी। सांची, अमरावती, व भरहुत का बौद्ध स्तूप, अजन्ता एलोरा एवं गया की गुफाएं एवं चैत्य बौद्ध विहार, महाराष्ट्र से प्राप्त बौद्ध अवशेष बौद्ध धर्म की कला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है। इसी प्रकार गांधार, मथुरा और सारनाथ की मूर्तिकला शैलियों का जन्म बौद्ध धर्म की ही देन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.5.4. सामाजिक क्षेत्र में : बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व भारतीय समाज में ब्राह्मणों का बोलबाला था तथा समाज में रूढ़िवादिता, कर्मकाण्ड, अंधविश्वास और जाति प्रथा आदि कुरीतियां फैली थी। बौद्ध धर्म ने समाज को समानता का सन्देश दिया। बौद्ध धर्म ने सभी धर्मों, ऊँच–नीच सभी वर्णों के लोगों को बौद्ध धर्म की शिक्षा दी। शूद्र जिन्हें पहले मोक्ष प्राप्ति का अधिकार नहीं था उन्हें भी बुद्ध ने मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बताया। बौद्ध धर्म ने केवल दार्शनिक विषयों के महत्त्व को नहीं बताया बल्कि नैतिक गुणों को भी स्पष्ट किया जिससे प्रभावित होकर समाज में दानशीलता, शुद्धता, वाक्–संयम, सत्यता, आत्म–नियंत्रण, दया, समता, अहिंसा, मन, वचन एवं कर्म की पवित्रता का विकास हुआ।

5.5.5. राजनीति के क्षेत्र में : बौद्ध धर्म की राजनीति के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण देन रही है। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर अनेक ऐसे शासक हुये जिन्होनें शान्ति और धर्म को अपनी राजनीति का आधार बनाया। सर्माट अशोक ने बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर अहिंसा को अपने शासन का आधार बनाया कलिंग विजय के बाद उसने युद्ध विजय के स्थान पर धम्म विजय को अपना लक्ष्य बनाया। इसी प्रकार कनिष्क प्रथम ने भी बौद्ध धर्म को अपना व्यक्तिगत धर्म बनाया। हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म के लिए कनोज में महासभा आयोजित की। इस तरह बौद्ध धर्म ने भारतीय राजनीति को अहिंसा की ओर मोड़ा।

5.6 सारांश

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज, राजनीति, धर्म, सहित्य और कला के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया और एक नई दिशा की ओर मोड़ा। बौद्ध धर्म ने जातिवाद के बन्धनों को तोड़ते हुये सभी को इस धर्म में प्रवेश दिया। बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध ने संसार को दुःखमय मानकर इससे मुक्ति का मार्ग सुझाया। एक ओर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके उन्होंने संसार के क्षणभंगुर स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया और दूसरी ओर सदाचरण आदि कुछ नैतिक व व्यवहारिक नियमों का प्रतिपादन कर संसार से मुक्ति का मार्ग सुझाया। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में आर्य सत्य, मध्यम मार्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद, दस शील, अहिंसा, पुनर्जन्म, कर्मवाद, क्षणिकवाद निर्वाण आदि महत्त्वपूर्ण थे। महात्मा बुद्ध के पश्चात यद्यपि बौद्ध धर्म में अनेक वैचारिक मतभेद प्रारम्भ हो गये परिणामस्वरूप उन्हें दूर करने के उद्देश्य से अलग–अलग समय पर चार बौद्ध संगीतियों का आयोजन किया गया। यद्यपि आज यह धर्म भारत से लुप्तप्राय हो गया है परन्तु फिर भी अपनी कला कृतियों के रूप में यह अपने धार्मिक इतिहास की कहानी स्वयं कहता है।

5.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन कहां हुआ?

(अ) राजगृह (ब) वैशाली

(स) कुण्डलपुर (स) पाटलिपुत्र

प्रश्न –2 अष्टांगिक मार्ग को समझाइए ? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न – 3 बौद्ध धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग – 2

इकाई–6 : वर्ण व्यवस्था

संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 वर्ण व्यवस्था – भूमिका
6.3 'वर्ण' का अर्थ
6.4 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त
  6.4.1 दैवीय सिद्धान्त
  6.4.2 रंग का सिद्धान्त
  6.4.3 गुण और कर्म का सिद्धान्त
  6.4.4 व्यवसायिक उत्पत्ति का सिद्धान्त
  6.4.5 जन्म का सिद्धान्त
6.5 वर्ण व्यवस्था एवं वर्णों की स्थिति
  6.5.1 ब्राह्मण वर्ण
  6.5.2 क्षत्रिय वर्ण
  6.5.3 वैश्य वर्ण
  6.5.4 शूद्र वर्ण
6.6 सारांश
6.7 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.0 प्रस्तावना

भारतीय वर्ण व्यवस्था भारतीय संस्कृति के ऐसे शाश्वत मूल्यों में थी जिनके आधार पर बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियां सुगमता से सुलभ हो सकी। वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज की आधार शिला थी जो सामान्य तौर से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में विभाजित थी। वर्ण का अर्थ था वरण करना या चुनना अर्थात किसी भी व्यवसाय को चुनना आदि। वर्णों की उत्पत्ति के सिद्धान्त रंग, कर्म, गुण, जन्म तथा दैवीय सिद्धान्त पर आधारित थे। प्राचीन धर्म ग्रन्थों में इन वर्णों की उत्पत्ति सम्बन्धित विभिन्न मत वर्णित है। सात्विक गुणों से ब्राह्मण, राजसी गुणों से क्षत्रिय, राजसी और तामसी गुणों से शूद्र की उत्पत्ति बतायी हैं। इसी प्रकार रंग के आधार पर श्वेत, लाल, पीला, काला भी इन चारों वर्णों की उत्पत्ति का आधार रहा है। इसी प्रकार पठन–पाठन का कार्य करने वाले ब्राह्मण समाज की रक्षा करने वाला क्षत्रिय, व्यापार–वाणिज्य करने वाला वैश्य तथा इन तीनों वर्णों की सेवा करने वाला शूद्र इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त से चारों वर्णों की उत्पत्ति प्रचलित है। चारों वर्णों की पृथक–पृथक धर्म विशेष अधिकार कर्त्तव्य प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेखित है जिसके आधार पर चारो वर्ण जीवन का निर्वाह करते थे।

6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति की वर्ण व्यवस्था से छात्र–छात्राओं को अवगत कराना है। इस पाठ में निम्न बिन्दुओं पर विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

- वर्णों की उत्पत्ति का सिद्धान्त विशेषतः रंग, गुण, देवीय सिद्धान्त, जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त के आधार पर विवेचित किया जायेगा।
- चारों वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र को उनके धर्म, कर्त्तव्य तथा विशेष अधिकारों से प्रस्तुत किया जायेगा।

इसके साथ ही समाज में उनकी स्थिति का उल्लेख किया जायेगा।

6.2 वर्ण व्यवस्था-भूमिका

प्राचीन भारतीय संस्कृति में वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप उपलब्ध होता है वैसा स्वरूप अन्यत्र कही भी देखने को नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति में वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भिक संगठित रूप में समाज में प्रत्येक व्यक्ति की संवर्ग को महत्त्वपूर्ण मानते हुए कार्य, श्रम, योग्यता तथा प्रवृत्ति को मुख्य आधार बनाया गया और इस प्रकार व्यक्तियों को विभिन्न वर्ण में रखकर व्यष्ठि और समष्ठि का जो सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया गया वह विश्व की अन्य संस्कृतियों में देखने को नहीं मिलता है।

भारतीय समाज चार वर्णों या वर्गों में विभाजित किया गया है जो है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। प्राचीन काल में भारत में वर्ण व्यवस्था नहीं थी बल्कि दो जातियां आर्य, अनार्य का ही उल्लेख मिलता है। लेकिन धीरे–धीरे समाज में चार वर्णों का अभ्युदय प्रारम्भ हो गया। उत्तर वैदिक काल तक आते–आते चातुरवर्ण्य का पूर्ण विकास हो चूका था। अथर्ववेद और यजुर्वेद में चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और उत्तरवैदिक काल में ब्राह्मण सर्वेसर्वा होता था।

सूत्रकाल में क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मणों के पश्चात था। वैश्य वर्ण व्यवसाय में लीन था लेकिन शूद्र वर्ण की स्थिति दीन–हीन थी। वर्ण व्यवस्था का स्वरूप समय की गति में परिवर्तित होता रहा। भिन्न–भिन्न युगों में कर्म, जन्म तथा व्यवसाय आदि वर्ण व्यवस्था के आधार रहे। कभी ये वर्ण एक समान मान गये तो कभी ऊँच–नीच के आधार पर।

6.3 'वर्ण' का अर्थ

वर्ण शब्द ''वृञ् वरणे'' से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है वरण करना या चुनना। वर्ण उस वर्ग का सूचक शब्द प्रतीत होता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य या व्यवसाय हो और इस विशेषता के कारण वह समाज में एक वर्ण के रूप प्रतिष्ठित है। वर्ण शब्द का सर्वप्राचीन प्रयोग ऋग्वेद में रंग के अर्थ में मिलता है। ऋग्वैदिक समाज में लोगो के दो वर्ग थे आर्य (श्वेत) अनार्य (श्याम) धीरे–धीरे जेसे–जैसे समाज में व्यवसायों का उदय होना प्रारम्भ हुआ उस व्यवसाय के आधार पर वर्ण का विभाजन प्रारम्भ होने लगा। डॉ. शर्मा ने लिखा है कि 'वैदिक साहित्य में वर्ण शब्द का प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों और इनके धर्मो एवं गुणों के वर्णन के अर्थ में ही किया गया मालूम पड़ता है। श्रीयास्काचार्य ने निरूक्त में लिखा है कि वर्ण शब्द की उत्पत्ति वरण या चुनाव करने का अर्थ देने वाले वृ (वृत्ति) – वरणी धातु से हुई है अर्थात् वर्ण वह है जिसको व्यक्ति अपने कर्म व स्वभाव के अनुसार चुनता है। सांख्य दर्शन के आधार पर कहा जा सकता है कि रूप या रंग का नाम ही वर्ण है। पुराणों में भी कई जगह शुक्ल, रक्त क्षत्रिय, पीत वैश्य, कृष्ण शूद्र लिखा मिलता है। संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि हिन्दू समाज को चार भागों में बांटने की प्रणाली को वर्ण व्यवस्था कहते हैं।

6.4 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्त में विभिन्न मतभेद है। जो इस प्रकार हैं –

6.4.1 दैवीय सिद्धान्त– वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में यह सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति ईश्वर कृत मानी गयी है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में विराट पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में इस विराट पुरुष को सृष्टि का कर्ता मानकर उसके सहस्त्र सिर और सहस्त्र पैर, सहस्त्र आंखे और वह भूत और भविष्य था, का उल्लेख मिलता है। विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरू से वैश्य, पैर से शूद्र उत्पन्न हुए का उल्लेख किया गया है। महाभारत में भी इस दैवीय सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है लेकिन इसमें विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख है इसी प्रकार मनुस्मृति में भी ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा तथा पैरो से चारों वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। विष्णु मत्स्य, ब्राह्मण, वायु आदि पुराणों में भी इस प्रकार का विवरण मिलता है।

6.4.2 रंग का सिद्धान्त– महाभारत के शान्तिपर्व में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार मनुष्यों की त्वचा के विभिन्न रंगों को बताया है। ब्राह्मणों का वर्ण श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला, शूद्रों का काला होता है। किन्तु महाभारत में विभिन्न वर्णों के इन विभिन्न रंगों को वस्तुत उनके सत्त्वादि के कारण कहा गया है अर्थात् श्वेत रंग सत्व, लाल रंग रजो गुण का, पीला रंग सत्व और तमो गुण का मिश्रण तथा काला रंग तमो गुण का प्रतिनिधी माना गया है।

इस सिद्धान्त से यह आभास मिलता है कि इसमें त्वचा के रंग के साथ–साथ गुण तथा कर्म को भी प्रमुखता दी गई थी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तथा रंगों को गुणों के साथ संयुक्त कर दिया गया है।

6.4.3 गुण और कर्म का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादन गीता में मिलता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि गुण और कर्म के विभाग पूर्वक मैने चारो वर्णों की सृष्टि की है। सत्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण भिन्न–भिन्न स्वरूप के होते हैं। सत्व गुण निर्मल, प्रकाशक, रागरहित, रजो गुण चंचल, इच्छायुक्त और कर्म प्रेरक होता है। तमो गुण अज्ञानमय, भ्रमपूर्ण तथा आलस्यपूर्ण होता है। इन गुणों के अनुपात के आधार पर व्यक्ति के कर्मों में भी स्वतः विभेद उत्पन्न हो जाता है। मनु का कथन है कि ज्ञान सत्तोगुण का अज्ञान तमो गुण का तथा राग–द्वेष रजो गुण का लक्षण है। विष्णु पुराण ने ब्राह्मणों में सत्त्व गुण, क्षत्रियों में रजो गुण की वैश्यो में रजो तथा तमो गुण की और शूद्रों में तमो गुण की प्रधानता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

6.4.4 व्यवसायिक उत्पत्ति का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त में वर्णों की उत्पत्ति का आधार व्यवसाय निश्चित किया गया है। बुद्धि के आधार पर व्यवसाय चलाने वाले विद्वान, ऋषि आदि ब्राह्मण हुए, बाहुबल के आधार पर आजीविकारत रहने वाले क्षत्रिय, व्यापार में लगे रहने वाले वैश्य तथा इन तीनों की सेवा में रत रहने वाले शूद्र हुए।

6.4.5 जन्म का सिद्धान्त– व्यक्ति के जन्म के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने वर्ण की उत्पत्ति मानी है अर्थात् जो व्यक्ति जिस परिवार में जन्म लेता है उसमें उसी प्रवृत्ति का उदय् भी होता है परिणाम–स्वरूप वह उसी वर्ण को अपना लेता है। अर्थात् वंशानुगत गुण के आधार पर जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यदि किसी मनुष्य का वर्ण वृत्तिका कर्म पर निर्भर होती तो द्रोणाचार्य क्षत्रिय कहलाते क्योंकि उनका व्यवसाय युद्ध करना था परन्तु जन्म के कारण ही द्रोणाचार्य को ब्राह्मण कहा जाता है न कि क्षत्रिय।

उपर्युक्त मतो से वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में अलग–अलग मतो का पता चला। यद्यपि ये समस्त मत दार्शनिक पहलुंओं को लिए हुए है परिणामस्वरूप उनसे वास्तविकता का पता नहीं चलता है। यदि निष्कर्ष रूप में निरूपण किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का दार्शनिक कारण यह था कि जिस प्रकार राष्ट्र के चार अंग होते है – शासन, धर्म, अर्थ और सेवक उसी प्रकार समाज के भी चार अंगों का होना अनिवार्य है। अपने आरम्भिक काल में वर्ण व्यवस्था कर्मानुसार थी और कर्म की श्रेष्ठता प्राप्त करना इसका उद्देश्य था लेकिन धीरे–धीरे कालान्तर में वर्ण व्यवस्था कठोर होती चली गयी और चारो वर्णों की उत्पत्ति सम्बन्धित सिद्धान्त भी विस्तृत होता चला गया।

निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति में जन्म, रंग, गुण, कर्म आदि सभी का आंशिक रूप देखने को मिलता है।

बोध-प्रश्न

प्रश्न – दैवीय सिद्धान्त के आधार पर वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का विवेचन कीजिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

6.5 वर्ण व्यवस्था एवं वर्णों की स्थिति

धर्म सूत्रों तथा स्मृति ग्रन्थो तथा ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चारो वर्णों के कर्त्तव्यों विशेष अधिकारों का वर्णन किया गया है।

6.5.1 ब्राह्मण वर्ण– पुरुष सूक्त में ब्राह्मण को मस्तिष्क कहा है। वर्ण व्यवस्था के क्रम में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त थे इस वर्ण को ब्राह्म ज्ञान की ओर उन्मुख रहने ओर सत्य की खोज में लीन रहने के कारण ब्राह्मण कहा गया। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना करवाना तथा दान लेना आदि था। ब्राह्मणों में त्याग कर्त्तव्य परायणता, साधना तथा बौद्धिक श्रेष्ठता के गुण होने की अपेक्षा की जाती थी। ब्राह्मणों का कर्त्तव्य था कि अपने बुद्धि कोशल से राजा या मंत्रियों को उचित मन्त्रणा देखकर राष्ट्र की उन्नति में सहायता प्रदान करें। यही कारण था कि ब्राह्मणों को शास्त्रबाल या ब्राह्म बल कहा जाता था और ज्ञान की इसी उपलब्धि के कारण मनु ने ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ कहा है। ब्राह्मणों को विशेष सुविधाएं भी प्राप्त थी। पुरोहित के रूप में वह राजा को महत्वपूर्ण परामर्श देता था, राज्याभिषेक के समय वह राजा को प्रजा और राज्य के प्रति कर्त्तव्यपरायणता का आदेश वर्णों से पहले उत्पन्न करने के कारण उसे देव तथा पितरो तक का काव्य तथा अव्य पहुंचाने का हकदार भी बनाया। ब्राह्मण को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तप और ज्ञान से युक्त अग्नि के समान बताया। मनु के अनुसार ब्राह्मण मुर्ख होने पर भी देवता के समान था। आर्थिक क्षेत्र में भी ब्राह्मणों को अनेक अधिकार प्राप्त थे। दान लेने का अधिकारी भी वहीं था। यज्ञ के पश्चात् बची हुई हवन सामग्री का हकदार भी वही था। ब्राह्मणों को प्रत्येक वर्ण से एक–एक पत्नि रखने का अधिकार था। अथर्ववेद में उल्लेख है कि चार पत्नियां रखना समाज में ब्राह्मण की स्थिति, गरिमा तथा प्रतिष्ठा को व्यक्त करती थी।

आपातकाल में यदि वह अपने परिवार का पालन–पोषण करने में असमर्थ होता तो वह क्षत्रिय तथा वैश्य के कर्म को अपना सकता था। यद्यपि वह कर्म बदलकर कार्य कर सकता था लेकिन मांस भक्षण, मदिरा सेवन आदि करना उसके लिए निषेध थे।

6.5.2 क्षत्रिय वर्ण– वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों के पश्चात् क्षत्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुरुष सूक्त में "क्षत्रियों को समाजरूपी पुरुष की भुजा अर्थात् शक्ति व संरक्षण का प्रतीक माना गया है। जिस प्रकार भुजाएं शरीर की रक्षा करती है। उसी प्रकार क्षत्रिय समाज की। उसका वर्णगत गुण शासन तथा सैन्य कर्म था। चतुश्वर्णों की रक्षा का दायित्व क्षत्रिय पर निर्भर था। उन्हें अध्ययन तथा अध्यापन का भी अधिकार था। क्षत्रिय वर्ण बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करता था इसलिए उसे शस्त्र बल कहा गया। स्वभाव की भिन्नता के कारण उसका कर्त्तव्य ब्राह्मणों से भिन्न था। जहां ब्राह्मण सत्व गुण प्रधान थे वहीं क्षत्रियों में रजो गुण की प्रधानता थी कौटिल्य ने क्षत्रिय के प्रमुख कर्मों में अध्ययन, यज्ञ करना शस्त्र धारण करना बताया है। वहीं मनुस्मृति में लिखा है कि क्षत्रिय प्रजा की रक्षा करे, दान दे, वेद पढ़े और विषयों मे आसक्त न हो। युद्ध में विजित सामग्री पर क्षत्रियों का अधिकार होता था। क्षत्रियों का यह कर्त्तव्य होता था कि समाज के मस्तिष्करूपी ब्राह्मण के आदेशों तथा निर्देशों का सच्चाई से पालन करे। क्षत्रिय वर्ण भी अन्य कर्म अपना सकता था। वह शिक्षक बन सकता था लेकिन इसके बदले में वह कोई भी शुल्क ग्रहण नहीं कर सकता था। न्याय के क्षेत्र में भी क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य था कि वह अधर्मियों या अपराधियों को दण्डित करें। इसी प्रकार क्षत्रियों को केवल ब्राह्मणों के प्रति किये गये तुच्छ अपराधों में अन्य वर्णों की अपेक्षा कम दण्ड दिया जाता था।

आपातकाल में क्षत्रिय वैश्य कर्म अपना सकता था लेकिन व्यापार में क्षत्रियों के लिए इस, तिल, नमक पत्थर, पशु और मनुष्यों का क्रय–विक्रय वर्जित था आपातकाल में क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वृत्ति तो अपना सकता था लेकिन ब्राह्मण वृत्ति उसके लिए वर्जित था।

6.5.3 वैश्य वर्ण – पुरुषसूक्त में वैश्य वर्ण का विराट पुरुष की जंघाओं के रूप में वर्णन किए जाने के कारण वैश्य का कार्य समाज का भरण–पोषण का भार वहन करना था। जिस प्रकार शरीर का सारा भार जंघा वहन करती है उसी प्रकार समाज के भरण–पोषण का उत्तरदायित्व भी वैश्यों का धर्म था। समाज का आर्थिक विकास का उत्तरदायित्व वैश्यों के ऊपर रहता था। वैश्यों के प्रमुख कर्त्तव्यों में कृषि कर्म, पशुपालन, व्यापार – वाणिज्य, उद्योग–धन्धे आदि कर्म थे उसके अतिरिक्त उन्हें वेदों का अध्ययन करने का भी अधिकार प्राप्त था। इसके अलावा वैश्यों को अपनी आय मे से कुछ अंश राजकीय कर के रूप में भी देना पडता था। समाज की आर्थिक वृद्धि के लिए भी वैश्य को ही जिम्मेदार ठहराया जाता। मनुस्मृति में वैश्यों के धर्म के लिए लिखा है कि वह अध्ययन, यज्ञ तथा दान देने के साथ–साथ कृषि, वाणिज्य, पशुपालन तथा ब्याज लेने व देने का कार्य कर सकता था। धन की दृष्टि से यह समाज में सर्वाधिक समृद्ध वर्ण था, लेकिन फिर भी समाज में उन्हें विशेष आदर व सम्मान प्राप्त नहीं था। बौद्यायन सूत्र में वैश्यों की अवस्था शूद्रों के समकक्ष बतायी है। सम्भवतः इसका कारण वैश्य वर्ण का अध्ययन और यज्ञ से दूर रहना हो सकता है।

आपातकाल में वैश्य शूद्र के कर्म को अपना सकता था, लेकिन ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के नहीं। मनुस्मृति में भी वैश्य वर्ण के लिए क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कर्म निषिध था, बताया गया है। यद्यपि वैश्य आर्थिक समृद्धि का कारण बनते थे लेकिन फिर भी जिस सम्पति का अर्जन वैश्य वर्ण करता था उस पर उसका एकाधिकार नहीं था बल्कि आवश्यकता पड़ने पर वह सामाजिक सम्पति बन जाती या उस सम्पति पर तीनों वर्णों का समान अधिकार होता। विभिन्न व्यवसायों उद्योग एवं व्यापार करने के कारण वैश्यों में पांच श्रेणिया बन गयी – स्थानीय वणिक, कारवां, सामुदिक व्यापारी, विभिन्न उद्योग करने वाले वणिक तथा साधारण व्यापारी।

6.5.4 शूद्र वर्ण – चारों वर्णों में शूद्र सबसे निम्न स्थिति में था। पुरुषसूक्त में शूदों की उत्पत्ति विराट पुरुष के पैरो से बतायी है। शूद्र पतित तथा हेय माने जाते थे। अधिकार और प्रतिष्ठा में भी शूद्रों की स्थिति सबसे निम्न थी। बोधायन सूत्र में शूद्रों की तुलना पुशओं से की हैं। मनुस्मृति में शूद्रों का धर्म तीनो वर्णों की सेवा करना बताया है। शूद्र पूर्णरूप से तीनों वर्णों की दया पर निर्भर रहते थे। वशिष्ठ स्मृति में लिखा है कि शुद्र न तो वेदों का अध्ययन कर सकते हैं और न ही वेद का अध्ययन करने वालो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के समीप जा सकते हैं। गौतम धर्म सूत्र में बताया गया है कि शूद्र तीनो वर्णों द्वारा परित्यक्ता वस्तुओं का उपभोग कर सकते है। शूद्रों को तीनों वर्णों की जूठन, बर्तन, पुराने वस्त्र आदि काम में लेने का अधिकार था इसके अलावा मनुस्मृति में लिखा है कि जो शूद्र ब्राह्मण की सेवा करता था वह समृद्धि सूचक था आपत्तिकाल में वह विभिन्न उद्योग–धन्धे अपना सकता था। यहां पर महत्त्वपूर्ण रोचक बात है कि आपातकाल में शूद्रो द्वारा अपनाया गया कर्म उसके स्वधर्म से कहीं अधिक अच्छा था। आपातकाल में वह अन्य कर्म को अपना सकता था लेकिन धन संचय नहीं कर सकता था।

महाकाव्य काल तक आते–आते शूद्रों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आया अब वे व्यापार वाणिज्य कर सकते थे। मनुस्मृति में भी लिखा है कि शूद्रों की काष्ठशिल्प, धातुशिल्प तथा चित्रकला आदि कला अपनाने की आज्ञा दी गयी है।

उपर्युक्त वर्ण व्यवस्था के विवेचन से स्पष्ट होता है कि आधुनिक वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप आज विद्यमान है वह प्राचीन भारत से एकदम भिन्न है। प्राचीन काल की इस वर्ण व्यवस्था मे सर्वोच्च स्थान ब्राह्मणों को तत्पश्चात् क्षत्रिय तथा वैश्यों को था तथा शूद्रों की स्थिति एकदम निम्न थी। इस प्रकार प्राचीन वर्ण व्यवस्था के चार महत्वपूर्ण अंग थे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – ब्राह्मण वर्ण को विवेचित कीजिए ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

6.6 सारांश

प्राचीन भारत के वर्ण व्यवस्था में चारो वर्णों की पृथक–पृथक स्थिति रही। अधिकांश विद्वानों का मत है कि समाज के विभिन्न कार्यों को चार कोटियों में बांटकर चार प्रकार के कार्यरत व्यक्तियों के परिकल्पना के रूप में चार वर्णो की स्थापना हुई थी। प्रारम्भ में इन विभिन्न कार्यों मे या कार्य करने वाले व्यक्तियों में कोई भेद नहीं था और ये चार वर्ण पैतृक या वंशानुगत भी नहीं थे। मुख्य रूप से जो भी कार्य व्यक्ति ग्रहण कर लेता वही उसका वर्ण हो जाता। व्यक्ति अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार अच्छा कार्य करता और वर्ण प्राप्त करता। इस प्रकार व्यक्ति के गुण, चरित्र तथा आचार पर निर्भर था लेकिनसमय के प्रभाव के साथ ही इसमें परिवर्तन चालू हो गया। यद्यपि परिवर्तन के कारण यहां समाज धर्म और संस्कृति की रक्षा हुई। कार्यगत कुशलता में वृद्धि एकता की भावना का विकास हुआ वहीं संकुचित राष्ट्रीय भावना का भी विकास हुआ। वर्ण का आधार गुण और कर्म होना चाहिए न की जन्म। लेकिन अन्त में यह कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था से समाज में संगति रही, एकमुखता रही तथा पारस्परिक संघर्ष का अभाव रहा ब्राह्मण के यज्ञ करते समय सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता क्षत्रियों के युद्ध करने से सम्पूर्ण मानव जाति की रक्षा होती वैश्यों से आर्थिक समृद्धि वहीं शूद्र सभी के लिए सेवक का कार्य करता।

इस प्रकार प्राचीनकालीन वर्ण व्यवस्था प्राचीन भारतीव संस्कृति की मुख्य विशेषता कही जा सकती है।

6.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1 – वर्ण व्यवस्था में रंग के सिद्धान्त के आधार पर वैश्य वर्ण का रंग निर्धारित किजिए?

(अ) श्वेत (ब) काला

(स) लाल (स) पीला

प्रश्न 2 – गुण और कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को समझाइए? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न 3 – वर्ण व्यवस्था को विस्तारपूर्वक विवेचित कीजिए? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–7 : आश्रम-व्यवस्था

संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 भूमिका
7.3 आश्रम का अर्थ
7.4 आश्रम व्यवस्था के आधार स्तम्भ
7.5 आश्रम व्यवस्था का विकास
7.6 आश्रम व्यवस्था का वर्गीकरण
 7.6.1 ब्रह्मचर्य आश्रम
 7.6.2 गृहस्थ आश्रम
 7.6.3 वानप्रस्थ आश्रम
 7.6.4 संन्यास आश्रम
7.7 आश्रम व्यवस्था का महत्त्व
7.8 सारांश
7.9 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में वर्ण व्यवस्था के साथ–साथ आश्रम व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया उसी प्रकार विद्वानों ने मनुष्य को जन्म से मोक्ष तक पहुंचाने के लिए उसके जीवन को चार भागों में विभाजित कर दिया जो उसके जीवन के उत्कर्ष के लिए जीवन गति के चार सोपानों को आश्रम का नाम दिया और यह अपेक्षा की गई कि वह अपना कर्त्तव्य निभाते हुए जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करेगा। इस प्रकार व्यवस्थाकारों ने मनुष्य द्वारा भौतिक जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने, मनुष्य और समाज में तादात्म्य स्थापित करने तथा धर्मानुसार कर्त्तव्य करते हुए जीवन की पूर्णता के लिए आश्रम व्यवस्था के आदर्श को प्रस्तुत किया जो कि भारतीय संस्कृति की अपनी देन है। ये चार आश्रम है – ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यासाश्रम। इन चारो आश्रमों में मनुष्य अर्थ को प्राप्त करता है यह जीवन की चार अवस्थाएं है जिनको सुगमता से पार करने के लिए चार भागों में विभाजित किया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म से परिचित होता है। तथा साधना से अपने मानसिक चिन्तन को शक्ति सम्पन्न बनाता है। गृहस्थ आश्रम में धर्म और अर्थ को प्राप्त करता है। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में वैराग्य और मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता है। इन आश्रमों को लागू करने में पुरुषार्थ, और यज्ञों का महत्त्वपूर्ण योगदान है या आश्रम व्यवस्था के आधार स्तम्भ भी कह सकते है। इस प्रकार धर्माधारित कर्म या कर्त्तव्य ही आश्रम जीवन का मूल है।

7.1 उद्देश्य

प्राचीन विद्वानों ने मनुष्यों के जन्म से मोक्ष तक पहुंचने को जीवन का प्रमुख लक्ष्य माना और इसी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मनुष्य जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया। प्रत्येक सोपान में मनुष्य अलग प्रकार का श्रम करता और अगले सोपान तक जाने के लिये प्रयास करता प्रत्येक सोपान का पृथक महत्त्व था और यही चारों सोपान आश्रम व्यवस्था थी इसी को सविस्तार समझाना इस पाठ का उद्देश्य है। निम्न बिन्दुओं से इस पाठ को विवेचित किया जायेगा।

- आश्रम का अर्थ एवं उत्पत्ति किस प्रकार हुई।
- विभिन्न कालों में आश्रम व्यवस्था का स्वरूप क्या था और किस प्रकार इसका विकास हुआ।
- आश्रम व्यवस्था के चारों सोपानों के (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ एवं सन्यासश्राम) धर्म, विशेषाधिकार, कर्त्तव्य का वर्णन किया जायेगा।

7.2 भूमिका

प्राचीन भारत में आश्रम व्यवस्था की नियोजना मनुष्य के जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए की गई थी इस योजना के तहत मनुष्य को इस प्रकार की गति देने का प्रयास किया गया ताकि वह सुसस्कृत होकर अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। वर्णाश्रम की योजना व्यक्ति में उसके कर्त्तव्यों का बोध कराते हुए सामाजिक जीवन में उन्नति के मार्ग को दर्शाती है। प्राचीन काल में मनुष्य के पूरे जीवन काल को अलग–अलग भागों में विभाजित करके उसे अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचाने का विधान था। मनुस्मृति में तीन आश्रमों का उल्लेख मिलता है लेकिन वैदिक काल तक आते–आते चार आश्रमों का उल्लेख मिलता है ये चार आश्रम चारो वर्णों के मनुष्यों के लिए पृथक–पृथक नियम और कर्त्तव्यों को लिए हुए है। इन आश्रमों में जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान, कर्त्तव्य आध्यात्म को ध्यान में रखते हुए किया गया है ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास। मनुष्य इन चारों आश्रमों का निर्वाह करते हुए जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है ऐसी अवधारणा प्राचीनकाल में मानी जाती थी।

7.3 आश्रम का अर्थ

आश्रम शब्द की उत्पत्ति श्रम् धातु से हुई है अर्थात् जिस स्थान पर रहकर मनुष्य श्रम् करता है और अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है, वह आश्रम कहलाता है। डॉ. ब्रजनाथ सिंह यादव के अनुसार ''आश्रम का अर्थ जीवन का वह विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है।'' श्री पी.एन. प्रभु ने लिखा है कि ''आश्रम का अर्थ है एक स्थान जहां प्रयत्न या उद्योग किया जाता है।'' महाभारत में वेदव्यास ने कहा है कि जीवन के चार विश्राम स्थलों या आश्रमों को चार सारणियों वाली सीढ़ी समझना चाहिए। यह सीढ़ी ब्रह्म के पास पहुंचाने वाली है अर्थात् इस सीढ़ी के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार पृथक–पृथक परिभाषाओं से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति के लिए जन्म से लेकर अन्तिम समय तक पूरे जीवनकाल को गतिमान रखते हुए चार सोपानों को तय करना पड़ता है और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रत्येक आश्रम की अपनी अलग स्थिति है ओर उस आश्रम से सम्बन्धित व्यक्ति श्रम करता है। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन को श्रेष्ठ बनाने में आश्रम व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए वह ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रम करता है। गृहस्थ आश्रम में रहकर सन्तान उत्पत्ति के लिए श्रम करता है और वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में मोक्ष प्राप्ति के लिए श्रम करता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के निर्वाह का श्रम करता है।

7.4 आश्रम व्यवस्था के आधार स्तम्भ

आश्रम व्यवस्था को लागू करने में जिन नियमों का महत्त्वपूर्ण स्थान है उनमें 4 पुरुषार्थ, 3 ऋण और यज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धी करनी चाहिए। इसी उद्देश्य से जीवन के प्रथम भाग में धर्म का ज्ञान सिखाया जाता है। द्वितीय अवस्था में सामाजिक जीवन के दो पहलु अर्थ काम आधार बनाते हुए अपने कार्य को पूरा किया जाता है तथा अन्तिम अवस्था में समस्त सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर वैराग्य की स्थिति को जाग्रत कर मोक्ष को प्राप्त करना है। इस प्रकार **पुरुषार्थ** का सम्बन्ध भी मोक्ष से हैं इन्हें आधार मानकर प्राचीन विद्वानों ने आश्रम व्यवस्था को गठित किया।

इसी प्रकार आश्रम व्यवस्था का दूसरा आधार **यज्ञ** था धार्मिक ग्रन्थों से पता चलता है कि यज्ञों से मनुष्य की उन्नति होती है और इनसे भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। यज्ञ भी पांच बताये है पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, ऋषि यज्ञ, भूत यज्ञ एवं अतिथि यज्ञ। यह स्वीकार किया गया है इन यज्ञों को करने से मनुष्य अपने समस्त पापों तथा कर्त्तव्यों से मुक्त हो जाता है।

आश्रम व्यवस्था का अन्तिम आधार ऋण है। ये **ऋण** है पितृ ऋण, ऋषि ऋण एवं देव ऋण। प्रत्येक व्यक्ति का इन तीन ऋणों से सम्बन्ध है और यह ऋण तब तक पूरा नहीं होता जब तक वह स्वयं इन ऋणों को पूरा न कर दे। पितृ ऋण में वह अपने माता–पिता का ऋणी होता है कि मानव शरीर के रूप में जन्म दिया और यह पितृ ऋण संतान उत्पन्न करने के साथ समाप्त हो जाता है। दूसरा ऋण है ऋषि ऋण। ऋषियों ने आध्यात्मिक संस्कृति का सामाजिक सभ्यता का निर्माण व संचार किया इस ऋण को व्यक्ति ज्ञान द्वारा पूरा कर सकता है इसी प्रकार तीसरा ऋण देव ऋण है देवताओं की कृपा से ही हमे इस शरीर की प्राप्ति होती है अतः जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करके ईश्वर तक पहुंचे अर्थात् आत्मा व परमात्मा एक हो जाये यही देव ऋण को पूरा करते है। इस प्रकार ऋण भी आश्रम व्यवस्था का आधार बिन्दु है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न–1. आश्रम का अर्थ बताते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.5 आश्रम व्यवस्था का विकास

आश्रम व्यवस्था का प्रचलन महात्मा बुद्ध के उपरान्त हुआ। इस मत की पुष्टि में रीस रेविड्स महोदय ने यह तर्क दिया कि उपनिषदों में चार आश्रमों का उल्लेख नहीं है परन्तु इस मत से सहमत होने में प्रमुख बाधा यह है कि वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आश्रम व्यवस्था का उल्लेख नहीं है, तथापि इनमें प्रथम दो आश्रमों, ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ की व्याख्या किसी न किसी रूप में की गई है। उत्तरवैदिक काल में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग कई ग्रन्थों में मिलता है। तैतरीय संहिता में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी शब्द आये है तथा गृहस्थ या गृहस्थ आश्रम न आते हुए भी सन्तान उत्पत्ति के कथन के द्वारा उसकी ओर संकेत स्पष्ट है। ऋग्वेद में गृहस्थ मुनि तथा यति का उल्लेख मिलता है। लेकिन ऋग्वैदिककाल और उत्तरवैदिक दोनो काल में वानप्रस्थ एवं सन्यास के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती है।

उपनिषद काल तथा सूत्रकाल में चारों आश्रम व्यवस्था पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी। जाबालोपनिषद् में सर्वप्रथम चारो आश्रमों का नामोल्लख मिलता है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में जीवन का चार आश्रमों में विभाजन मिलता है। गौतम, वसिष्ठ, बौधायन आदि सभी सूत्रकारों ने चारों आश्रमों का उल्लेख किया है और सन्यास आश्रम के लिए भिक्षु या परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया है। सूत्रों ने प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्यों और धर्मों का भी सविस्तार कथन किया है। इन सभी उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि उपनिषद काल में आश्रम व्यवस्था का प्रायः प्रचलन था। महाकाव्य काल में चारो आश्रम अस्तित्व में थे। रामायण में चारो आश्रमों में गृहस्थ को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा है। पुराणों के अनुसार आश्रमों का चिन्तन इसलिए किया गया कि समाज के विभिन्न लक्ष्य अपने कर्म निष्ठा पूर्वक सम्पन्न कर सकें।

इस प्रकार आश्रम व्यवस्था के विकासक्रम को अगर बारिकी से देखे तो पता चलता है कि इसकी स्थापना उपनिषद काल में हुई और शीघ्र ही स्मृतिकाल तक आते–आते यह अपने सर्वव्यापी रूप में स्थिर हो गई।

7.6 आश्रम व्यवस्था का वर्गीकरण

आश्रम व्यवस्था का वर्गीकरण 4 भागों में किया गया है। जिसका उद्देश्य जीवन को व्यवस्थित रूप प्रदान करना। एक आश्रम दूसरे आश्रम के लिए व्यक्ति को योगय बनाना अन्तिम आश्रम में उसे उद्देश्य के निकट पहुंचाना। यज्ञे, स्मृतियों तथा अन्य धर्मग्रन्थों में चारो आश्रमों के लिए विदित कर्त्तव्यों और आचारो को ही आश्रम धर्म कहा जाता है। चारों आश्रमों के विभिन्न धर्म संक्षिप्त तथा क्रमशः इस प्रकार है –

7.6.1 ब्रह्मचर्य आश्रम– ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। ब्रह्म का अर्थ है महान् तथा चर्य का अर्थ है विचरण करना अर्थात् महान मार्ग पर विचरण करना। इसका एक अन्य अर्थ है वेद मार्ग पर चलना। इस आश्रम का मुख्य उद्देश्य विद्या की प्राप्ति करना था। सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य में तप तथा संयम द्वारा विद्यार्जन की प्रस्तावना रखी गई हैं ब्रह्मचर्य में दीक्षित हो जाने के बाद बालकों को ब्रह्मचारी कहा जाता था। ब्रह्मचारी के लिए कुछ नियम भी थे जैसे सन्ध्या के समय उपासना करना भोजन के समय शुद्ध जल का आचमन करना, दिन के समय शयन नहीं करना, क्रोध तथा मिथ्या भाषण नही करना। इसके अलावा भूमि पर शयन तथा अल्प आहार करना चाहिए ब्रह्मचारी को नित्य प्रातः और सांय को गायत्री जप करना चाहिए ब्रह्मचारी का जीवन अत्यन्त संयमी और नियमबद्ध था ब्रह्मचारी ज्ञान और सदाचार के अतिरिक्त किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता था। गुरू के सान्निध्य में रहकर उसे विभिन्न धर्म शास्त्रों को कण्ठस्थ करना पड़ता तथा अपनी जीविका को चलाने के लिए भिक्षावृत्ति करनी पडती। आश्रम में दीक्षित होने के बाद वह प्रथम भिक्षा अपनी माँ, बहन मौसी से ग्रहण करता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम का मूल उद्देश्य धर्म को सम्यक् रूप से बोधित करना था। इस समय वह व्याकरण, छन्द, धर्म निति, ज्योतिष का ज्ञान भी प्राप्त करता था। इसके अलावा वह अनेक विद्याओं में मुख्य रूप से ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद, पुराण, इतिहास, व्याकरण, राशि, गणित, विज्ञान दैव, विधि, समयज्ञान, आचार, राजनीति, देव विद्या, ज्योतिष, नक्षत्र विद्या नृत्य गान पारंगत होता था। ब्रह्मचारी के लिए अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, नियम, सोच, सन्तोष, तप स्वाध्याय आदि दैनिक आचरण के अंग थे। ब्रह्मचर्य में प्रवेश पाने के लिए उपनयन संस्कार किया जाता था। शूद्र के लिए यह संस्कार निषिध था। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश के लिए एक आयु होती जिसका समय 8 वर्ष से 24 वर्ष रखी जाती थी। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति समावर्तन संस्कार से होती। इस संस्कार के बाद ब्रह्मचारी गुरु दक्षिणा देकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का अधिकारी होता था।

7.6.2 गृहस्थ आश्रम– गृहस्थ आश्रम ऐहिक व पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करने तथा नियमकाल में यथा विधि ईश्वर उपासना और गृहकृत्य और सत्य धर्म में ही अपना तन, मन, धन लगाने और धर्मानुसार सन्तानोत्पति करने की गृहस्थ आश्रम में मनुष्य प्रवेश लेता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आश्रम व्यवस्था में गृहस्थ आश्रम का सर्वाधिक महत्त्व था। धर्म सूत्रों में तो यह भी कहा कि पहले एक ही आश्रम था वह था गृहस्थ आश्रम। इस आश्रम में 25 वर्ष की आयु के बाद प्रवेश किया जाता था। ऋग्वेद में इसमें प्रवेश के लिए स्वस्थ शरीर, विशाल ह्रदय, मेधावी तथा प्रसन्नचित इन चारो गुणों का होना आवश्यक बताया। इस प्रकार गृहस्थ आश्रम में अल्प आयु में प्रवेश करना निषेध था। मनुष्य जीवन के महत्त्व था। पुरुषार्थ अर्थ और काम की उपासना इसी आश्रम में की जाती थी। गृहस्थ के लिए निश्चित कर्त्तव्यों का विधान था इसमें सर्वप्रथम तो पति–पत्नि का सम्बन्ध परिवार के अन्य लोगो तथा समाज के लोगों के साथ सम्बन्ध अपने धर्म व कर्म के साथ निभाया जाता था। महाभारत में कहा गया है कि वह अपनी पत्नि के साथ अनुराग के साथ रहे। ऋतुकाल में भी अपनी पत्नि से समागम करे। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करें। शत्रुता और कुटिलता से दूर रहें। संयमित आहार ग्रहण करे। देवताओं की आराधना में तत्पर रहे। उपकार करते रहें। सत्य बोले। सबके प्रति मृदुता का भाव रखे। इन्द्रियों पर संयम रखे। गुरूजनो एवं शास्त्रों की आज्ञा माने। देवताओं और पितरो की तृप्ति के लिए हव्य ओर कव्य समर्पित करने में कभी भूल न होने दे। ब्रह्मणों को निरन्तर अन्न दान करें। गृहस्थी के लिए पांच महायज्ञों को पूर्ण करना अनिवार्य था। ये पांच महायज्ञ थे –

* **ब्रह्मयज्ञ** : जो ज्ञान में वृद्धि करता था तथा जिसमें अध्ययन और अध्यापन करना था।
* **पितृयज्ञ** : अपने मृत पिता व गुरूजनों के प्रति आदर भाव प्रदर्शित व तृप्त करने के लिए यह यज्ञ किया जाता था।
* **देवयज्ञ** : देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ में घृत (घी) मधु (शहद) एवं सुगन्धित सामग्री डालकर अग्नि प्रज्जवलित की जाती थी तथा अग्नि देवता के साथ अन्य देवताओं को इस यज्ञ द्वारा प्रसन्न किया जाता था।
* **भूतयज्ञ** : भूतयज्ञ के तहत सृष्टि के समस्त जीवधारियों को भोजन देकर तृप्त किया जाता था।
* **अतिथि यज्ञ** : इस यज्ञ में मानव कल्याण की भावना निहित थी द्वार पर आये प्रत्येक मनुष्य का स्वागत सम्मान एवं संस्कार करना। इस यज्ञ को सम्पादित करता था।

इस प्रकार गृहस्थ आश्रम का मूल उद्देश्य तो सन्तान व काम की उत्पत्ति थी किन्तु इसके अतिरिक्त गृहस्थ के सामाजिक कर्त्तव्य भी थे जो पारिवारिक व सामाजिक जीवन को उन्नत बनाते थे पुरुषार्थों की पूर्णता, ऋणों से मुक्ति, पंचमहा यज्ञों का सम्पादन, व्यक्तिगत एवं सामाजिक उत्थान आदि समस्त कार्य गृहस्थ आश्रम में ही पूर्ण होते थे।

7.6.3 वानप्रस्थ आश्रम– गृहस्थ आश्रम के उत्तरदायित्वों को पूरा करने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था सामान्यतया इसकी आयु 50 से 75 वर्ष थी। वानप्रस्थ का अर्थ होता है वन की ओर जाना या वन की ओर प्रस्थान करना वानप्रस्थ आश्रम का विधान केवल द्विजो के लिए था जो कि आर्यों में सबसे श्रेष्ठ थी। इस काल में मनुष्य को गृह त्याग कर सांसारिक जीवन को छोड़कर वन में वृक्ष आदि के नीचे रहकर कन्द–मूल आदि फल खाकर गुजारा करना पड़ता था। वानप्रस्थ में जाने के लिए मनुस्मृति में लिखा है कि ''गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला ओर श्वेत केश होते देखे और पुत्र का भी पुत्र हो जाये तब वन का आश्रय ले।'' सामान्यतया वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश का उद्देश्य तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए स्वयं को तैयार करना था। इस काल के दौरान तपस्वी को भ्रमण के समय एक गावं में एक रात्रि से अधिक ठहरना वर्जित था। वानप्रस्थी का जीवन साधनायुक्त तथा तपस्वी होता वह ब्रह्मचर्य तथा इन्द्रिय निर्वृत्ति के साथ–साथ सत्य और अहिंसा का भी पालन करता था और इन्हीं आचरणों के साथ वह मोक्ष की और उन्मुख हो सकता था। वानप्रस्थी के लिए कात्यायन, आश्वलायन तथा, स्त्रोत सूत्रों में दशपूर्ण मास यज्ञ करने को आदेश मिलता है। वानप्रस्थी के लिए कहा गया है कि वह वर्षाऋतु में खुले मैदान में शरद् ऋतु में जल के मध्य और ग्रीष्म काल में अपने चतुर्दिक अग्नि जलाकर पंचाग्नि साधना करें। इससे स्पष्ट होता है कि वानप्रस्थी का जीवन कठोर तथा तपोनिष्ठ होता था। उसे प्रत्येक दृष्टि से शारीरिक और मानसिक स्वयं को सन्यास के लिए तैयार करने का मार्ग अपने को कहा गया है।

7.6.4 संन्यास आश्रम– जीवन के अन्तिम भाग को संन्यास आश्रम के अन्तर्गत रखा गया है। संन्यासी के लिए भिक्षु तथा यति शब्द का प्रयोग मिलता है। इस आश्रम में संन्यासी को दूसरो के सहयोग के बिना एकाकी जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया गया। इस समय वह, सत्यनिष्ठ तथा क्रोधहीन तथा क्षमाशील होता। प्रत्येक सांसारिक वस्तु को त्यागकर वैराग्य को प्राप्त करना ही संन्यास आश्रम का अन्तिम ध्येय था। इस आश्रम में प्रवेश के समय ही यह जरूरी था कि उसकी दृष्टि जमीन पर हो और उसका अपने परिवार से किसी भी प्रकार का मोह ना रहें। विष्णुधर्म सूत्र में प्रजापति यज्ञ करने का आदेश मिलता है। संन्यासी के लिए अभय, अहिंसा आदि गुण आवश्यक थे। वैराग्य ग्रहण करना उसका कर्त्तत्य था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार संन्यासी के संन्यास आश्रम में प्रवेश करते ही उसके परिवार जन वाले उसका पूतला जलाकर उसकी अन्तेष्ठी क्रिया कर दी जाती थी और श्राद्ध कर्म आदि भी कर दिये जाते थे। वस्तुतः संन्यासी ईहलौकिक जगत की दृष्टि से मरा हुआ मान लिया जाता था।

7.7 आश्रम व्यवस्था का महत्त्व

आश्रम व्यवस्था प्राचीन सामाजिक संगठन की वह व्यवस्था थी जिससे व्यक्ति की जीवन यात्रा को योजना बद्ध तरीके से कई भागों में बांटा गया तथा प्रत्येक भाग के लिए आयु की एक सीमा और कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया। चारो पुरुषार्थों की पूर्ति आश्रम व्यवस्था में होती थी। धर्म के सभी पक्षों को सीखना और अभ्यास करना पड़ता था। गृहस्थ आश्रम में अर्थ और काम प्रमुख पुरुषार्थ थे। वानप्रस्थ आश्रम में धर्म व मोक्ष सबसे बड़ा पुरुषार्थ था। इसके अलावा आश्रम व्यवस्था का महत्त्व व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से था। इस व्यवस्था ने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल दिया।

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक आश्रम का केवल एक व्यवहारिक पक्ष ही नहीं बल्कि सामाजिक उपयोगिता मूलक पक्ष भी है। इन सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही आश्रम व्यवस्था का विकास नैतिक व धार्मिक आधारों पर सुदृढ़ बनाकर किया गया था।

7.8 सारांश

चारों आश्रम की व्यवस्था मनुष्य के जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष पर टिकी थी। प्रथम आश्रम में व्यक्ति ज्ञानार्जन करता था। द्वितीय आश्रम में व्यक्ति की आर्थिक ओर जीवोत्पत्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं और सन्तुष्टि होती है। तृतीय आश्रम में मनुष्य से यह आशा की जाती थी कि वह स्वार्थ और रागद्वेष से ऊपर उठता जाये। चतुर्थ आश्रम में व्यक्ति अनन्त के खोज में जीवन को व्यतीत करते हुए आत्मबोध प्राप्त करता था। भारत में यह धार्मिक मान्यता थी कि इन चारों आश्रमों का सम्यगतया नियमपूर्वक पालन कर लेने वाले व्यक्ति को निश्चय ही मोक्ष प्राप्त होता है।

मानव जीवन को संयमित, अनुशासित, ज्ञान सम्पन्न, पवित्र, कर्त्तव्य के प्रति संकल्पशील तथा अन्त में अनासक्त बना देने के लिए आश्रम व्यवस्था आदर्श उदाहरण है।

7.9 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1. इनमें से कौनसा ऋण नहीं है ?

(अ) पितृ ऋण (ब) ऋषि ऋण

(स) मातृ ऋण (द) देव ऋण

प्रश्न–2. आश्रम व्यवस्था के विकास क्रम को समझाइए ? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न–13. आश्रम व्यवस्था का सविस्तार विवेचन किजिए ? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–8 : 16 संस्कार, उपनयन एवं विवाह संस्कार के सन्दर्भ में

संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 भूमिका
8.3 संस्कार का अर्थ
8.4 संस्कारों का वर्गीकरण
8.4.1 गर्भाधान संस्कार
8.4.2 पुंसवन संस्कार
8.4.3 सीमन्तो नगन संस्कार
8.4.4 जातकर्म संस्कार
8.4.5 नामकर्म संस्कार
8.4.6 निष्क्रमण संस्कार
8.4.7 अन्न प्राशन्न संस्कार
8.4.8 चुडाकर्म संस्कार
8.4.9 कर्णछेदन संस्कार
8.4.10 विद्यारम्भ संस्कार
8.4.11 उपनयन संस्कार
8.4.12 वेदारम्भ संस्कार
8.4.13 केशान्त संस्कार
8.4.14 समावर्तन संस्कार
8.4.15 विवाह संस्कार
8.4.16 अन्त्येष्टि संस्कार
8.5 उगनयन संस्कार एवं विवाह संस्कार
8.6 उपनयन संस्कार – भूमिका
8.7 उपनयन संस्कार के नियम
8.7.1 आयु सीमा
8.7.2 समय
8.7.3 प्रारम्भिक कार्य
8.7.4 दण्ड
8.7.5 सावित्री मंत्र
8.7.6 भिक्षा
8.7.7 त्रिरात व्रत
8.8 विवाह संस्कार – भूमिका
8.9 विवाह का अर्थ
8.10 विवाह का उद्देश्य
8.10.1 धार्मिक उद्देश्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.10.2 सन्तानोत्पत्ति
8.10.3 रति सुख
8.10.4 सामाजिकरण
8.11 विवाह का वर्गीकरण
8.11.1 ब्रह्म विवाह
8.11.2 देव विवाह
8.11.3 आर्ष विवाह
8.11.4 प्रजापात्य विवाह
8.11.5 आसुर विवाह
8.11.6 गान्धर्व विवाह
8.11.7 राक्षस विवाह
8.11.8 पैशाच विवाह
8.12 विवाह की विधि
8.13 सारांश
8.14 अभ्यास प्रश्नावली

8.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए तथा जीवनोउन्नति के लिए संस्कारों का विशेष महत्त्व रहा है। वैदिककाल से ही मनुष्य जीवन में संस्कारों का असाधारण स्थान रहा है। मनुष्य जीवन में संस्कार एक सीढ़ी के समान है। तथा सोलह संस्कार उसके एक–एक चरण है जिनपर चलकर मनुष्य जीवन को सुव्यवस्थित एवं क्रमिक विकास करता हुआ। जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। जहाँ उपनयन संस्कार में शिष्य जनेऊ धारण करके उपाध्याय या गुरु के पास विद्याध्ययन के लिए जाता है। वही विवाह संस्कार संतानोत्पत्ति तथा काम व अर्थ पुरुषार्थ को पूर्ण करते हुए मोक्ष को प्राप्त करता है।

8.0 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारत के संस्कारों से छात्र–छात्राओं को अवगत कराना है। प्रस्तुत पाठ में प्राचीन कालीन समाज में वर्णित 16 संस्कारों का वर्णन किया गया है। ये संस्कार आज भी भारतीय संस्कृति में कुछ न कुछ अहमियत रखते हैं। आज भी मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक के विधानों को विभिन्न धार्मिक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता है यद्यपि वर्तमान में कई संस्कारों का प्रचलन लगभग समाप्त प्राय हो चुका है लेकिन फिर भी इन संस्कारों में भारतीय संस्कृति छुपी है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण भाग 'संस्कारों' को इस पाठ में विवेचित किया गया है इसके साथ ही पाठ्यक्रमानुसार 16 संस्कारों में से उपनयन संस्कार एवं विवाह संस्कार को विस्तार पूर्वक विवेचित किया गया है –

* पाठ को सुगमता एवं सरलता से समझने के लिए पाइ को दो भागों अ तथा ब में विभाजित किया गया है –
  (अ) में उपनयन संस्कार को तथा
  (ब) में विवाह संस्कार को विवेचित किया गया है।
* दोनों संस्कारों के मुख्य–मुख्य बिन्दुओं पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।
  इस प्रकार इस पाठ का मुख्य उद्देश्य 16 संस्कारों से छात्र–छात्राओं को अवगत कराना है।

8.2 भूमिका

आदर्श मानव जीवन के लिए भारतीय धार्मिक अनुष्ठानों में संस्कारों का विशिष्ट महत्त्व है। जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक धार्मिक क्रियाओं से युक्त संस्कार किये जाते हैं। भारतीय परम्परानुसार यह विचार प्रसिद्ध है कि जन्म से व्यक्ति शूद्र होता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परन्तु संस्कारों से वह द्विजत्व को प्राप्त करता है – 'जन्मना जायते शुद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'। भारत में व्यक्तिगत जीवन को सुव्यवस्थित करके पूर्णता की ओर ले जाने के लिए जिन धार्मिक क्रियाओं को अपनाया गया, संस्कार उनमें से एक है। भारतीय विचार में शुद्धता और पवित्रता को अच्छे चरित्र का मूलाधार स्वीकार किया गया है। इसलिए धार्मिक आधार पर व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध बनाने की दृष्टि से संस्कारों की अवधारणा ने जन्म लिया। सभी संस्कारों में अग्नि जल और मंत्रों का प्रयोग होता है इनके द्वारा अशुभ का नाश तथा शुभ का प्रादुर्भाव होता है। सभी धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि संस्कार शरीर को विशुद्ध कर आत्मा को उपयुक्त बनाते है। संस्कारों का मुख्य उद्देश्य पूर्वजन्म के बुरे प्रभावों का अन्त करना तथा अच्छे प्रभावों की उन्नति करना है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक के सौलह संस्कार बताये हैं। जिनका आगे विस्तार पूर्वक वर्णन किया जायेगा।

प्राचीन भारत में जिस प्रकार मनुष्य की आयु को चार भागों में विभाजित किया गया और आश्रम व्यवस्था प्रदान की गई उसी प्रकार जन्म से मृत्यु तक के विकास क्रम को विभिन्न संस्कारों द्वारा विभाजित किया गया। इन संस्कारों में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के प्रत्येक प्रथम कार्य को यज्ञ, हवन, पूजा आदि से पवित्र किया गया और उन्हें एक संस्कार का नाम दिया गया। ये 16 संस्कार कहलाये।

8.3 संस्कार का अर्थ

संस्कार शब्द की उत्पत्ति सम पूर्वक 'कृञ्' धातु से 'धञ्' प्रत्यय लगाकर होती है। जिसका अर्थ होता है शुद्धता या परिष्कार। अंग्रेजी भाषा में संस्कार के लिए 'सैक्रामेन्ट' शब्द प्रयुक्त किया जाता है जिसका अर्थ है 'धार्मिक विधान'। मीमांसा दर्शन धारा के अनुसार संस्कार का अर्थ 'विधिवत शुद्धी से है। संस्कार से मनुष्य जीवन उन्नत, परिष्कृत बनाया जाता था। परिणामस्वरूप इसमें यज्ञ, हवन, कर्मकाण्ड आदि की प्रधानता देवताओं को प्रसन्न करने के लिए एवं सुखमय जीवन बनाने के लिए की गई। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति एवं संस्कार शब्दों का शाब्दिक अर्थ एक ही है किन्तु वास्तविक दृष्टि से संस्कार साधन है और संस्कृति साध्य है। जीवात्मा जब एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में जन्म लेता है तो उसके पूर्वजन्म के प्रभाव उसके साथ जाते हैं। इन प्रभावों का वाहक सूक्ष्म शरीर होता है जो जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाता है। इनमें कुछ बुरे और भले प्रभाव होते हैं और संस्कारों का उद्देश्य बुरे प्रभावों का अन्त करके अच्छे प्रभावों को उत्पन्न करना है।

संस्कार के दो रूप होते हैं एक आन्तरिक तथा दूसरा बाह्य। बाह्य रूप का नाम रिति–रिवाज है जो कि आन्तरिक रूप की रक्षा करता है। संस्कार का अभिप्राय उन धार्मिक कृत्यों से भी था जो किसी व्यक्ति को अपने समुदाय को पूर्णरूप से योग्य संस्कार बनाने के उद्देश्य से उसके शरीर, मन और मस्तिष्क को पवित्र करने के लिए किये जाते थे। संस्कार प्राचीन हिन्दु समाज के व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक को बन्धित किया गया था ये मान्यता थी कि संस्कार से व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक बौद्धिक विकास के साथ–साथ आत्मा का शुद्धीकरण होता है। इस प्रकार संस्कार का उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक पहलु को शुद्ध करना था।

8.4 संस्कारों का वर्गीकरण

स्मृति साहित्य एवं शुद्र साहित्यों में संस्कारों का उल्लेख मिलता है। विभिन्न विद्वानों ने इनकी संख्या अलग–अलग बताई। गौतम धर्मसूत्र में इसकी संख्या 40, मनुस्मृति में 17 संस्कारों का उल्लेख किया गया है। लेकिन विभिन्न विद्वानों ने 16 संस्कारों को बहुमत से मान्यता प्रदान की है। जो इस प्रकार से हैं –

8.4.1 गर्भाधान संस्कार – गर्भाधान संस्कार में संतान की कामना द्वारा स्त्री के गर्भ में पुरुष द्वारा संतान्नोत्पत्ति का बीजारोपण किया जाता था। सन्तान उत्पन्न करने का अर्थ पुत्र को जन्म देना है। बच्चे का जीवन उसके गर्भ में आने से प्रारम्भ होता है। इस संस्कार में प्रत्यक्ष रूप से माता–पिता की शुद्धी होती है किन्तु लोगों की धारणा है कि माता–पिता के संस्कार से गर्भ में आने वाले शिशु का संस्कार भी हो जाता था।

8.4.2 पुंसवन संस्कार– गर्भाधान के तीसरे माह में पुंसवन संस्कार किया जाता था। ये संस्कार सन्तान के रूप में पुत्र प्राप्ति के लिए किया जाता था। वायु पुराण में इस संस्कार का उद्देश्य तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति करना था।

8.4.3 सीमन्तो नयन संस्कार– इस संस्कार से दुष्ट शक्तियों से माँ और बालक की रक्षा की जाती थी। आश्वलायन, बौधायन, भारद्वाज गृहसूत्रों के अनुसार इसे चौथे, छठे व आठवे माह में सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार में गर्भवती स्त्री के केशो को ऊपर उठाया जाता था इसलिए इस संस्कार को सीमन्तो नयन संस्कार कहा जाता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.4.4 जातकर्म संस्कार— मनुस्मृति के अनुसार यह संस्कार पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त नाभि छेदन से पहले किया जाता था। इसका प्रयोजन पितरो का सम्मोदन करना था।

8.4.5 नामकरण संस्कार— यह बच्चे के जन्म के 10 दिन बाद या कुछ दिन बाद किया जाता था। इस संस्कार के आयोजन में शुभ तिथि, नक्षत्र, शुभ मुहुर्त आदि को विशेष महत्त्व दिया जाता था। नामकरण पिता के द्वारा किया जाता था। नामकरण द्वारा बालक की सद्वृत्तियां प्रतिष्ठित होती थी और यह विश्वास किया जाता था कि बालक बड़ा होने पर अपने नाम के अनुसार आचरण करेगा।

8.4.6 निष्क्रमण संस्कार— जन्म के उपरान्त प्रथम बार सन्तान को बाहर कहीं ले जाने पर यह संस्कार किया जाता था। मनुस्मृति में सन्तान को जन्म से चौथे माह में निष्क्रमण बताया है।

8.4.7 अन्न प्राशन्न संस्कार— जब शिशु पांच माह का हो जाता था तो उसे पहली बार अन्न का आहार दिया जाता था और यहीं संस्कार अन्नप्राशन्न संस्कार के रूप में निहित है।

8.4.8 चुडाकर्म संस्कार— इस संस्कार में पहली बार शिशु के केशों को काटा जाता था इसलिए इसे मुण्डन या केशोछेदन संस्कार भी कहा जाता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार "माता–पिता ब्राह्मण को भोजन कराकर बालक को स्नान कराकर उसे नवीन वस्त्र पहनाकर गोद में लेकर माँ अग्नि के पश्चिम की ओर बैठती थी। अग्नि में देवताओं को आहुति देने के पश्चात बालक के बालों का चुडाकर्म संस्कार किया जाता था।

8.4.9 कर्णछेदन संस्कार— यह संस्कार वैदिक काल से ही चलता आ रहा है। इस संस्कार द्वारा सूई की नोक से छेद किया जाता था और उसमें सोने की बाली पहना दी जाती थी।

8.4.10 विद्यारम्भ संस्कार— इस संस्कार के द्वारा विधिवत काष्ठ की तख्ती की पूजा की जाती थी। इस संस्कार में शिक्षक ऊँ स्वास्तिक या अन्य कोई देवी–देवता के नाम, तत्पश्चात वर्णमाला के कुछ अक्षर लिखाता।

8.4.11 उपनयन संस्कार— यह संस्कार समस्त संस्कारों में महत्त्वपूर्ण है। इसी संस्कार से व्यक्ति को द्विजत्व प्राप्त होता है। इस संस्कार में बालक के जनेऊ धारण कराया जाता था और इस संस्कार से वह ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था।

8.4.12 वेदारम्भ संस्कार— इस संस्कार में शास्त्रीय विधि द्वारा वेदो का अध्ययन कराने का विधान था। वेद पवित्र ग्रन्थ थे। अतः अध्ययन करने से पूर्व यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इसके लिए आचमन करके ब्रह्माञ्जली बान्धकर, हल्के वस्त्र धारण करके जिनेन्द्र होना पड़ता था। मनु ने लिखा है कि वेदारम्भ प्रारम्भ करने से पूर्व तथा अन्त में ऊँ का उच्चारण करना चाहिए।

8.4.13 केशान्त संस्कार— इस संस्कार में पहली बार दाढ़ी–मूछ का क्षौरकर्म किया जाता था।

8.4.14 समावर्तन संस्कार— वेदाध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार किया जाता था तथा यह ब्रह्मचर्य व्रत जीवन की समाप्ति का बोधक संस्कार है। इस संस्कार का अर्थ है गुरु के गृह से घर लौट आना।

8.4.15 विवाह संस्कार— हिन्दु संस्कारों में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। यहां से व्यक्ति का सामाजिककरण होकर उसके उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्तित्व का प्रारम्भ होता था।

8.4.16 अन्त्येष्टि संस्कार— हिन्दु जीवन का अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि हें यह इस विश्वास पर आधारित है कि आत्मा पुनर्जन्म धारण करती है। इस संस्कार में मृत्यु के आगमन और दाह क्रिया के पूर्व कई कर्म करने का विधान है।

इस प्रकार भारतीय संस्कारों में 16 संस्कारों का महत्त्व है। यद्यपि प्राचीन काल से ही ये संस्कार चले आ रहे है और आज भी परम्परागत हिन्दु संस्कारों में इन संस्कारों को माना जाता है।

8.5 उपनयन संस्कार एवं विवाह संस्कार

संस्कारों के मुख्यतः दो उद्देश्य रहे हैं। पहला उद्देश्य बुरे प्रभावों को समाप्त कर अच्छे प्रभाव को सामने लाना तथा दूसरा मुख्य उद्देश्य संस्कारों के द्वारा संसार के और परलोक के जीवन को पवित्र करना था और इसी उद्देश्य से सौलह संस्कारों का प्रयोजन था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्राचीन भारतीयों का विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य शुद्ध उत्पन्न होता है और उसे आर्य बनने से पूर्व शुद्धी या संस्कार की आवश्यकता होती है। इसी उद्देश्य से उपनयन संस्कार किया जाता था। इसी तरह संस्कार का एक सांसारिक उद्देश्य पुत्र या सन्तान्नोत्पत्ति के द्वारा अपने वंश की वृद्धि करना तथा देवताओं के लिए यज्ञ करना भी था। मनुष्य के अनुसार इस संसार में बिना विवाह के स्त्री–पुरुष के सम्बन्ध उचित नहीं है और सन्तानोत्पत्ति द्वारा ही मनुष्य इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार पाठ्यक्रमानुसार 16 संस्कारों में उपनयन स्स्कार तथा विवाह संस्कार को विस्तारपूर्वक विवेचित करना है। अतः उपनयन संस्कार को भाग अ और विवाह संस्कार को भाग ब में विवेचित किया जा रहा है। जो इस प्रकार हैं–

(अ) उपनयन संस्कार

8.6 भूमिका

16 संस्कारों में उपनयन संस्कार सबसे महत्त्वपूर्ण है। उपनयन संस्कार प्राप्त करने के बाद ही व्यक्ति संस्कृत का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यहीं से ब्रह्मचर्य आश्रम भी प्रारम्भ होता है। ब्रह्म विद्या की शिक्षा के लिए आचार्य के द्वारा विद्यार्थी को स्वीकार किये जाने के संस्कार को उपनयन संस्कार कहते हैं। उपनयन का अर्थ होता है निकट ले जाना, उपहार भेंट, जनेऊ आदि जिस कर्म के दौरान कुमार को (युवा) आचार्य कुल में ले जाया जाता वही उपनयन संस्कार था। इस संस्कार का उद्गम भी प्राचीन है। प्रत्येक वर्ग के लिए इस संस्कार के नियम पृथक–पृथक थे।

8.7 उपनयन संस्कार के नियम

8.7.1 आयु सीमा– उपनयन संस्कार विभिन्न वर्णों के लिए अलग–अलग आयु सीमा निश्चित थी। ब्राह्मण के लिए उपनयन संस्कार की सीमा आठवें वर्ष में क्षत्रिय के लिए ग्याहरवें वर्ष में तथा वैश्य के लिए बारहवें वर्ष में विधान था। इसकी पुष्टि पारस्कर गृहसूत्र, बौद्यायन गृह्यसूत्र और मनुस्मृति में होती है। अधिक ज्ञान प्राप्ति के लिए इसकी आयु सीमा घटती तथा बढ़ती रहती अर्थात् पांचवे, छठे या आठवें वर्ष में भी इस संस्कार को किया जा सकता था। इसी प्रकार उपनयन संस्कार की अधिकतम सीमा भी निश्चित थी। ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाईस वर्ष, वैश्य के लिए चौईस वर्ष निश्चित थी इस आयु का उल्लघन करने पर उन्हें दण्डित भी किया जाता था और व्रात्य कहा जाता था।

8.7.2 समय – इस संस्कार को सम्पन्न करने का समय भी निश्चित था। इसके लिए सूर्य की उत्तरायण की स्थिति में यह संस्कार किया जाता था लेकिन वैश्य बालक के लिए सूर्य की दक्षिणायन स्थिति में सम्पन्न किया जाता था। इस प्रकार तीन वर्णों के स्वभाव के अनुसार ही इनका समय निश्चित किय गया। ब्राह्मणों के लिए बसंन्त ऋतु, क्षत्रियों के लिए ग्रीष्म तथा वैश्यों के लिए शरद् ऋतु में उपनयन संस्कार शुभ मानते थे। इस प्रकार मनुस्मृति, पारस्कर गृह्यसूत्र आदि में उपनयन संस्कार के समय को विवेचित किया गया।

8.7.3 प्रारम्भिक कार्य – उपनयन संस्कार से पहले दिन अनेक पौराणिक कृत्य किए जाते थे। जिनमें गणेश, लक्ष्मी, धृति, पुष्टि, सरस्वती आदि की स्तुति एवं आवाहन होता था। पूर्व रात्री को बालक के सारे शरीर पर हरीद्रा का लेप किया जाता था तथा सारी रात वह मौन रहता था। अगले दिन प्रातः काल बालक और उसकी माता साथ–साथ भोजन करते थे। तदन्तर माता–पिता उस बालक को वेदिका में प्रज्ज्वलित अग्नि के समीप ले जाते थे। वहां ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। इस समय बालक का केशान्त या गोदान संस्कार होता था तथा स्नान कराया जाता था। ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था– वासरन् तथा उत्तरीय। उसके पश्चात् ब्रह्मचारी की कमर में आचार्य मेखला बांधता तत्पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र दिया जाता था जो कि उपनयन संस्कार का महत्वपूर्ण अंग होता था। यज्ञोपवित भी त्रिसूत्री होता था। उसके तीनो सूत्र सत्व, रजस और तमस का संकेतक है और ये तीनों सूत्र इस बात का स्मरण कराते थे कि उसे देव, पितृ और ऋषि ऋण चुकाना है।

8.7.4 दण्ड– ब्रह्मचारी उपनयन संस्कार में अपने वर्ण के अनुसार भिन्न–भिन्न लकड़ी का दण्ड धारण करता था व्यवहारिक दृष्टि से यह दण्ड सहारे के लिये, गुरु की पशुओं से रक्षा के लिये पथ, प्रदर्शन के लिए प्रयोग किया जाता था।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित वस्त्र, मेखला, यज्ञोपवित, दण्ड आदि धारण करने के पश्चात् आचार्य ब्रह्मचारी को अपनी अंजली से पानी डालता हुआ गायत्री मंत्र का उच्चारण करता था तत्पश्चात् अनुशासन दृढ़ निश्चय तथा त्रुटि रहित कर्त्तव्य पालन के लिये आचार्य ब्रह्मचारी को सूर्य दर्शन करता था। आचार्य छात्र का स्पर्श करता हुआ बृहस्पति का आहवान करता है और छात्र को एक पत्थर पर खड़ा करके ज्ञान प्राप्ति के प्रति दृढ़निश्चय व बल सम्पन्न होने का पाठ पढ़ाता है। आचार्य बालक को ब्रह्मचर्य रूप में ग्रहण करने के पश्चात् उसे इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, सविता, हवा, पृथ्वी समस्त भूतादि की संरक्षण में देता हुआ देव विभूतियों से सम्पन्न कर देता है तत्पश्चात् अग्नि की प्रदक्षिणा कराते हुए उसे अनुशासित कराता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.7.5 सावित्री मंत्र– सम्पूर्ण उपनयन संस्कार में सावित्री मंत्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है इस मंत्र का बालक को दिया जाना इस बात का द्योतक है कि आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को विद्याध्ययन के लिये उसे स्वीकार कर लिया गया है। यह मंत्र वैसे तो उपनयन संस्कार के दिन ही दिया जाता था लेकिन किसी कारण वश वह उस दिन नहीं दिया जाये तो तीन दिन, बारह दिन, चौबीस दिन एवं छह माह या एक वर्ष के उपरान्त भी दिया जा सकता था। इस मंत्र के तहत् आचार्य बालक की ओर देखते हुये सावित्री मंत्र का एक पद तत्पश्चात् दो पद अन्त में पूरे मंत्र का उच्चारण करता था।

8.7.6 भिक्षा– उपयुक्त क्रिया हो जाने के पश्चात् ब्रह्मचारी, भिक्षा मांगता था जो इस बात का प्रतीक था कि वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन में भिक्षा के द्वारा ही आजीविका का निर्वहन करेगा। सर्वप्रथम वह उनसे भिक्षा मांगता था, जो उसको मना करके अपमान न कर दे भिक्षा लाकर ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से उस भोजन रूपी द्रव्य को ग्रहण करता था। भिक्षावृत्ति भी वर्ण के आधार पर आधारित थी यदि कोई ब्राह्मण बालक ब्रह्मचारी होता तो भिक्षा मांगने के समय वह 'भवति माता भिक्षां देहि' का उच्चारण करता क्षत्रिय बालक ''माता भवति भिक्षां देहि'' एवं वैश्य होने पर ''माता भिक्षां देहि भवति'' का उच्चारण करता।

8.7.7 त्रिरात्र व्रत– कई ग्रन्थों में उपनयन संस्कार के तहत त्रिरात्र व्रत का उल्लेख मिलता है। यह व्रत 12 दिन या एक वर्ष में सम्पन्न होता था इसमें तीन नियमों का पालन किया जाता था। यह कठिन जीवन यापन की पूर्व भूमिका थी ये तीन नियम थे – नमक न खाना, दिन में न सोना एवं भूमि पर शयन करना।

इस प्रकार उपनयन संस्कार से व्यक्ति का पूर्ण विकास होता है जीवन में शिक्षा व ज्ञान के महत्त्व को ध्यान में रखते हुये ही यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था प्रारम्भ में जहां उपनयन संस्कार के लिये गुरु आश्रम ही प्रमुख था वहीं धीरे–धीरे समयानुसार उसमें कुछ परिवर्तन हुये और वर्तमान में गुरु आश्रम का महत्त्व लगभग समाप्त हो चुका है और उपनयन संस्कार का मतलब केवल जनेऊ धारण करना रह गया है इस प्रकार उपनयन संस्कार का महत्त्व इस बात को दर्शाता है कि मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये यज्ञ की आवश्यकता होती और यज्ञ करने का अधिकार उन्हें होता जिन्हें वेदो का ज्ञान होता और वेदाध्ययन का संस्कार यज्ञोपवित करने के पश्चात् किया जाता था। यज्ञोपवित संस्कार उपनयन संस्कार से सम्पन्न होता था जिसका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को ही था।

(ब) विवाह संस्कार

8.8 भूमिका

हिन्दु संस्कारों में विवाह संस्कार को विशेष महत्त्व प्राप्त है। इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश होता है। पारस्कर गृहसूत्र में विवाह संस्कार के अन्तर्गत वाक्दान, वर–वरण, कन्यादान, विवाह होम, पाणिग्रहण हृदयस्पर्श, सप्तपदी, अश्मारोहण, सूर्यावलोकन आदि कार्य सम्पादित किये जाते थे। जब अग्नि के चारो तरफ वर–वधू के पीछे तीन बार इस प्रकार घूमता था कि जल से पूर्ण घट उसके दाहिने हाथ की और रहता उसे अग्नि परिणयन कहते थे। हिन्दु व्यवस्थाकारों ने विवाह को समाज अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बताया है। इसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति तथा अपने धर्म का पालन करना है। मनुष्य जीवन के चार आश्रमों में गृहस्थ आश्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसी में रहकर वह अर्थ और काम दो पुरुषार्थो की पूर्ति कर सकता है।

8.9 विवाह का अर्थ

विवाह शब्द की उत्पत्ति ले जाना शब्द से हुई है। साधारणतः विवाह का अर्थ है वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप में ले जाना अथवा पत्नि बनाने के लिए ले जाना। विवाह के लिए संस्कृत साहित्य में अनेक शब्द आते है जैसे उद्वाह, परिणय, पाणिग्रहण आदि। उद्वाह का अर्थ है वधू को पिता के घर से ले जाना। परिणय का अर्थ है चारो ओर घूमना अर्थात् अग्नि की परिक्रमा या प्रदक्षिणा करना। पाणिग्रहण का अर्थ है वधू का हाथ ग्रहण करना।

8.10 विवाह का उद्देश्य

ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने, देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही विवाह संस्कार किया जाता है। यद्यपि अलग–अलग ग्रन्थों में विवाह के अलग–अलग उद्देश्य बताये गये है। विवाह द्वारा स्त्री पुरुष अनियन्त्रित काम प्रवृत्ति नियन्त्रित होकर दोनो को शारीरिक, मानसिक, ईहलौकिक पारलौकिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक प्रवृत्ति प्रदान करती है। धर्म सन्तान एवं काम की सन्तुष्टि विवाह संस्कार से ही सम्पन्न होती है। विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित इसके उद्देश्यों को निम्नलिखित चार भागों में बांटा जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.10.1 धार्मिक उद्देश्य– भारतीय संस्कृति के सबसे प्राचीन व पवित्र ग्रन्थ वेदो में वर्णित है कि किसी भी धार्मिक कृत्य को करने के लिए स्त्री व पुरुष दोनो का होना आवश्यक है चाहे वह यज्ञ हो, हवन हो या पूजा हो। ऋग्वेद में वर्णित है कि देवताओं के पूजन में पति–पत्नी एक–दूसरे के सहायक होते है। तैत्तिरिय ब्राह्मण के अनुसार पत्निहीन पति यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकारी नहीं हो सकता। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में पत्नि पति के आधे भाग की पूरक बताया है। पुराणों में भी बताया है कि किसी भी धार्मिक कार्य को पूरा करने के लिए पति–पत्नि दोनो का होना जरूरी है। पुराणों में उल्लेख मिलता है कि धर्म, अर्थ, काम तथा पुत्र की प्राप्ति पति–पत्नि के सहयोग से होती है। इस प्रकार बिना स्त्री के पुरुष को किसी भी धार्मिक कृत्य का फल नहीं मिलता था। इस प्रकार विवाह का प्रथम उद्देश्य धार्मिक फल प्राप्त करना हो सकता था।

8.10.2 सन्तानोत्पत्ति– विवाह का दूसरा उद्देश्य उत्तम एवं धार्मिक सन्तान उत्पन्न करना था। मनुस्मृति में माता बनने के लिए स्त्रियों की तथा पिता बनने के लिए पुरुषों की सृष्टि हुई है। अतः धर्म का आचरण स्त्री और पुरुष दोनो को मिलना चाहिए। यही कारण है कि विवाह करना स्त्री व पुरुष दोनो के लिए अत्यन्त आवश्यक है। पितृऋण कर्त्तव्य चुकाने के कलिए पुत्र रूप में सन्तान होना आवश्यक है और तभी यह पितृ ऋण से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति तीन ऋणों तथा यज्ञों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है जिनके लिए विवाह महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

8.10.3 रति सुख– प्राचीन व्यवस्थाकारों ने रति सुख को मनुष्य के लिए आवश्यक निर्धारित करते हुए उसे विवाह के उद्देश्य में गौण महत्त्व दिया है। कामसुख की प्राप्ति के लिए विवाह सुसभ्य माध्यम है। मनु ने रति सुख को विवाह के उद्देश्य में प्रधान बताया है। इस प्रकार रति सुख भी विवाह संस्कार के उद्देश्यों में एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य कहा जा सकता है।

8.10.4 सामाजीकरण– आधुनिक समाज में भी प्राचीन काल की भांति अविवाहित स्त्री व पुरुष को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। विवाहित होना आचरण और चरित्र का प्रमाण माना जाता है। हर्ष चरित्र में एक प्रसंग में कहा गया है कि जब हर्ष ने बाण पर दुष्चरित्र होने का आरोप लगाया तो उसने चरित्रवान होने के प्रमाण स्वरूप स्वयं को विवाहित बताया। इस प्रकार विवाह का उद्देश्य स्त्री–पुरुष का सामाजीकरण करके उन्हें आदर और सम्मान का अधिकारी बनाना था।

8.11 विवाह का वर्गीकरण

सभी धर्म शास्त्रकारों ने आठ प्रकार के विवाह का उल्लेख किया है। इन धर्मशास्त्रकारों में गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य आदि प्रमुख है। इन्होंने आठ प्रकार के विवाह बताये है जो इस प्रकार है –

8.11.1 ब्रह्म विवाह– मनु के कथनानुसार जब कन्या को अलंकार आदि से दहेज सहित पिता किसी योग्य, शीलवान वर को बुलाकर कन्या प्रदान करता है तब ब्रह्म विवाह कहलाता है। इसका मुख्य उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक कर्त्तव्यों के पालन द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना।

8.11.2 देव विवाह– जब यज्ञ करने वाले ऋत्विज को वस्त्रालंकार से विभूषित कन्या दी जाती है तो वह देव विवाह कहलाता है। यह प्राचीन भारतीय समाज में बहुत अधिक महत्त्व रखता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि विवाह के इस प्रकार में पिता के द्वारा कन्या ऐसे पुरोहित को दे दी जाती थी जो कन्या के पिता के लिए यज्ञ कराता था। महाभारत में भी इस विवाह का उल्लेख मिलता है।

8.11.3 आर्ष विवाह– किसी ऋषि से एक गाय, एक बैल अथवा एक जोड़ा बैल लेकर उसके बदले में कन्या देना आर्ष विवाह कहलाता था। गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि गुणवान वर से एक या दो गौयुगल लेकर जब पिता धर्मानुसार अपनी कन्या प्रदान कर देता तब वह आर्ष विवाह कहलाता। इस विवाह से उत्पन्न सन्तान को प्रज्ञावान माना जाता है।

8.11.4 प्राजापात्य विवाह– गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि जब पिता उपयुक्त वर को अपनी कन्या देते हुए यह कहता है – "तुम दोनो साथ–साथ मिलकर धर्माचरण करो।" तो वह प्राजापात्य विवाह कहलाता है। उसका दूसरा नाम पर्जन्य भी है इसका मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति के लिए विशेष रूप से पति–पत्नि का मिलन होना है।

8.11.5 आसुर विवाह – गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि कन्या के माता–पिता अथवा अभिभावक को सामर्थ्य अनुसार उचित मूल्य देकर वधू प्राप्त करना आसुर विवाह कहलाता है। महाभारत में इस प्रकार के विवाह के कई उदाहरण मिलते है। कैकई को राजा दशरथ ने क्रय करके ही पत्नि बनाया इस विवाह में वर के द्वारा कन्या का शुल्क दिया जाता था।

8.11.6 गान्धर्व विवाह– जब लड़का एवं लड़की प्रेम के वशीभूत होकर विवाह करते तो वह गान्धर्व विवाह कहलाता। मनुस्मृति में लिखा है कि जब कन्या एवं पुरुष प्रेमवश होकर माता–पिता की आज्ञा के बिना विवाह कर लेते थे तो उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता था। वात्स्यायन ने इस प्रकार के विवाह को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.11.7 राक्षस विवाह– गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि जब कन्या पक्ष के जनों को घायल कर के या मार कर या रोती चिल्लाती हुई कन्या को बलपूर्वक हरण करके ले जाना राक्षस विवाह कहलाता है। स्त्री का हरण करके उससे विवाह कर लेने की प्रथा राक्षसों में सर्वाधिक प्रचलित थी और सम्भवतः इसी से इस विवाह का नाम राक्षस विवाह पड़ा।

8.11.8 पैशाच विवाह– सोती हुई सुध–बुध हीन अथवा उन्मत कन्या को कामवासना की तृप्ति के लिए अपनाये जाने को पैशाच विवाह कहा जाता है। याज्ञवल्क्य ने छल–कपट द्वारा किये जाने वाले विवाह को इस श्रेणी में रखा है। महाभारत में इस विवाह को जघन्य, अधर्म एवं निन्दित बताया है। यह विवाह सबमें निन्दनीय है। इस प्रकार प्राचीन काल में आठ प्रकार विवाह का उल्लेख मिलता है जिनमें से ब्रह्म, देव, प्राजापात्य आर्ष विवाह धर्म्य और प्रशस्त माने गये है। जबकि अन्य चार प्रकार अप्रशस्त माने गये है। राक्षस और पैशाच विवाह को निन्दनीय अधार्मिक कृत्य बताया है। इनके अतिरिक्त अन्तर्जातीय और अन्तवर्ण, अनुलोम–प्रतिलोम विवाह प्रचलित था इसके अलावा बहुविवाह, बालविवाह, नियोग प्रथा भी वैवाहिक विधियों में प्रचलित थी।

8.12 विवाह की विधि

विवाह संस्कार में वैवाहिक विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर एवं वधु के चयन के बाद यह विधि प्रारम्भ हो जाती है। प्रारम्भ में यह विधि एकदम सरल होती थी, लेकिन वर्तमान में यह अधिक जटिल हो गई उनमें अनेक विधि–विधानों का समावेश होने लगा ऋग्वेद में विवाह विधि के लिये बताया है कि जिसमें परिवार की सहमति, पाणिग्रहण, अग्नि का सामुख्य, वाग्दान, पतिगृहगमन, वधुस्वागत, आशीर्वाद समारोह, सहवास होता है और यह सभी ऋग्वेद में वर्णित विवाह की विधियां है इसी प्रकार अथर्ववेद व अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। शुद्र साहित्यों में तीन विधियों का उल्लेख मिलता है।

1. प्रारम्भिक कृत्य : मांगलिक दिवस का चयन, वाग्दान, मण्डपकार्य, वैवाहिक स्थान, वरयात्रा और परस्पर मेल मुलाकात और मधुपर्क।

2. मूल आवश्यक कृत्य : कन्यादान, वैवाहिक होम, पाणिग्रहण, अग्नि परिक्रमा आदि।

8. मांगलिक कृत्य : सूर्य हृदय स्पर्श, वधु का आशीर्वाद, वृषभ की चमड़ी पर वधु को बैठाना, विवाह दक्षिणा, गुरु दर्शन, अरू–दर्शन, वधु को वर के घर ले जाना, गृह प्रवेश होना आदि। इस प्रकार विवाह संस्कार सम्पन्न होता था। प्राचीनकालीन विवाह संस्कारों में परिवर्तन होते–होते वर्तमान में उसका स्वरूप दृष्टिगत होता है। वर्तमान विवाह संस्कार में प्राचीनकालीन विवाह संस्कारों के अंश स्पष्टतः परिलक्षित होते है लेकिन विवाह संस्कार का मुख्य उद्देश्य आज भी वही है जो प्राचीनकाल में प्रचलित था।

8.13 सारांश

विभिन्न संस्कारों के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में संस्कारों की योजना एक विशिष्ट प्रयोजन से की गई थी गर्भ स्थिति से मृत्यु के पश्चात तक व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास और परिष्करण के लिए विभिन्न संस्कारों की परिकल्पना की गई। इन संस्कारों में उपनयन संस्कार एवं विवाह संस्कार को सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त है। जहां उपनयन संस्कार से ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता है वही विवाह संस्कार से गृहस्थाश्रम। जीवन में शिक्षा एवं ज्ञान के महत्त्व को सूचित करने के लिए उपनयन संस्कार की विविध विधियों का विधान किया गया। इसी प्रकार माता–पिता के ऋण से मुक्त होने के लिए तथा धार्मिक कार्यो के सम्पादन के लिए विवाह संस्कार का विधान है। वर्तमान युग में उपनयन संस्कार का प्राचीन स्वरूप लगभग समाप्त प्रायः हो चुका है। उपनयन का अर्थ केवल जनेऊ धारण करना रह गया है वही प्राचीनकाल में विवाह की अनेक विधियां प्रचलन में थी वर्तमान में विवाह संस्कार में भी काफी परिवर्तन आ गया है अब विवाह–विच्छेद के प्रसंग अधिक देखने को मिलते हैं। विवाह–विच्छेद की इस बहुलता के कारण विवाह संस्कार की धर्मिकता को बहुत हानि पहुंची है।

8.14 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 हिन्दु धर्म ग्रन्थों के मान्यतानुसार संस्कारों की संख्या निश्चित किजिए ?

(अ) 20 (ब) 40 (स) 16 (स) 17

प्रश्न –2 निम्न में से किन्ही तीन पर टिप्पणी किजिए।

1. गर्भाधान संस्कार, 2. केशान्त संस्कार, 13. आर्ष विवाह, 4. गान्धर्व विवाह।

प्रश्न – 3 संस्कार का अर्थ बताते हुए उपनयन संस्कार अथवा विवाह संस्कार में से किसी एक को विस्तारपूर्वक बताइये ? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–9 : पुरुषार्थ

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 भूमिका
9.3 'पुरुषार्थ' का अर्थ
9.4 पुरुषार्थ के आधार
  9.4.1 धर्म
  9.4.2 अर्थ
  9.4.3 काम
  9.4.4 मोक्ष
9.5 पुरुषार्थ का महत्त्व
9.6 सारांश
9.7 अभ्यास प्रश्नावली

9.0 प्रस्तावना

हमारे प्राचीन ऋषि–मुनियों ने मानव जीवन के चार उद्देश्य बताये है, वे हैं–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। मोक्ष जीवन का अन्तिम उद्देश्य है और शेष पुरुषार्थों में धर्म का स्थान सर्वोपरि है क्योकि इसका अभिप्राय व्यक्ति के आचरण व कर्त्तव्य से है। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह धर्म, नैतिकता आचार की शिक्षा प्राप्त करता है। गृहस्थ आश्रम में वह अर्थ और काम को भोगता है। इस प्रकार गृहस्थ आश्रम सौन्दर्य प्रियता और काम भावना की तृप्ति करता है और अर्थ तथा काम के माध्यम से मनुष्य सांसारिक जीवन में सफलता प्राप्त करता है। भारतीय विचारकों का कहना है कि अर्थ और काम का सेवन भी धर्मानुसार किया जाना चाहिए। मोक्ष प्राप्ति के लिए तीनो पुरुषार्थों में समन्वय होना चाहिए। वानप्रस्थ ओर संन्यास आश्रम मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रस्तुत करते है। इन पुरुषार्थों की सफल साधना ही मानव जीवन का लक्ष्य माना गया है और इनकी सफल साधना करने के लिए पुरुषार्थों का प्रावधान रखा गया है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति पर व्यक्ति के जन्म–मरण का चक्र समाप्त हो जाता है और यही चारो पुरुषार्थ है।

9.1 उद्देश्य

पुरुषार्थ पाठ में मनुष्य के जन्म से लेकर मोक्ष तक के विभिन्न सोपानो का उल्लेख किया गया है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है और मोक्ष की प्राप्ति के लिये धर्म अर्थ एवं काम को मनुष्य के जीवन में अनिवार्यता प्रदान की गई है। पुरुषार्थ इकाई को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया गया हैं –

- धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण से है धर्म से आचरण की शुद्धता होती है।
- जीवन निर्वाह के लिये अर्थ आजीविका का साधन है।
- काम पति–पत्नि में आध्यात्मिकता प्रेम तथा परोपकार की भावना का विकास करता है।
- सांसारिक जीवन से निवृत्ति और आध्यात्मिक मार्ग की ओर उन्मुख होते हुये जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना एवं आवागमन के चक्र से मुक्ति पाना पुरुषार्थ है यही इस इकाई में विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

9.2 भूमिका

प्राचीन भारतीय समाज में पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व था। मनुष्य ईश्वर की सबसे अमूल्य निधि या रचना कहीं जाती है। इस आधार पर मनुष्य की पूर्णता को ध्यान में रखते हुए उसके जीवनयापन की जो सरल विधि अपनाई गई या जीवन निर्धारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की जो प्रणाली अपनाई गई वह पुरुषार्थ कहलायी। पुरुषार्थ के आधार पर व्यक्ति एवं समाज दोनो का विकास निर्धारित था। मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष को हिन्दु दार्शनिकों ने जीवन को चार आधारो में बांटा है जिनमें से अर्थ और काम भौतिक सुख हेतु तथा धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक पक्ष से जुडे है और इन चारो के सन्तुलित समन्वय से जिस आदर्श और शक्तिमान मानव जीवन की रचना होती है उसी को पुरुषार्थ कहा है। पुरुषार्थ उस सार्थक जीवन शक्ति का द्योतक है जो व्यक्ति को सांसारिक सुख भोग के बीच अपने धर्म पालन के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष की राह दिखाता है। पुरुषार्थ से व्यक्ति के भौतिक, बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है लेकिन मोक्ष प्राप्ति के लिए उसे जीवन की प्रथम तीन अवस्थाओं में धर्म, अर्थ, काम तीनो ही पक्षों का पालन और निर्वाह करते हुए वह अपनी अन्तिम अवस्था मोक्ष को प्राप्त करता है। हिन्दु शास्त्रकारों की मान्यता है कि मनुष्य के जीन में भोग और कामना का ही नही बल्कि संयम, नियम, आदर्श तथा आध्यात्मिक विचारों का महत्व भी माना गया है। समस्त भौतिक सुख क्षणिक और अस्थायी है।

9.3 'पुरुषार्थ' का अर्थ

पुरुषार्थ शब्द ''पुरुष'' और ''अर्थ'' से मिलकर बना है। 'पुरुष' का अर्थ है – विवेकशील प्राणी और 'अर्थ' का अर्थ है – लक्ष्य अर्थात् पुरुषार्थ का तात्पर्य हुआ विवेकशील प्राणी का लक्ष्य। पुरुषार्थ द्वारा मनुष्य अपनी सात्विक प्रवृत्ति को आधार बनाते हुए अपने लक्ष्य का निर्धारण करता है तथा अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। भारतीय दर्शन के अनुसार आवागमन से मुक्ति को मोक्ष माना है और इसी को जीवन की सार्थकता और चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। पुरुषार्थ का अर्थ एक ओर तो सांसारिक और पारलौकिक कर्त्तव्य है और दूसरी और नैतिक धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों को सन्तुलित करता है। भारतीय दर्शन में पुरुषार्थों की संख्या चार बताई है – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। धर्म का सम्बन्ध सदाचार, कर्तव्य, पालन एवं सद्गुण से है। अर्थ का सम्बन्ध मनुष्य की भौतिक समृद्धि से है। काम का सम्बन्ध शारीरिक सुखादि से है और मोक्ष का सम्बन्ध सांसारिक जीवन से मुक्ति से है लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के लिए मोक्ष को प्राप्त करना नामुमकिन है अतः आमजन के लिए त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को ही महत्व दिया है और मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा जाता है। प्रथम तीन पुरुषार्थों का सम्बन्ध मनुष्य के सांसारिक जीवन से है और मोक्ष का आध्यात्मिक सुख से है।

9.4 पुरुषार्थ के आधार

पुरुषार्थ के चार आधार है –

9.4.1 धर्म – धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना। धर्म प्रजा को धारण करता है। धर्म भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। धर्म व्यक्ति को कर्त्तव्यों, सत्कर्मों व गुणों की ओर ले जाता हे। यह व्यक्ति की विधि रूचियों, इच्छाओं आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं के बीच सन्तुलन बनाता है। महाभारत के अनुसार धर्म वही है जो किसी को कष्ट नहीं देता अपितु लोककल्याण करता है। मनु के अनुसार धर्म के चार आधार है – श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि। धर्म संसार सागर को पार करने के लिए मानव का मार्गदर्शन करने वाली आचार संहिताए है जिनका पालन करके व्यक्ति इस जीवन को सुखी और पारलौकिक जीवन को उन्नत बना सकता है। ईश्वर के द्वारा ही धर्म की स्थापना संचालन एवं रक्षा होती है। धर्म के चार अंग होते है – तप (तपस्या, शौच, दया एवं सत्य)। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण से होता है। धर्म का पालन व्यक्ति को अर्न्तमुखी बनाकर शुद्ध बना देता है। केवल धर्म का ही आश्रय ग्रहण करके व्यकित इस संसार में तथा परलोक में शांति प्राप्त कर सकता है। मनु के अनुसार जो व्यक्ति धर्म का सम्मान करता है। धर्म उस व्यक्ति की सदैव रक्षा करता है। मनुष्य के जीवन के समस्त क्षेत्र धर्म की परिधि में आ जाते है। भारतीय परम्परा में यह मान्यता सदैव से रही है मनुष्य के दोनों आयाम – वैयक्तिक एवं सामाजिक – धर्म पर आधारित है। महाभारत में कहा गया है कि मनुष्य धर्म में धारित होते हैं, धर्म उनको धारण करता है। गीता में यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य कर्त्तव्यपूर्वक अपना कर्म करे, यही धर्म पुरुषार्थ है।

इस प्रकार धर्म पुरुषार्थ का लक्ष्य द्विविध है। संसार में सुख–चैन आनन्द व कल्याण जिसकी सिद्धि अर्थ और काम के साथ इसके संयुक्त होने से होती है, दूसरा संसार से विरत होकर मोक्ष की प्राप्ति। इस प्रकार धर्म का विशेष आधार भाव शुद्धि कह सकते है भाव के अनुसार क्रिया भी समान्तर रूप से होती रहती है। इसी के अनुसार व्यक्ति गुणदोष पर विचार करके धर्म का पालन करता है।

9.4.2 अर्थ – जिस प्रकार धर्म पुरुषार्थ का शास्त्र धर्म शास्त्र है उसी प्रकार अर्थ पुरुषार्थ का शास्त्र अर्थशास्त्र है। कौटिल्य को इसकी रचना का श्रेय है। इस शास्त्र में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अर्थ के महत्त्व को स्थापित किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अर्थ का क्षेत्र धर्म की अपेक्षा विस्तृत है। जिस प्रकार आत्मा के लिये मोक्ष, बुद्धि के लिये धर्म और मन के लिए काम की आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीर के लिये अर्थ की आवश्यकता है। अर्थ सांसारिक जीवन की पूर्ति का साधन होता है। अर्थ के अभाव में जीवन व्यर्थ है। अर्थ मनुष्य की शक्ति ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये होता है। समाज के उत्थान तथा स्वाभिमानपूर्वक जीवन यापन के लिये अर्थ का होना आवश्यक बताया है। मोक्ष प्राप्ति के लिये भी अर्थ जरूरी है। महाभारत तथा स्मृति ग्रन्थों में भी लिखा है कि अर्थ का पुरुषार्थ पूरा किये बिना वानप्रस्थ तथा सन्यास ग्रहण करने वाले व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। अर्थ की महत्ता पर बल देते हुये महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है, प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है। अर्थ, व्यक्ति वस्तु की प्राप्ति का साधन है। वृहस्पति के अनुसार "अर्थ सम्पन्न व्यक्ति के पास धन, मित्र, विद्या, गुण, क्या नहीं होता।" अर्थहीन व्यक्ति मृतक या चाण्डाल के समान होता है। नीतिशतक के अनुसार धनी व्यक्ति अच्छे कुल और अच्छी स्थिति का माना जाता है वह पण्डित, वेदज्ञ, वक्ता माना गया है। अतः पुरुषार्थों में अर्थ का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार कह सकते है कि 'अर्थ' मनुष्य द्वारा संग्रह व उपभोग किये जाने वाली उन सभी भौतिक वस्तुओं तथा प्रवृत्तियों का द्योतक है जिन्हें कि वह अपने भौतिक सुख व समृद्धि के साधने के रूप में प्रयोग करता है।

9.4.3 काम– कामना या इच्छा मात्र को ही 'काम' कह दिया जाता है। परम्परा में "काम" को पुरुषार्थ में निम्नतम माना है। महाभारत में इसे निम्नश्रेणी का पुरुषार्थ कहा है। भारतीय धर्म दर्शन के अनुसार काम का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति तथा वंश वृद्धि करना है। काम का सर्वोत्तम और आध्यात्मिक उद्देश्य पति–पत्नि में आध्यात्मिकता, मानव प्रेम, परोपकार तथा सहयोग की भावना का विकास करना है। इस उद्देश्य का ज्ञान पशु–पक्षियों, कीट–पतंगों को नहीं हो सकता। वैसे 'काम' शब्द मनुष्य जीवन की सहज कामनाओं एवं वासनाओं दोनों का द्योतक है। इसी 'काम प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति पत्नि की कामना करता है और सन्तान की कामना करता है। काम के दोनो पहलुओं में 'वासना' के अन्तर्गत हम यौन सम्बन्धी इच्छाओं को सम्मिलित करते है, जबकि कामना के अन्तर्गत प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, अनुराग एवं सौन्दर्य प्रियता आदि आते है ओर काम के ये दोनों पक्ष मानव जीवन के लिए आवश्यक है। यौन सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति के माध्यम से ही न केवल कामुकता की तीव्रता घटती है ओर वैराग्य के पथ प्रशस्त होते है, अपितु इसी के माध्यम से सन्तान की प्राप्ति, परिवार की निरन्तरता व पितृ ऋण से मुक्ति सम्भव होती है। इसी प्रकार प्रेम, स्नेह, अनुराग, सौन्दर्य प्रियता आदि मानव जीवन में कोमल भावनाओं को भर देता है जिसके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व में लचीलापन व उच्चतर आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशीलता उत्पन्न होती है।

महाभारत में लिखा है कि काम शब्द से कला सम्बन्धी भाव विलास, ऐश्वर्य तथा कामनाओं का बोध होता है यह जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है लेकिन अति हमेशा दुष्परिणाम लाती है। काम के वशीभूत होकर हमे अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। आगे लिखा है कि धर्म अर्थ की प्राप्ति का कारण है तथा काम अर्थ का फल है और इन तीनों का मूल कारण संकल्प है। काम के अनुसरण में गुण और दोष दोनो को धर्म पर अवलम्बित बताया हैं इस प्रकार धर्म युक्त काम, काम पुरुषार्थ को गौण करता था। धर्म काम पर अंकुश लगाता था।

9.4.4 मोक्ष– जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। जीवनमुक्ति की उच्चतम अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं। धर्मानुसार कहा जाता है कि आत्मा परमात्मा का ही एक अंग है ओर इसलिए आत्मा की पूर्ण सार्थकता उसी परमात्मा में एकाकार हो जाने या अपने को पूर्णतया घुला मिला देने में ही है। पुरुषार्थों की निःश्रेणी में मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है। यही है मानव अस्तित्व का परम् लक्ष्य।

भारतीय परम्परा में मोक्ष की साधना के मुख्य रूप से तीन मार्ग बताये गये है – (1) ज्ञान मार्ग (2) कर्ममार्ग तथा (3) भक्ति मार्ग। ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन उत्तर मीमांसा में, कर्म मार्ग का गीता में तथा भक्ति मार्ग का विविध भक्ति आगमों में हुआ है। मनु के अनुसार तीन ऋणों को पूरा करके ही मन को मोक्ष में लगाना चाहिये। मोक्ष की प्राप्ति के लिये विशुद्ध चरित्र आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियां मन को भ्रमित और उद्वेलित करती है अतः इन्द्रिय निरोध और आसक्तिहीनता भी मोक्षार्थी व्यक्ति के आवश्यक गुण माने गये। इसी प्रकार इन्द्रिय निरोगी राग द्वैष का त्यागी तथा अहिंसा का पालन करने वाला ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। आत्मा का परमात्मा से महामिलन ही मोक्ष हैं। 'शिवगीता' में लिखा है कि हृदय की अज्ञान ग्रन्थी के नाश हो जाने अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।

इस प्रकार मोक्ष पूर्ण ज्ञान व सत्य और अनन्त आनन्द की वह स्थिति है जिसमें कि आत्मा अपने चरम व परम लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। अति संक्षेप में कह सकते है कि 'सत्य शिव व सुन्दर की प्राप्ति मोक्ष है।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार मनुष्य के जीवन और मरण के चक्र से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य को अपनी जीवनचर्या को सुसंस्कृत एवं सुसभ्य बनाना जरूरी है जिसमें त्याग, तपस्या, आत्मानुशासन आदि गुणों का विशेष महत्त्व रहा है और इन्ही गुणों से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

9.5 पुरुषार्थ का महत्त्व

चारों पुरुषार्थों का भारतीय जीवन और दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह मनुष्य के जीवन और ध्येय को प्राप्त करने का साधन है! पुरुषार्थ मनुष्य को वांछित कार्य करने की प्रेरणा देता है। यह भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में सन्तुलन स्थापित करता है। पुरुषार्थ की अवधारणा जीवन के उच्च आदर्शों की प्राप्ति की अवधारणा है। इसी के द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास भी होता है। पुरुषार्थ भारतीय जीवन का मनोवैज्ञानिक आधार रहा है। पुरुषार्थों के द्वारा ही कर्त्तव्यों को सरलता से सम्पादित किया जा सकता है। पुरुषार्थों के माध्यम से ही कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्वक निभाने में समर्थ हुआ है। प्रत्येक पुरुषार्थ दूसरे पुरुषार्थ से सम्बन्धित रहा है।

जैसे मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है मोक्ष के लिये धर्म का आश्रय लेना आवश्यक है यही धर्म मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाने वाला होता है लेकिन अर्थ एवं काम इसमें बाधक होते हैं इस प्रकार चारों पुरुषार्थ कही न कही किसी न किसी रूप से सम्बन्धित है लेकिन वर्तमान में इन चारों में अर्थ एवं काम अधिक प्रबल हो चुके है लेकिन यह भी सत्य है कि धर्म के बिना व्यक्ति का पूर्ण या सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि प्राचीनकालीन इन पुरुषार्थों द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव था।

9.6 सारांश

पुरुषार्थ वास्तव में मानव जीवन व व्यक्तित्व के सन्तुलित व पूर्ण विकास की एक सामाजिक परियोजना है जिसमें न तो सांसारिक सुख व उपभोग को मिथ्या ठहराया गया है न ही भौतिक सुख भोग विलास को ही जीवन की चरम सार्थकता माना गया है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त इन दोनो के बीच एक अपूर्व सामन्जस्य स्थापित करने का है। पुरुषार्थ का निर्देश है कि भौतिक पदार्थ (अर्थ) तथा भोग–विलास (काम) को जीवन का अंग जरूर मानते हुए नैतिक नियमों और कर्त्तव्यों (धर्म) को अपने पथ–प्रदर्शक के रूप में ग्रहण करना चाहिए और जन्म और मृत्यु के चक्र से अपने को विमुक्त करने (मोक्ष) का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार पुरुषार्थ के चार प्रमुख तत्व हैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। ये चारों तत्व मानव जीवन के चार आधार व उद्देश्यों के द्योतक हैं और जिनके समन्वय से ही मनुष्य जीवन सफल होता है। हिन्दु विचारधारा में मोक्ष प्राप्ति ही जीवन का सर्वोच्चतम लक्ष्य है। इसके अनुसार मानव जीवन की कुछ भी सार्थकता तब तक नहीं हो सकती जब तक वह मोक्ष को प्राप्त न कर ले। मोक्ष जीवन की परम गति है ओर इसी को प्राप्त करना मानव की वास्तविक महानता है।

अतः जीवन के उन्नत विकास तथा सांसारिक बन्धन के मुक्ति हेतु पुरुषार्थ की अवधारणा को सम्पूर्ण धर्म ग्रन्थों में अनिवार्य व सर्वश्रेष्ठ माना है।

9.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 भारतीय परम्परा के अनुसार मोक्ष की साधना का मार्ग निम्न में से कौनसा नहीं है।

(अ) ज्ञान मार्ग, (ब) कर्म मार्ग, (स) योग मार्ग, (स) भक्ति मार्ग

प्रश्न –2 टिप्पणी किजिए (किसी एक विषय पर)। (30 शब्द सीमा)

1. पुरुषार्थ का अर्थ, 2. मोक्ष पुरुषार्थ, 13. अर्थ पुरुषार्थ

प्रश्न – 3 पुरुषार्थ के आधारो का वर्णन करते हुए किन्ही दो पुरुषार्थों की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–10 : प्राचीन काल में शिक्षा के मुख्य केन्द्र

संरचना

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 प्राचीन शिक्षा का स्वरूप

10.3 'शिक्षा' का अर्थ

10.4 'शिक्षा' का उद्देश्य

- 10.4.1 आध्यात्मिक उत्थान
- 10.4.2 चारित्रिक विकास
- 10.4.3 व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास
- 10.4.4 पवित्रता का विकास करना
- 10.4.5 गायत्री मन्त्र का महत्व
- 10.4.6 उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता का विकास
- 10.4.7 शारीरिक क्षमता का विकास करना

10.5 शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

- 10.5.1 नालन्दा विश्वविद्यालय
- 10.5.2 विक्रमशिला विश्वविद्यालय
- 10.5.3 वलभि विश्वविद्यालय
- 10.5.4 तक्षशिला विश्वविद्यालय
- 10.5.5 काशी विश्वविद्यालय
- 10.5.6 कांची विश्वविद्यालय

10.6 प्राचीन शिक्षा की विशेषता

10.7 सारांश

10.8 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.0 प्रस्तावना

शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्त्व का सर्वांगीण विकास करती है। चरित्र का निर्माण शिक्षा से सम्भव है और इन्ही उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुये प्राचीनकाल में शिक्षा का विकास हुआ।

प्राचीनकाल में शिक्षा का स्वरूप आश्रम व्यवस्था थी जहां शिष्य को वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद, ज्योतिष, इतिहास आदि विषय पढ़ाया जाता था। धीरे–धीरे समय के साथ अब परिवर्तन होने लगे परिणामस्वरूप कई नगर उभर कर सामने आये जो प्राचीन कालीन शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये ये थे – नालन्दा. तक्षशिला, विक्रमशिला, वलभि, कांची एवं काशी विद्यालय आदि। धीरे–धीरे इन केन्द्रों को कई राजवंश का सानिध्य भी मिलता चला गया अब दान आदि से ये केन्द्र चलने लगे। धीरे–धीरे इनकी ख्याति सुनकर अनेक विद्वान भारत बाहर से भी यहां आने लगे और ये शिक्षा के केन्द्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने में सफल रहे।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई में प्राचीन भारत में शिक्षा का क्या स्वरूप था, क्या महत्त्व था, क्या विशेषता थी तथा शिक्षा के केन्द्र कौन–कौन से थे आदि सभी बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जायेगा। इसके अलावा शिक्षा के उद्देश्य को निम्न बिन्दुओं – सर्वांगीणता का विकास, चारित्रिक विकास, आध्यात्मिक उत्थान आदि से समझाया जायेगा एवं प्राचीन कालीन शिक्षा के केन्द्रों, यथा–नालन्दा, तक्षशिला,

विक्रमशिला, वलभि विश्वविद्यालय आदि का विस्तारपूर्वक भौगोलिक स्थिति के साथ–साथ इनकी विशेषताओं का वर्णन किया जायेगा।

10.2 प्राचीन शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा व्यक्ति और समाज के जीवन के प्रगतिशील विकास की रचनात्मक प्रक्रिया है। जीवन के सभी पहलू शिक्षा से सम्बन्धित है। शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य को कर्त्तव्य बोध होता है। भारतीय परम्परा में चरित्र निर्माण के लिये शिक्षा को आवश्यक माना है। शिक्षा मोक्ष का साधन है। भारतीय विचारधारा में मोक्ष की अवधारणा परम पुरुषार्थ के रूप में की गई है इसलिये वही ज्ञान या विद्या सफल है जिसमें मोक्ष प्राप्त हो सके – सा विद्या विमुक्तये।

वैदिक युग में वैदिक साहित्य का ज्ञान ही शिक्षा थी। उत्तर वैदिक काल में शिक्षा विषयों का विकास हुआ। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार उत्तरवैदिक काल में वेद, इतिहास, पुराण, श्लोक, सूत्र और व्याख्यान विद्या के विभिन्न विषय थे। महाकाव्य काल में धुनर्विद्या, वेद, नीतिशास्त्र, हस्तविद्या, इतिहास आदि महत्त्वपूर्ण शिक्षा के विषय थे। बुद्ध के समय में शिक्षा को सुख का आधार उत्तम मंगल और जीविकोपार्जन का साधन बताया है। महात्मा बुद्ध ने भी भलीभांति शिक्षित होना ही धर्म बताया है। बौद्ध शिक्षा के तीन महत्त्वपूर्ण लक्षण बताये गये है – चारित्रिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों के समय शिक्षा का विस्तार हो गया। विभिन्न मनीषियों ने आश्रमों और संस्कारों के द्वारा पूरे समाज में शिक्षा के प्रसार का आदर्श प्रस्तुत किया।

वैदिक युग में गांव से थोड़े दूर आश्रम बने होते थे जहां शिक्षा की प्राप्ति की जाती थी। जहां एक शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी। धीरे–धीरे विषयों में विस्तार के साथ एक से अधिक शिक्षक भी एक स्थान पर शिक्षा प्रदान करने लगे। एक से अधिक शिक्षकों की प्रसिद्धि के कारण शिक्षा के केन्द्र प्रसिद्ध हुये। ये केन्द्र किसी तीर्थ राजधानी या प्रसिद्ध नगर के आस–पास होते थे। ऐसे शिक्षा स्थलों में तक्षशिला, काशी, धारा, कन्नौज, नालन्दा आदि थे। प्राचीन काल में शिक्षा के लिये आश्रमों का प्रावधान था जो गांव से दूर एकान्त में बने होते थे प्राचीन साहित्यों में भी इसका उल्लेख मिलता है जैसे – प्रयाग में महर्षि भारद्वाज का आश्रम, चित्रकूट में वाल्मीकि आश्रम, महर्षि अगस्त का आश्रम आदि। ई.पूर्व छठी शती में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत बौद्ध विहार को केन्द्र बनाकर शिक्षा केन्द्रों का विकास हुआ लेकिन इनमें केवल बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों को ही शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार प्राचीन काल में शिक्षा के केन्दों में प्रारम्भ में आश्रम हुये तत्पश्चात् तीर्थ, मन्दिर स्थल जिनमें नालन्दा, काशी, कांची, विक्रमशिला, कन्नौज आदि प्रमुख थे।

10.3 'शिक्षा' का अर्थ

शिक्षा अभ्यास विशेष शक्ति, इच्छा विशेष तथा सहनशक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है। शिक्षा को अनुशासन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। अनुशासन मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है–

(अ) मानसिक अनुशासन या बौद्धिक अनुशासन

(ब) शारीरिक अनुशासन

प्राचीन मनीषियों ने ज्ञान को मनुष्य का तृतीय नेत्र माना है। महाभारत में भी वर्णित है कि विद्या से बढ़कर कोई अन्य अर्न्तदृष्टि नहीं है। शिक्षा से मनुष्य में अनुशासन के दोनों रूप विकसित होते है। वास्तव में शिक्षा मनुष्य में अनुशासन को विकसित करती है। मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने शिक्षा के लिये इन्ही अर्थों को प्रतिष्ठापित किया।

10.4 'शिक्षा' का उद्देश्य

प्राचीन काल में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के जीवन का भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान करना था। मनुष्य जीवन ज्ञान से ही नैतिक मूल्य युक्त कुछ आदर्श में बहुमुखी व्यक्तित्व तथा धर्म प्रवण होता था। सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह ज्ञानवान व्यक्ति ही सफलतापूर्वक कर सकता है। इस प्रकार शिक्षा के निम्न उद्देश्य कहे जा सकते हैं –

10.4.1 आध्यात्मिक उत्थान– आध्यात्मिक उत्थान से व्यक्ति का जीवन भक्ति प्रवण तथा धर्म प्रवण होता था। इससे व्यक्ति में ईश्वरोपासना, दैनिक क्रिया धर्म सम्बन्धी अनेक अनुपालना आदि भावनाओं का विकास होता है। मनु के अनुसार सोच, पवितत्रता, आचार, स्नानक्रिया, अग्निकार्य और सन्ध्योपासना ब्रह्मचारी का प्रमुख धर्म था। यह सब कार्य मनुष्य तभी कर सकता था जब वह शिक्षित होता था। इस प्रकार विद्यार्थी के लिये आध्यात्मिक साधना को विशेष महत्त्व दिया जाता था। मनुष्य जीवन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

में तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा, सत्य वचन आदि का विशेष महत्त्व है और इन्ही तत्वों से आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है। अतः प्राचीनकालीन शिक्षा का एक उद्देश्य शिक्षार्थी के मन में आध्यात्मिक भावना को जागृत करना उसे नियमपूर्वक पूर्ण की भावना का विकास करना था।

10.4.2 चारित्रिक विकास– आध्यात्मिक उत्थान के लिये मनुष्य में चारित्रिक गुणों का होना अनिवार्य था। शिक्षा से मनुष्य में चारित्रिक गुणों का होना अनिवार्य था। शिक्षा से मनुष्य के चरित्र का उत्थान होता था इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाएं सम्पन्नकरता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता। मनुस्मृति में लिखा है कि केवल गायत्री मंत्र का ज्ञाता अपने सच्चरित्रता के कारण पूजनीय होता था। शिक्षा से मनुष्य में सौहार्द, नैतिकता सदाचरण आदि गुणों का विकास होता था। प्राचीन पवित्र ग्रन्थ वेदों का अध्ययन करने से मनुष्य में पवित्रता का संचरण होता था। उसमें व्रत, साधना, श्रम तथा तप करने की भावना बलवती होती थी और इन्ही गुणों से उसके चरित्र का निर्माण होता है।

10.4.3 व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास– शिक्षा प्रणाली व्यक्तित्व के एकांगी विकास पर ध्यान नहीं देती। व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास हो, शरीर, बुद्धि, मन आदि की समस्त शक्तियां उर्ध्वमुखी होकर विकासशील हो, यही शिक्षा का प्रयोजन था। व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास से व्यक्ति में आत्मसंयम, आत्मचिन्तन, आत्मविश्वास, आत्म–विश्लेषण, आत्म–विवेक, न्यायिक प्रवृत्ति तथा आध्यात्मिकवृत्ति का उदय होना सम्भव था। किसी भी कर्म को सम्पन्न करने में सहायक आत्मविश्वास को जगाने के लिये ही प्राचीनकाल में शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व उपनयन संस्कार किया जाता था जिसमें अग्नि के समक्ष विद्यार्थी का आत्मविश्वास जगाया जाता था इस प्रकार शिक्षा से व्यक्ति का सम्पूर्ण तथा सर्वांगीण विकास होता था।

10.4.4 पवित्रता का विकास करना– प्राचीन कालीन शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी था कि शिक्षा मनुष्य को पवित्र आचरण करने में सहायक होती है न केवल कर्म से बल्कि वचन तथा मन आत्मा से भी, क्योकि पवित्रता से शुद्ध विचार जन्म लेते है शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व संस्कार सम्पन्न किया जाता था उसमें बालक को पहले शुद्ध किया जाता था लेकिन जीवन के अन्य पहलुओं में भी शुद्धता एवं पवित्रता लाने के लिये नियन्त्रण आवश्यक था और यह शिक्षा के द्वारा सम्भव था।

10.4.5 गायत्री मन्त्र का महत्त्व– प्रत्येक शिक्षा सम्बन्धी कार्य को करने से पूर्व गायत्री मन्त्र का उच्चारण महत्त्व रखता है क्योंकि गायत्री मंत्र को ज्ञान की कुंजी कहा जाता है। मनुस्मृति से पता चलता है कि ब्रह्मा जी ने प्रत्येक वेद में अ, ऊ और म निकालकर ओम शब्द को स्थापित किया इसी प्रकार सावित्री मंत्र भी तीनों वेदो से निकला हुआ है। अतः शिक्षा प्राप्ति से पूर्व गायत्री मंत्र तथा सावित्री मंत्र का नमन करना अत्यन्त आवश्यक था। इसी उद्देश्य से शिक्षा का महत्त्व था।

10.4.6 उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता का विकास– शिक्षा से ज्ञान की प्राप्ति होती थी और ज्ञान से व्यक्ति अपने सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों को वहन करने में सक्षम होता था चाहे वह सामाजिक उत्तरदायित्व हो या धार्मिक उत्तरदायित्वि या अन्य किसी क्षेत्र से सम्बन्धित हो। इस प्रकार शिक्षा से व्यक्ति के उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता का विकास होता था।

10.4.7 शारीरिक क्षमता का विकास करना– जिस प्रकार मनुष्य के उन्नत विकास के लिये आत्मा की शुद्धि जरूरी थी उसी प्रकार आत्मा के इस बाह्य आवरण अर्थात् शरीर की शारीरिक क्षमता में भी विकास लाना जरूरी था और यह शिक्षा द्वारा ही सम्भव था। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति को प्राणायाम सिखाया जा सकता था। इस प्रकार शिक्षा का एक उद्देश्य शारीरिक क्षमता का विकास करना भी था।

इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के मानसिक, शारीरिक विचारों का सर्वांगीण विकास करना था। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्राचीनकाल में अनेक शिक्षा के केन्द्र की स्थापना की जिसमें पृथक विषय, विद्धान गुरु तथा शिक्षा प्रणाली से शिक्षा प्रदान की जाती थी।

10.5 शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

प्राचीन भारत में शिक्षा के लिये अनेक केन्द्र थे जो विश्वविद्यालय के नाम से प्रख्यात हुये, जहां अनेक शताब्दियों तक सहस्त्रों छात्रों को निरन्तर शिक्षा दान देते रहे और जहां विदेशों से आने वाले ज्ञानपिपासु व्यक्तियों ने भी शिक्षा ग्रहण की। ऐसे कतिपय प्रसिद्ध विश्वविद्यालय अनेक सदियों तक छात्रों को शिक्षित करने के साथ भारतीय संस्कृति के भी पोषक रहे। ये विश्वविद्यालय थे –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10.10.1 नालन्दा विश्वविद्यालय– बिहार प्रदेश के पटना से दक्षिण पश्चिम में 40 किलोमीटर की दूरी पर बड़गांव नामक स्थान पर यह विश्वविद्यालय स्थित था। इसका सम्बन्ध प्राचीनकाल से ही बौद्ध धर्म से रहा लेकिन 5वीं शताब्दी के मध्य यह शिक्षा के केन्द्र के रूप में विख्यात हो गया। इसके उत्कर्ष में गुप्तवंश का महत्त्वपूर्ण योगदान था। कुमारगुप्त ने नालन्दा विश्वविद्यालय के लिये बहुत दान दिया। यह विश्वविद्यालय कम से कम एक मील लम्बा तथा आधा मील चौड़ा था। मध्य में स्थित विद्यालय में 8 बड़े कमरे तथा 300 छोटे–छोटे कक्ष बने हुये थे। विश्वविद्यालय का भवन कई ऊँची मंजिल तक बना था तथा देखने में ऐसा प्रतीत होता था कि आसमानी बादलों को छू रहा है। नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के आवास के लिये अनेक विहार बने हुये थे जिसमें एक कक्ष में एक या दो विद्यार्थी रहते थे। इन विहारों को कुमारगुप्त प्रथम, नरसिंहगुप्त, बालादित्य, वज्र तथा हर्ष ने निर्मित कराये थे। विश्वविद्यालय के स्वामी हेतु 200 गांव दान दिये हुये होते थे जिसमें निर्मूल्य आवास, वस्त्र का प्रबन्ध था। सभी प्रकार का प्रबन्ध कुलपति के अधीन था। कुलपति की सहायता हेतु विश्वविद्यालय में दो परिषद् थी पहली शिक्षा परिषद दूसरी शासन परिषद। शिक्षा परिषद में शिक्षा से सम्बन्धित विषयों पर, शासन परिषद में शासन से सम्बन्धित चर्चा की जाती थी। शासन परिषद में नीति नियम, भवन, कक्ष आदि से सम्बन्धित समस्याओं का निदान किया जाता था। जब विदेशी यात्री इत्सिंग भारत आया तो उसने नालन्दा विश्वविद्यालय के छात्रों की संख्या 3000 बतायी। यद्यपि प्रत्येक विदेशी यात्री ने नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या अलग–अलग बतायी। इस विश्वविद्यालय में एक अत्यन्त श्रेष्ठ पुस्तकालय भी था, जो रत्नसागर, रत्नरंजक एवं रत्नोदधि नामक तीन भवनों में स्थित था। रत्नोदधि नामक भवन नौ मंजिल ऊँचा था तथा उसमें प्रज्ञापारमिता श्रेणी के उत्कृष्ट कोटिक धर्म ग्रन्थ एवं तान्त्रिक रचनाएं संग्रहित थी। इसमें हीनयान व महायान दोनों से सम्बन्धित पुस्तके थी। इस विश्वविद्यालय में मुख्यतः वेद, वेदांग, सांख्य दर्शन, ज्योतिष, शब्द विद्या, इतिहास, धुनर्विधा, चिकित्सा विद्या आदि विषयों को पढ़ाया जाता था। उस काल में नालन्दा की ख्याति दूर–दूर तक फैली हुई थी। यहां के विद्यार्थियों और शिक्षिकों का स्तर काफी ऊँचा था। कुछ आचार्य जैसे धर्मपाल, चन्द्रपाल, प्रभामित्र, जिनमित्र,, गुणमति, जिनभद्र तो आध्यात्मिक ख्याति प्राप्त थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थियों को कड़ी परीक्षा देनी पड़ती थी। बहुत अधिक विद्यार्थियों में से कुछ को ही प्रवेश मिलता था। नालन्दा विश्वविद्यालय की ख्याति न केवल भारत में अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर थी। यही कारण है कि कोरिया, श्रीलंका, सुमात्रा आदि स्थानों में कई विद्यार्थी शिक्षा के लिये आते थे। इतनी ख्याति को देखकर जावा एवं सुमात्रा के सम्राटों ने नालन्दा में एक–एक विहार की स्थापना की। 10वीं शताब्दी तक यह प्राचीन भारत का एक मात्र शिक्षा का केन्द्र था लेकिन 11वीं शताब्दी में धर्मपाल नामक पालवंशीय शासक ने एक अन्य विश्वविद्यालय विक्रमशीला की स्थापना कराई परिणामस्वरूप नालन्दा विश्वविद्यालय को संरक्षण एवं प्रोत्साहन कम मिलने लगा। धीरे–धीरे नालन्दा विश्वविद्यालय अपने प्राचीन रूप को खोता गया और तांत्रिक स्वरूप के प्रभाव में आने लगा। आगे चलकर 12वीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रमणों के साथ ही इस विश्वविद्यालय को नष्ट कर दिया गया।

10.10.2 विक्रमशिला विश्वविद्यालय– यह बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले में स्थित था इसकी स्थापना पालवंशीय शासक धर्मपाल ने कराई। नालन्दा के समान शीघ्र ही इस विश्वविद्यालय की ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय जगत में फैल गई। यह बहुत बड़े भूभाग में बना था जिसमें 6 बड़े विद्यालय थे। बाहर की चारों तरफ की दीवार में 4 बड़े द्वार थे और मध्य में 6 विद्यालय जिनमें लगभग 200 शिक्षक पढ़ते थे। इसके अलावा यहां एक बड़ा सभागार था जिसमें लगभग 8000 छात्र बैठ सकते थे। मध्य में एक विशाल पुस्तकालय था जिसमें बौद्धिसत्व की प्रतिमा बनी थी। विश्वविद्यालय की भीतरी दीवार पर उन छात्रों के चित्र अंकित रहते थे जो छात्र यहां से पढ़ चुके थे और विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके थे जिन्हे किसी भी विषय पर विशेष ज्ञान प्राप्त हो चुका था। प्रारम्भ में इस विश्वविद्यालय का सम्बन्ध तिब्बत से अधिक था और तिब्बत से ही अतिथि शिक्षक यहां आते थे। यहां से कई विद्वान तिब्बत गये वहां जाकर उन्होंने कई ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। यहां पर अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या भी बहुत अधिक थी। 12वीं शताब्दी में यहां पर लगभग 3000 विद्यार्थी अध्ययन करते थे। कुलपति की सहायता के लिये छः भिक्षुओं की एक समिति थी जो प्रशासनिक कार्य में कुलपति की सहायता करती थी इसके अलावा प्रत्येक द्वार पर चार द्वारपण्डित रहते थे जो विद्यार्थियों के प्रवेश के समय परीक्षा लेते थे। विक्रमशिला विश्वविद्यालय में व्याकरण, न्याय, दर्शन, तन्त्र, ज्योतिष, इतिहास, साहित्य, विज्ञान आदि की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा पूर्ण होने पर बंगाल के पाल शासक विद्यार्थियों को उपलब्धियां प्रदान करते थे। इन्ही पाल शासकों के दान से यह विश्वविद्यालय चलता था। यहां के पुस्तकालय में महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का संचय था। यहां पर ना केवल भारत से वरन् विदेशों से भी विद्यार्थी अपनी जिज्ञासाओं का समाधान ढूंढने आते थे। इससे पूर्व जितना महत्त्वपूर्ण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शिक्षा का केन्द्र विक्रमशिला विश्वविद्यालय के अलावा नहीं था और ना ही आस–पास कोई और विश्वविद्यालय। यहां के आचार्य भी विद्वान थे। आचार्यों की सूची भी हमे प्राप्त होती है जिनमें दीपाकर श्रीज्ञान, वीरोचन, रक्षित, ज्ञानपाल, बुद्ध, रत्नाकर, शान्ति, ज्ञानश्री, मित्र, रत्नवज्र, और अभंयकर। दीपांकर नाम विद्वान ने तो लगभग 200 ग्रन्थों की रचना भी की। वह इस विश्वविद्यालय के सबसे महान् प्रतिभाशाली विद्वान थे।

इस प्रकार विक्रमशिला विश्वविद्यालय न केवल विशाल बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालय था जहां पर भारतीय विद्यार्थियों के साथ विदेशी विद्यार्थी भी ज्ञान अर्जन के लिये आते थे। 12वीं शताब्दी में इस विश्वविद्यालय का नाम शिक्षा के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था लेकिन 1203 ई. में मोहम्मद बिन–बख्तियार खिलजी ने इसे दुर्ग समझकर आक्रमण किया और इसे नष्ट–भ्रष्ट कर दिया यद्यपि यह पूर्णतया नष्ट हो गया फिर भी इसमें कुछ अंश शेष रह गया जिससे आज इस विश्वविद्यालय का पता चलता है।

10.10.3 वलभि विश्वविद्यालय– यह शिक्षा का केन्द्र गुजरात के काठियावाड़ में वलभि नामक स्थान पर स्थित था। इस केन्द्र का विकास सातवीं शताब्दी तक पूर्ण तरह से हो चुका। ईत्सिंग ने वलभि को शिक्षा केन्द्र के रूप में बताया और यह भी बताया कि नालन्दा के समान इसकी ख्याति भी दूर तक फैली थी। इस केन्द्र में भी अनेक बौद्ध विहार तथा मठ बने थे। वलभि विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। वलभि विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता देने वाले इसी में निवास करते थे जिनकी संख्या 100 थी इन करोड़पतियों के अलावा अनेक राजाओं के दान से भी यह संस्था चलती थी। यहां का मुख्य विषय बौद्ध ध र्म था। दूर–दूर से विद्यार्थी यहां पर शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते थे। यहां पर भी बड़े–बड़े विद्वान थे जो कि विद्यार्थियों को शिक्षा दान करते थें इनमें स्थिरमति, गुणमति विद्वान प्रसिद्ध थे। इस विश्वविद्यालय में तर्क, व्याकरण साहित्य भौतिक, आदि की भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। 12वीं शताब्दी में भारत पर हुये मुस्लिम आक्रमण से यह प्रभावित हुआ और धीरे–धीरे मुस्लिम प्रभाव के कारण इसका अस्तित्व भी समाप्त होने लगा।

10.10.4 तक्षशिला विश्वविद्याल– तक्षशिला नगर प्राचीन काल में विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। इस विश्वविद्यालय की स्थापना भरत ने की ओर प्रशासनिक कार्य तक्ष नामक व्यक्ति को सौंपा गया। इसी तक्ष व्यक्ति के नाम पर इसका नाम तक्षशिला पड़ा। यह उत्तर पश्चिम में रावलपिण्डी के पश्चिम में स्थित कन्धार की राजधानी था। रामायण में इसका उल्लेख मिलता है और उत्तर वैदिक काल तक आते–आते इसका विकास हो चुका था। यहां पर आचार्यों के अनेक स्वतन्त्र विद्यापीठ थे जो विशिष्ट विषयों में शिक्षा देने के लिये प्रसिद्ध थे। आचार्यों के सहायक के रूप में 2 पिट्टि आचारिय (उप आचार्य) भी होते थे जो समय–समय पर आचार्य के स्थान पर शिक्षा देते थे। यहां पर केवल द्विज वर्ग के विद्यार्थियों को ही शिक्षा दी जाती थी। यहां के विद्यार्थियों में चन्द्रगुप्त मौर्य प्रसन्नजीत, अर्थशास्त्री कौटिल्य ख्याति प्राप्त वैध जीवक तथा व्याकरण विशेषज्ञ पाणिनी प्रमुख थे। यहां मुख्यतः वाराणसी, मिथिला, उज्जैनी आदि से विद्यार्थी अध्ययन हेतु आते थे। तक्षशिला में विद्या प्राप्त करने वाले तीन प्रकार के विद्यार्थी होते थे – आचारिय भागदायिक, धम्मन्तेवासिक एवं बाद में शुल्क देने वाले।

इस विश्वविद्यालय में मुख्यतः वेद (ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद) शिल्प, व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद, चिकित्सा, धनुर्विद्या, भविष्यविद्या, व्यापार, कृषि, संगीत नृत्य, चित्रकला आदि की शिक्षा दी जाती थी।

जातक कथाओं में उल्लेख मिलता है कि एक आचार्य के निर्देश में 500 विद्यार्थी शिक्षा अर्जन करते थे। विद्यार्थी अपनी इच्छानुसार विषय का चयन करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कोई भी हो सभी के लिये समानता का व्यवहार किया जाता था।

इस प्रकार तक्षशिला भी इस समय शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था जहां पर वेदों की शिक्षा प्रमुख रूप से दी जाती थी।

10.10.5 काशी विश्वविद्यालय– प्राचीनकाल में काशी प्रमुख जनपद था। उपनिषद काल में काशी शिक्षा केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ इसी काशी जनपद के राजा अजातशत्रु की अपनी ख्याति, प्रतिभा व विद्वता के कारण ही प्राप्त हुई। यहां पर वैदिक दर्शन प्रमुख विषय था। इस विषय में यह सबसे अग्रणीय केन्द्र कहा जा सकता था। अलबरूनी ने काशी की विद्या सम्बन्ध ी महत्त्व को बताते हुये लिखा है कि ''हिन्दु विद्याये हमारे विजित प्रदेशों में से भागकर कश्मीर और वाराणसी जैसे सुदूर प्रदेश में चली गई जहां मेरे हाथ भी नहीं पहुंच सकते।'' अलबरूनी ने वाराणसी में सबसे प्रमुख विद्यालय होने का संकेत भी दिया है। छठी शताब्दी ई.पूर्व में काशी में अनेक आचार्य तीन वेदों और अट्ठारह शिल्पों का अध्ययन करते थे। जातक साहित्य में दी गई कथाएं इस बात को सिद्ध करती है कि छठी शती ई.पू. में काशी की गणना शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों में होने लगी।

ह्वेनसांग के समय काशी हिन्दू धर्म की शिक्षा के लिये भी प्रसिद्ध था। भविष्य पुराण में भी काशी को हिन्दू शिक्षा का विख्यात केन्द्र कहा गया है। आज भी परम्परागत शिक्षा के लिये काशी की ख्याति बनी हुई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.10.6 कांची विश्वविद्यालय– यह विश्वविद्यालय दक्षिण भारत में स्थित था।कांची पल्लवंशीय शासकों के नेतृत्व में एक महान शिक्षा केन्द्र बन गया था। शिक्षा के क्षेत्र में यह पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारत का एक प्रमुख केन्द्र था जहां अनेक आचार्य वैदिक साहित्य का अध्यापन कार्य करते थे। कांची के शिक्षा केन्द्र का विकास विश्वविद्यालय के रूप में हुआ था। भारत में विभिन्न प्रदेशों के निवासी यहां शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। शूद्रक ने अपने नाटकों का प्रणयन यहीं पर किया था। कदम्ब वंशीय राजकुमार मयूरवर्मन ने कांची में ही शिक्षा ग्रहण की थी। यह भी कहा जाता है कि वात्स्यायन और दिंगनाग जैसे महान् ज्ञाता कांची विश्वविद्यालय की शोभा बढ़ाते थे।

10.6 प्राचीन कालीन शिक्षा की विशेषता

प्राचीन भारतीय शिक्षा की निम्न विशेषताएं थी –

1. प्राचीन भारतीय शिक्षा की सर्वप्रथम विशेषता जीवन दर्शन तथा शिक्षा के बीच समन्वय है। जैसा जीवन था वैसी शिक्षा पद्धति थी।
2. शिक्षा में धार्मिक दर्शन की बाहुल्यता थी। शिक्षा के उद्देश्यों, उपकरणों तथा आदर्शों में धार्मिक प्रवृत्ति की प्रधानता थी।
3. प्राचीन कालीन शिक्षा आदर्शवादिता पर आधारित थी।
4. गुरु–शिष्य में पिता पुत्र का स्नेह होना इसकी अन्य विशेष्ता थी।
5. शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ज्ञान की चरम सीमा तक पहुचना था।
6. छात्रों में समानता की भावना करना अर्थात् प्राचीन शिक्षा पद्धति में एक राजकुमार एवं साधारण निर्धन व्यक्ति गुरु के सानिध्य में एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे।
7. प्राचीन भारतीय शिक्षा की सातवीं विशेषता शिक्षा काल के निश्चितीकरण में थी। ब्रह्मचर्यकाल शिक्षा प्राप्त करने का काल था। इसमें मन, वचन तथा कर्म द्वारा ब्रह्मचर्य नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करते हुये ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता था।

10.8 सारांश

इस प्रकार ये शिक्षा के केन्द्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थे जिनमें अनेक विषयों को पढ़ाया जाता था। यहां के विद्यार्थी न केवल भारत बल्कि दूर–दूर विदेशों में भी आते जाते थे। जहां शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास – शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक विकास करना था वहीं इन विश्वविद्यालयों में वेद, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य, उपनिषद की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। इन विश्वविद्यालयों का प्राचीनकाल में विशेष महत्त्व था लेकिन प्राकृतिक प्रकोप या मुस्लिम आक्रमणों के कारण ये अब अवशेष रूप में ही शेष मिले है।

10.9 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 वलभि विश्वविद्यालय निम्न में से किस राज्य में स्थित था?

(अ) राजस्थान (ब) गुजरात

(स) बिहार (द) उड़ीसा

प्रश्न –2 किन्ही दो पर टिप्पणी करिये। (30 शब्द सीमा)

1. काशी विश्वविद्यालय
2. कांची विश्वविद्यालय
3. तक्षशिला विश्वविद्यालय

प्रश्न–3शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों का सविस्तार वर्णन करिये ? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–3

इकाई–11 : रामायण

संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 भूमिका
11.3 रामायण का वर्तमान स्वरूप
11.4 रचनाकार एवं रचनाकाल
11.5 रामायण की कथावस्तु
11.6 रामायण की विशेषता
  11.6.1 आदर्श चरित्रों का चित्रण
  11.6.2 सामाजिक जीवन का चित्रण
  11.6.3 आर्य संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ
  11.6.4 उदात्तता
  11.6.5 सम्पूर्ण जीवन का चित्रण
  11.6.6 रामायण में ऐतिहासिकता के दर्शन
  11.6.7 रामायण में मानवीयता का चित्रण
  11.6.8 रामायण में धर्म का आदर्श चित्रण
  11.6.9 रामायण में नैतिक आदर्श चित्रण
  11.6.10 पतिव्रता स्त्री के रूप में सीता का चित्रण
11.7 रामायण का साहित्यिक महत्त्व
  11.7.1 रामायण एक काव्य के रूप में
  11.7.2 रामायण में प्रकृति वर्णन
  11.7.3 रामायण में नारी सौन्दर्य का चित्रण
11.8 रामायण का महत्त्व
11.9 सारांश
11.10 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

उच्चतर मानवीय मूल्यों के कारण रामायण की रामकथा भारतीय समाज को अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रभावित करती आ रही है। रामायण में किसी देवता का उल्लेख नहीं है वरन् समाज में रहने वाले मर्यादापुरुषोत्तम राम एवं सीता की जीवन वृत्त का वर्णन है। रामायण में माता–पिता, भाई बहन, पत्नि, गुरु–शिष्य आदि सभी रिश्तों में एक आदर्श है वही भारतीय समाज के आदर्श के रूप में स्थापित हैं आज भी लक्ष्मण, भरत की भ्रात्त्वभक्ति, दशरथ की व चनबद्धता, राम का आज्ञाकारी होना भारतीय संस्कृति में वरदान स्वरूप है। इस सुन्दर कथा का चित्रण बाल्मीकि ने रामायण में किया यही नहीं तत्कालीन समाज की सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक प्रत्येक अवस्था का भी वर्णन किया यही नहीं बल्कि नारी सौन्दर्य तथा प्रकृति वर्णन के साथ–साथ साहित्य की भी समस्त विशेषता इस महाकाव्य में देखने को मिलती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.1 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य वर्तमान समाज में मर्यादापुरुषोंत्तम राम एवं पतिव्रता सीता के चरित्र का आदर्श स्थापित करना है और व्यक्ति के आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण करना है। इस पाठ में रामायण में वर्णित कथावस्तु को सभी महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं से स्पष्ट किया गया है ये बिन्दु निम्न हैं–

1. रामायण के नायक एवं नायिका के रूप में मर्यादापुरुषोत्तम राम एवं पतिव्रता सीता के रूप में आदर्श चित्रण।
2. कर्त्तव्य एवं निष्ठापूर्वक नैतिक नियमों को प्रतिष्ठापित किया है।
3. रामायण में वर्णित नारी सौन्दर्य एवं प्राकृतिक सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है।
4. रामायण का आदि काव्य, महाकाव्य के रूप में उसके साहित्यिक विशेषताओं को विस्तारपूर्वक बताना है।

   साहित्यिक विशेषताओं को विस्तारपूर्वक बताना है।

11.2 भूमिका

विश्व के साहित्य में धार्मिक महाकाव्यों में 'रामायण' महाकाव्य का अद्वितीय एवं असाधारण स्थान है। रामायण ऐसा महाकाव्य है जिस पर सम्पूर्ण साहित्यिक परम्परा की गई है। रामायण साहित्य की अमूल्य निधि है। रामायण आदि महाकाव्य है जो कि समग्र रूप से प्राचीन हिन्दू चरित्रों को अभिव्यक्त करता है। यह हमारी भारतीय संस्कृति का दर्पण है। रामायण की रचना का श्रेय महर्षि वाल्मीकी को है, जिसका प्रधान लक्ष्य चरित्र का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करना है।

भारतीय सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में रामायण का अत्यधिक महत्व है। हिन्दु समाज में रामायण का अत्यधिक आदर किया जाता है। भारतीय धार्मिक आस्था के कारण रामायण केवल लौकिक उन्नति का ही नहीं, पारलौकिक उन्नति व समृद्धि का साधन है। यह ग्रन्थ भक्ति भावना, लोकमंगल, आदर्श चरित्रों की दृष्टि से भारतीय संस्कृति का कोष माना जाता है। रामायण से तात्कालीन समाज और सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते है। भारतीय साहित्य में वाल्मीकि रामायण एक महान प्रेरणा स्रोत का कार्य करती रही है उसने काव्यशैली का आदर्श प्रस्तुत किया है। संस्कृत साहित्य और भारत वर्ष वाल्मीकि ओर उनकी रामायण के सदैव चिर ऋणी रहेंगे।

11.3 रामायण का वर्तमान स्वरूप

वैदिक संस्कृत के बाद लौकिक साहित्य उदय होता है। संस्कृत का यह लौकिक साहित्य भाषा, भाव तथा विषय तीनों ही दृष्टियों से नितान्त महत्वपूर्ण है किन्तु वैदिक एवं लौकिक साहित्य के मध्यवर्ती युग में दो ऐसे विपुलकाय आर्ष महाकाव्य प्राप्त होते है जो वस्तुतः इन दोनो युगों को स्पष्ट तथा पृथक रूप देते हैं।

भारत की धर्मप्राण जनता में कर्म, आदर्श और धर्म की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित कर देने वाला रामायण ग्रन्थ संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य है। वाल्मीकि रामायण में सात काण्ड है – बालकाण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्य काण्ड किष्किन्धा काण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्ध काण्ड एवं उत्तरकाण्ड तथा इसमें 24000 श्लोक है इसलिए इसे चतुर्विंशतिसाहिस्त्री संहिता कहा गया है। रामायण में मुख्यतः दो विषयों पर चर्चा की गई है – रावण द्वारा सीता का बलपूर्वक अपहरण तथा राम द्वारा सीता उद्धार। रामायण में राम एक महापुरुष और पुरुषोत्तम के रूप प्रस्तुत है वही सीता को पतिव्रता पत्नि के रूप में दर्शाया है। ऐसा माना जाता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक इसमें केवल 12000 श्लोक थे विगत लगभग दो हजार वर्षो में रामायण में 12000 श्लोक जोड़े गये ओर इस लम्बे अन्तराल के यह कार्य धीरे–धीरे सम्पन्न हुआ होगा। रामायण के अध्ययन से आभास होता है कि प्रथम ओर सप्तम काण्ड बाद में जोडे गये है।

11.4 रचनाकार एवं रचनाकाल

महर्षि वाल्मीकि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती लेकिन पुराणों में उनके सम्बन्ध में अनेक आख्यायिकाएं उपलब्ध होती है। पुराणों में वाल्मीकि को भार्गव (भृगुवेश में उत्पन्न) कहा गया है। इनके जन्म से सम्बन्धित एक आख्यानप्रचलित है जिसके अनुसार वाल्मीकि जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी चोरी डकैती में लग जाने के कारण ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया। एक बार चोरी के उद्देश्य से कुछ मुनियों को वाल्मीकी ने रोका। इस पर उन मुनियों ने वाल्मीकि से पूछा ''जिन कुटुम्बियों के लिए तुम नित्य संचय करते हो, उनसे जाकर पूछो कि वे तुम्हारे इस पाप के सहभागी बनने के लिए तैयार है या नही।'' परिणाम स्वरूप वाल्मीकि ने मुनियों को रस्सी से बांधकर उत्तर जानने के लिए घर चले गये। घर जाकर वाल्मीकि ने परिवारजनों सेप्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

को पूछा तो उन्होंने कहा ''तुम्हारा पाप तुम सम्भालों हमारा भरग–पोषण करना तुम्हारा कर्त्तव्य है, हम तो केवल धनको भोगने वाले है। उत्तर जानकर निराश मन से वाल्मीकि मुनियों के पास पहुंचे जहां पर मुनियों के उपदेश पर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया उन मुनियों में से नारद मुनि के उपदेश पर मरा शब्द का जाप प्रारम्भ कर दिया। कइ वर्षो तक निश्चल रहने से उनके शरीर पर वाल्मीकि बन गई ओर दीमक ने अपना घर बना लिया। ऐसे में ब्रह्मा ने वाल्मीकि के नाम से सुविख्यात होने का उन्हें वरदान दिया। ब्रह्मा के आदेशानुसार उन्होंने रामायण महाकाव्य का सृजन किया रामायण के रचनाकाल के विषय में विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। वरदाचार्य के अनुसार यह त्रेतायुग की कृति है। गोरेसियों ने इसका समय 1200 ईसा पूर्व माना है। श्लेगल के अनुसार 1100 ईसा पूर्व, याकोगी के अनुसार 800 ईसा पूर्व से, 500 ईसा पूर्व, फादर कामिल बुल्के के अनुसार 600 ईसा पूर्व, काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार 560 ईसा पूर्व बताया है। निष्कर्ष में यह कह सकते है कि रामायण की रचना 600 ईसा पूर्व के बाद की नही है। साथ ही इसके अधिक पूर्व की स्वीकार करने के प्रमाण प्राप्त होने की आशा है।

11.5 रामायण की कथावस्तु

कौशल राज्य नरेश दशरथ अयोध्या मेंराज्य करते थे जिनकी तीन रानियां – कौशल्या, कैकयी तथा सुमित्रा तथा चार पुत्र–राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन थे राम का विवाह राजा जनक की पुत्री सीता के साथ हुआ। वृद्धावस्था में राजा जनक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्यभार देकर संसार से निवृत्ति चाहते थे लेकिनरानी कैकयी ने राजा से दो वर मांगे। प्रथम भरत का राज्यभिषेक तथा राम को चौदह वर्ष का वनवास अतः पिता की आज्ञा सिरोधार्य कर राम ने अपनी पत्नि सीता व लक्ष्मण के साथ वन गमन किया इधर भरत ने राज्य भार ग्रहण करने से मना कर दिया और राम को लाने वन गये मगर राम वापिस नहीं लौटे इसी बीच पुत्र शोक में राजा दशरथ की मृत्यु हो गई। वन में रहते हुए ही राम–लक्ष्मण की अनुपस्थिति में लंका पति रावण ने साधुवेष में सीता का अपहरण कर लिया और राम ने हनुमान की सहायता से रावण कोपराजित किया और चौदह वर्ष बाद अयोध्या लौट आये जहां राम का राज्याभिषेक हुआ रावण के यहां रहने के कारण लोगों ने सीता की पवित्रता पर सन्देह करते हुये राम की आलोचना करने लगे। परिणामस्वरूप मर्यादापुरुषोत्तम राम के त्याग किये जाने के कारण सीता वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगी जहां उसने लव एवं कुश दो जुड़वा पुत्रों को जन्म दिया जब राम ने अश्वमेघ यज्ञ किया तो लवकुश अयोध्या पहुंचे और राम को सीता का गान सुनाया। जब राम को पता चला कि ये दोनो ऋषि कुमार उन्हीं केपुत्र है तब उन्होंने सीता को वापिस बुलवाया। बाल्मीकि सीता को लेकर अयोध्या पहुंचे जहां वाल्मीकि के कहने पर सीता ने पति धर्म का पालन करते हुये भूमि में प्रवेश किया। यहीं कथा वाल्मीकि द्वारा रामायण में वर्णित है। सम्पूर्ण जगत में सुविख्यात है। इस महाकाव्य में निम्न विषेताएं उद्धृत है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– सिद्ध करिये। (30 शब्द सीमा)

उत्तर. ....

11.6 रामायण की विशेषता

11.6.1 आदर्श चरित्रों का चित्रण – रामायण के प्रायः सभी पात्र आदर्शों में विचरण करते है। इसमें आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, पिता, माता, पत्नि के जो भी कर्त्तव्य बताये गये है वे आज भी भारतीय संस्कृति के आदर्श माने जाते है। राम को आदर्श पुत्र, आदर्श राजा के रूप में प्रस्तुत किया है भरत एंव लक्ष्मण का भ्रातत्व प्रेम, सीता का पवित्रता धर्म हनुमान की स्वामी भवित, सुग्रीव को आदर्श मित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामायण में पारिवारिक घटकों को विशेष आदर्श के रूप में दर्शाया है। रामायण की इस पारिवारिक संस्कृति में सभी प्रकार के सदस्य प्रत्यक्ष होते है। रामायण का सबसे आकर्षक प्रसंग अयोध्याकाण्ड में है जहां राम के भाग्य विपर्यय का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। राम के भाग्य के इस विपर्यय तथा उसमें निहित आदर्शवाद का चित्रण रामायण का ही नहीं विश्व साहित्य का अनुपम अंश है।

11.6.2 सामाजिक जीवनका चित्रण – रामायण केवल काव्य ही नहीं है वरन् समाजशास्त्रीय आदर्शों की संहिता है। रामायण अपने युग की सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है। उस समय की आर्य सम्यता का इसमें वर्णन मिलता है। यह उस युग की शासन व्यवस्था, कला कौशल तथा शिक्षा प्रणाली के स्वरूप की साक्षी है। रामायण की कथावस्तु का प्राण तत्व है उसका राज्य पक्ष – रामराज्य। इसमें जनसाधारण का सांस्कृतिक उत्थान होता है। रामराज्य की प्रमुख विशेषता है जनसहायोग। राजा निरंकुश नहीं है वह मंत्रियों, ज्ञानियों और सेनाधिकारियों से मंत्रणा करके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नीति निर्धारण करता है।

11.6.3 आर्य संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ – रामायण कर्मयोग और भक्ति तत्त्व ज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ है। रामायण से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थिति तथा संस्थाओं औरप्रथाओं का सुन्दर चित्रण मिलता है। रामायण में मूलतः दो संस्कृतियों आर्य तथा अनार्य के बीच के संघर्ष को दर्शाया गया है। आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में राम को तथा अनार्य संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में रावण को प्रस्तुत किया गया है। जहां राम नैतिकता सत्य, न्याय और स्वार्थ त्याग के पक्षपाती है वहीं रावण में अनैतिकता, कुटिलता, असत्य, धूर्तता जैसी बुराइयां दृष्टिगोचर होती है। इन दोनों संस्कृतियों के संघर्ष में सत्य की असत्य पर न्याय की अन्याय पर नैतिकता की अनैतिकता पर विजय बताई गई है।

11.6.4 उदात्तता

रामायण की लोकप्रियता और अमरता का कारण इसमें निहित राम का उदात्त चरित्र है। राम के मर्यादित और संस्कारपूर्ण जीवन ने अपने परिवार की जीवनधारा को उदात्त और संस्कारवान बनाया। जिसने जन–मानस को प्रभावित कर एक उदात्तपूर्ण और मर्यादित जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया। एक प्रकार से राम के चरित्र ने भारत के लोगों को संस्कारवान बनाया।

11.6.5 सम्पूर्ण जीवन का चित्रण – रामायणने राम के सम्पूर्ण जीवन को प्रस्तुत किया है। राम को वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किया है यह ग्रन्थ सुख और दुःख दोनों को व्यक्त करता है राम के प्रारम्भिक जीवन में बाल्यावस्था से युवावस्था तक सुख को, प्रसन्नता को दर्शाया है वहीं युवावस्था से प्रौढावस्था तक जीवन के अनेक कष्टों को प्रदर्शित किया है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन के दोनों पक्षों दुःख–सुख को आदर्श स्वरूप राम के जीवन में प्रस्तुत किया गया।

11.6.6 रामायण में ऐतिहासिकता का दर्शन – रामायण में प्राचीनतम ऐतिहासिक सन्दर्भ वैदिक वांगमय के भीतर सुरक्षित है। भारतीय परम्परा में राम और रामायण वेद बाह्य नहीं है। रामायण के मूल को हमारे इतिहास की परम्परा ने सर्वत्र वेदों के भीतर ही ढूंढने का प्रयत्न किया है। राम के पूर्वज महाराजा इक्ष्वाकु का ऐतिहासिक आख्यान रामायण में हुआ है। इसी प्रकार कैकेय के नरेश अश्वपति की भी ऐतिहासिक चर्चा की गई है। इस प्रकार रामायण में ऐतिहासिक दर्शन देखने को मिलता है।

11.6.7 रामायण में मानवीयता का चित्रण – राम के उदार व्यक्तित्व में मानवता को अपनी ओर आकृष्ट करने की योग्यता और शक्ति रही है। मानवता राम के गुणों को आत्मसात करके विकसित हुयी है। राम को श्रेष्ठ धनुर्धर बलिष्ठ, सुन्दर, शुभलक्षण प्रतिभाशाली, बल में विष्णु के समान, क्षमा करने में पृथ्वी के समान और दान में कुबेर के समान, प्रस्तुत किया है।

11.6.8. रामायण में धर्म का आदर्श चित्रण – रामायण महाकाव्य के अनुसार चरित्र ही धर्म है और इस कारण चरित्रवान राम धम्र के मूर्त रूप है। यह चरित्र सत्यनिष्ठा एवं नियतता पर आधारित है। दूसरों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करना लोक जीवन की मर्यादा की रक्षा करना और समाज की व्यवस्था को बनाये रखने में योगदानकरना महान आचार है यही वह धर्म बन्धन है जो जीवन को उचित मार्ग पर ले जा रहा है। इस धर्म बन्धन में बंधा हुआ मनुष्य स्वार्थ से परमार्थ को श्रेष्ठ समझते हुये लोक कल्याण की साधना में लगा रहता है। जीवनका अमूल्य कोष धर्म और सत्य है जिसके खो जाने से मनुष्य सर्वथा दरिद्र हो जाता है, किन्तु इस कोष की वृद्धि से वह देवता बन जाता है।

11.6.9 रामायण में नैतिक आदर्श का चित्रण – वाल्मीकि रामायण में नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व राम का है। वाल्मीकि ने राम के जिन गुणों का उल्लेख किया है वे गुण एक साधारण व्यक्ति में दृष्टिगतनहीं हो सकते। पिता के प्रति आज्ञाकारिता, भरत के प्रति वात्सल्यता, पराक्रमशीलता आदि राम के गुण बताये है। राम अपने जीवन में प्रत्येक स्थान पर लोकोत्तर आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। इसके अलावा राम में सहृदयता, कोमलता, अनुकम्पा, शस्त्रज्ञान, सुशीलता तथा जितेन्द्रीय गुणों को भी वाल्मीकि ने रामायण में प्रस्तुत किया है।

11.6.10 पतिव्रता स्त्री के रूप में सीता का चित्रण – रामायण में सीता का चरित्र एक पतिव्रता स्त्री के रूप में चित्रित हुआ है। उसे एक पतिव्रता, कर्तव्यनिष्ठ स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया है। सीता की पवित्रता और पतिव्रत धर्म आज भी आदर्श रूप में जीवित है और यह समाज की प्रत्येक नारी के लिये आदर्श है।

11.7 रामायण का साहित्यिक महत्त्व

साहित्यिक दृष्टि से भी रामायण महाकाव्य का बड़ा महत्त्व है। यह संस्कृत साहित्य का एक अनुपम, अद्वितीय एवं आदि महाकाव्य माना जाता है जिनकी निम्न विशेषताएं कही जा सकती हैं –

11.7.1 रामायण एक काव्य के रूप में – भारतीय संस्कृति का जितना सुन्दर चित्रण रामायण में हुआ है उतना अन्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किसी ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलता। इसमें छन्दों का विलक्षण प्रयोग, अलंकारों का चमत्कार पूर्ण विन्यास तथा सभी सभी रसों का सुन्दर उदाहरण वर्णित है। इसमें श्रृंगार, वीर, शान्त, रौद्र, प्रेम, करूणा, वीभत्स आदि सभी का सुन्दर समायोजन है। इस प्रणर भाषा एवं भाव दोनों ही रामायण की साहित्यिक विशेषता रही है।

11.7.2 रामायण में प्रकृति वर्णन – रामायण में प्रकृति का सौम्य वर्णन मिलता है। मानव की अन्तःप्रकृति और मनोवृत्तियों का भी बड़ा स्वाभाविक चित्रण वाल्मीकि ने किया है। इसके अलावा बाह्य प्रकृति के दृश्यों जैसे – गंगा नदी, पचवंटी वन, दण्डकवन, केवट द्वारा राम, सीता, लक्ष्मण को नाव से नदी पार करवाना, रावण की सोने की लंका नगरी सभी का अत्यन्त ही सुन्दर चित्रण मिलता है।

11.7.3 रामायण में नारी सौन्दर्य का चित्रण – रामायण में प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ–साथ विभिन्न नारी पात्रों का भी अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है। सीता का सौम्य रूप सौन्दर्य जिस पर राम मन्त्रमुग्ध होते है, अत्यन्त ही सौन्दयता से परिपूर्ण बताया। इसी प्रकार बालि की पत्नि तारा का चित्रण भी शोभायमान बताया है। रावण की पत्नि मन्दोदरी को मुक्ता मणियों से युक्त आभूषणों से अंलकृत दिखाया और जिसके रूप सौन्दर्य से स्वयं का भवम् सुन्दर प्रतीत होता प्रदर्शित किया है।

11.8 रामायण का महत्त्व

रामायण महाकाव्य आदिकाव्य है यह महाकाव्य पृथ्वी को फोड़कर उगनेवाले विराट वट वृक्ष के समान है जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर ऊठाये खड़ा हुआ है। इस महाकाव्य का मुख्य विषय गृहस्थ आश्रम है, जिसके आदर्श जीवन का विस्तार से वर्णन है। रामायण में किसी देवता का पूजन नहीं है क्योंकि भगवान राम मर्यादा पुरुषोत्तम है। उन्होंने ऐसे आदर्श कार्य किये है जैसे भाई के लिये गद्दी छोड़ना, पत्नि की रक्षा के लिए रावण को मारना और फिर प्रजा को प्रसन्न करने के लिये सीताजी का त्याग कर देना आदि। रामायण भारतीय सभ्यता का प्रतीक है तथा अपने पात्रों द्वारा भारत की भव्य संस्कृति की मनोरम झांकी दिखलायी है।

11.9 सारांश

इस प्रकार रामायण भारतीय संस्कृति का ही नहीं साहित्यिक जगत का प्रेरणादायक स्रोत है। यह एक अमूल्य विरासत है। साहित्यिक व सांस्कृति में रामायण में आदर्श समाज का चित्रण हुआ जो वर्तमान समाज के लिये प्रेरणादायी है मर्यादापुरुषोत्तम राम एवं पतिव्रता सीता का चरित्र चित्रण सम्पूर्ण मानव जाति के लिये आदर्श है।

11.10 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न :–1 रामायण में कुल कितने काण्ड है ?

(अ) सात (ब) आठ (स) छः (द) नौ।

प्रश्न :–2 रामायण के महत्व को बताते हुये इसकी किसी एक साहित्यिक विशेषता पर प्रकाश डालिये ? (30 शब्द सीमा)

प्रश्नः– 3 रामायण प्राचीन भारत का आदि ग्रंथ है बताते हुये इसकी विशेषताएं बताइये? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-12 : महाभारत

संरचना

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 भूमिका

12.3 रचनाकार एवं रचनाकाल

12.4 महाभारत की कथावस्तु

12.5 महाभारत की विशेषता

- 12.5.1 धार्मिक विविधता का समन्वय
- 12.5.2 जीवन दृष्टि
- 12.5.3 वर्णाश्रम व्यवस्था एवं सदाचार
- 12.5.4 आदर्श चरित्रों का चित्रण

12.6 महाभारत में ऐतिहासिक दर्शन

12.7 महाभारत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

12.8 महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोष

12.9 महाभारत का सामाजिक स्वरूप

12.10 महाभारत का साहित्यिक महत्त्व

12.11 सारांश

12.12 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.0 प्रस्तावना

महाभारत कीरचना वेदव्यास ने की इसमें 24000 श्लोक है। महाभारत में भरतवंशीय कौरवों एवं पाण्डवों के बीच राज्य को लेकर युद्ध हुआ का वर्णन है। यह युद्ध 18 दिन चला एक तरफ कौरवों के दुर्योधन दुशासन आदि 100 पुत्र थे तथा दूसरी तरफ पांच पाण्डव थें। इस युद्ध में पाण्डव विजयी हुये तत्पश्चात 36 वर्ष तक पाण्डवों ने राज्य किया।

इस प्रकार महाभारत में अधर्म पर धर्म की विजय अनैतिकता पर नैतिकता की विजय का उल्लेख है। समग्र रूप से महाभारत एक धार्मिक ग्रन्थ है जो विष्णु की उपासना की शिक्षा देता है इसमें बहुत से अंश शैव मत से सम्बन्धित हैं महाभारत में कृष्ण को अवतार के रूप में तथा कुछ स्थलों पर देवता के रूप में प्रदर्शित किया है।

परम्परा से वेदव्यास ने इस महाकाव्य की रचना की। प्रारम्भ में मूलकथा संक्षिप्त थी परन्तु बाद में उसमें परिवर्तन होता रहा। महाभारत मूल रूप में 'जय' काव्य था तथा इसमें 8800 श्लोक थे तथा इसे व्यास ने वैशम्पायन को सुनाया। फिर यह भारत काव्य जिसमें 24000 श्लोक हो गये। तत्पश्चात वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को सुनाया और तब यह महाभारत हो गया। यह महाकाव्य भाषा, शैली, अलंकारों, छन्दों से अलंकृत है। इसमें काव्यगत विशेषता के साथ-साथ कथाजन्य विशेषता भी है। प्रकृति वर्णन धार्मिक प्रसंग, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जीवन को तीन दृष्टिकोण आदि अनेक विशेषताएं है जिन की वजह से यह महाकाव्य भारतीय ज्ञान का विश्वकोष भी कहलाता है।

12.1 उद्देश्य

महाकाव्य महाभारत की रचना धर्म की अधर्म की पर विजय के उद्देश्य से हुई। हजारों वर्षों पूर्व कौरवों और पाण्डवों के मध्य राज्य प्राप्ति को लेकर हुये युद्ध का इस महाकाव्य में सविस्तार वर्णन है यह कोई एक स्थान एक निश्चित समय में लिखा हुआ ग्रन्थ नहीं है बल्कि समयानुसार परिवर्तन का परिणाम है इसकी रचना वेदव्यास ने निम्न उद्देश्य से की –

* पाण्डव रूपी धर्म का कौरव रूपी अधर्म पर विजय को सर्वविदित करना।
* श्रीकृष्ण को अवतार रूप प्रस्तुत कर विष्णु की उपासना की शिक्षा देना रहा है।

इस महाकाव्य का उद्देश्य महाभारत में वर्णित उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों से अवगत कराना है। इस पाठ का उद्देश्य महाभारत महाकाव्य की काव्यगत शैलीगत विशेषताओं के साथ–साथ तत्कालीन परिस्थितियों से अवगत कराना है।

12.2 भूमिका

प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समग्र रूप से हमारे सामने प्रस्तुत करने वाले महाभारत के रचियता वेदव्यास है। जनप्रिय साहित्य की दृष्टि से महाभारत का स्थान न केवल भारत अपितु समुचे विश्व में उच्च कोटि का है। महाभारत केवल कुरूवंश के शासक, परिवार, कौरवों और पाण्डवों के मध्य संघर्ष की कहानी मात्र ही नही है बल्कि इससे तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक पक्षों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। महाभारत भारतीय सभ्यता का इतिहास ही नहीं बल्कि श्रेष्ठ ग्रन्थ भी है। इसे पांचवा वेद भी कहा जाता है। कौरवों और पाण्डवों के युद्ध के अतिरिक्त उसमें अनेक ऐतिहासिक घटनाएं भी है साथ ही साथ नीति–विषयक सामग्री जो कि विशेषतः धर्म, कर्म, नीतिशास्त्र, राजनीति, कुटनीति, तत्वज्ञान, दर्शन आदि विषयों से सम्बन्धित है, भी सम्मिलित है। महाभारत में समाज के विभिन्न नियमों के साथ धम्र के उपदेश भी समाहित है इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थो की सारगर्भित मूल बातों का भी उल्लेख मिलता है। यहीं कारण है कि इसे ऋग्वेद के पश्चात संस्कृत साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है।

12.3 रचनाकार एवं रचनाकाल

महाभारत केरचियता वेदव्यास का मूल नाम कृष्णद्वैपायन था। इनके पिता पराशर थे। इनके जन्म के लिए कहा जाता है कि ये पाराशर तथा धीवर कन्या सत्यवती के पुत्र थे। सत्यवती ने इन्हें कन्यावस्था में ही उत्पन्न किया था। पाराशर द्वारा सत्यवती के साथ घने अन्धकार जैसे कोहरे में समागम करने के कारण उनसे उत्पन्न पुत्र व्यास एक दम कृष्ण वर्ण के हुए। परिणामस्वरूप उनका नाम कृष्ण पड़ गया। सत्यवती ने यमुना के किसी द्वीप पर इनकों जन्म दिया था इस कारण ये द्वैयापन कहलाये। वेदो को संहिताबद्ध करने अर्थात उनका व्यासीकरण करने के कारण ये वेदव्यास के नाम से विख्यात हुए। तत्पश्चात् उन्होंने कठोर तपस्या करके अनेक सिद्धिया प्राप्त की। महाभारत मंविग्रत अनेक आख्यायनों में वे स्वयं भी उपस्थित थे जैसे द्रौपदी स्वयंवर पाण्डवों का वनवास, इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ आदि। महर्षि व्यास की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि 'जय' नाम के काव्य की रचना थी जो विकसित होकर वर्तमान में महाभारत के रूपमें भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि महाकाव्य है।

महाभारत के रचनाकाल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि इसका वर्तमान रूप कई शताब्दियों के विकास का परिणाम है। समय–समय पर इसमें आख्यानों का समावेश होता गया। डॉ. जी.आर. भण्डारकर की मान्यता है कि 500 ई.पूर्व. तक महाभारत एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ बन चुका था। प्रो. विण्टरनित्ज का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि ''महाभारत का वर्तमान रूप चौथी शताब्दी ई.पू. से चौथी शताब्दी ई. के बीच किसी समय प्राप्त हुआ होगा।

12.4. महाभारत की कथावस्तु :–

महाभारत की कथा मूलतः भरवंशी कौरव तथा पाण्डवों के घरेलू संघर्ष की कथा है। इसका प्रारम्भ हस्तीनापुर के महाराजा दुष्यन्त और शकुन्तला परिणय विवाह तथा भरत के जन्म से किया गया है। भरत के बाद के सभी राजाओं का विवरण न देकर महाभारतकार ने कथासूत्र को इस वंश के राजा प्रतीप व उनके पुत्र शान्तनु के विवरण से आगे बढ़ाया है। शान्तनु के पुत्र विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे धृतराष्ट्र एवं पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे इसलिए पाण्डु राजा बने। कई वर्ष तक राजकाज करने के बाद पाण्डु अपनी दोनो रानियों के साथ वन में तपस्या करने चले गये। वनवास काल में ही पाण्डु के पांच पुत्रों का जन्म हुआ जोपाण्डव कहलाये। धृतराष्ट्र के 100 पुत्र थे जिन्हें कौरव कहा जाता था। गुरु द्रोणाचार्य ने पाण्डवों को शिक्षा–दीक्षा प्रदान की और साथ ही धृतराष्ट्र के पुत्रों को भी। धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन जो बहुत ही अधर्मी, अन्यायी और अत्याचारी था पाण्डवों से ईर्ष्या करता था। पाण्डवों के भाई अर्जुन ने स्वयंवर की शर्त पूरी कर पांचाल देश की राजकुमारी द्रोपदी से विवाह कियाकिन्तु माता कुन्ती द्वारा अनजाने में कहे एक कथनके कारण पांचों पाण्डवों का विवाह द्रोपदी से हुआ। भीष्म पितामह की मध्यस्थता में पाण्डवों ने अपने पिता के राज्य का भाग प्राप्त कर इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया। दुर्योधन की धूर्तता एवं कपटता के कारण युधि ाष्ठिर जुए में अपना राज्य खो बैठा और शर्त के अनुसार 13 वर्ष तक के लिए वनवास जाना पड़ा। पांचों पाण्डव द्रोपदी सहित 12

वर्ष वनवास में रहे तथा एक वर्ष अज्ञातवास का समय विराटनगर में बिताया। तत्पश्चात जब दुर्योधन से अपना राज्य मांगा तो दुर्योधन ने सुई की नोक के बराबर की भूमि पाण्डवों को देने से इन्कार कर दिया। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को समझाया कि वह पाण्डवों को राज्य का कुछ भाग दे दे। किन्तु वह नहीं माना इस स्थिति में पाण्डवों को युद्ध का सहारा लेना पड़ा। कौरवों और पाण्डवों को युद्ध का सहारा लेना पड़ा। कौरवों और पाण्डवों के बीच कुरूक्षेत्र के मैदान में महाभारत का युद्ध हुआ जो 18 दिन तक चला। अन्त में कौरव पराजित हुये और मारे गये। इस विजय के पश्चात 36 वर्ष तक राजकाज करने के बाद अर्जुन के पौत्र परिचित को राज्य सौप कर पांचों पाण्डव एवं द्रौपदी हिमालय में तपस्या करने चले गये और वही उनका देहवसान हो गया।

12.5 महाभारत की विशेषता

महाभारत भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है, यह ज्ञानका सर्वस्व है। इसकी विशेषता निम्नलिखित है –

12.5.1 धार्मिक विविधता का समन्वय– यद्यपि महाभारत की कथा कौरवों और पाण्डवों के बीच हुये युद्ध से सम्बन्धित है तथापि इसमें अनेक आख्यानों, उपाख्यानों धर्मदर्शन की चर्चाओं तथा नीति सम्बन्धी प्रवचनों का उल्लेख मिलता है। इसमें लौकधर्म अनेक रूप ओर पक्ष दिखाई देते है। प्रचलित लोकधर्म, आध्यात्मिक व दार्शनिक शिखर से अन्धविश्वासों और मान्यताओं के गर्त तक विस्तृत था, किन्तु तत्कालीन ऋषियों और विचारकों ने इसे एकता ओर समन्वय के सूत्र में बांधते हुये वैदिक चिन्तन की परम्पराओं में सम्मिलित कर लिया इस प्रकार महाभारत में एक ओर धर्मो की विविधता दिखायी देती है तो दूसरी ओर सभी धर्मो की एकता और समन्वय के दर्शन भी होते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न – संक्षिप्त में महाभारत की कथावस्तु का उल्लेख किजिए (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

12.5.2 जीवन दृष्टि – महाभारत में मुख्य रूप से जीवन की तीन दृष्टि – नियति, कर्म और आध्यात्म नियतिवादी दृष्टि के प्रबल पोषक धृतराष्ट्र है जो जन्मान्ध होने के कारण संसार के घटनाक्रम में भाग्य को सर्वाधिक महत्व देते है। इसी प्रकार विदुर और भीष्म के सिद्धान्त कर्म पर आधारित है। भीष्म और विदुर ने कर्म और पुरूषार्थ की श्रेष्ठता का उपदेश दिया है। उनके अनुसार किसी भी कर्म में लगे रहना कल्याण की ओर ले जाता है। उन दोनो प्रवृत्तियों के विपरीत नामक ऋषि ने आध्यात्मवादी जीवन दृष्टिकोण का उपदेश दिया हे। उनके अनुसार सत्य ही शाश्वत है जो मनुष्य को पाप से बचाता है। उनके अनुसार महाव्रतों का पालन करके तथा महादोषों से दूर रहकर मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार महाभारत में जीवन की तीन दृष्टियों कर्मवादी, नियतिवादी और आध्यात्मवादी दृष्टिकोण का उपदेश मिलता है।

12.5.3 वर्णाश्रम व्यवस्था एवं सदाचार – महाभारत में शील और सदाचार को सामाजिक जीवन का मूलमंत्र बताया है। महाभारत के अनुसारसमाज के चारों वर्ण अपने गुण और कर्म के आधार पर उच्च और नीच वर्ण को प्राप्त कर सकते है। महाभारत में व्यक्ति में सत्य, दान, शील, दया, धर्म और अहिंसा आदि गुणों को व्यक्ति का श्रेष्ठ गुण बताया और इन गुणों के रहते हुए शूद्र व्यक्ति भी ब्राह्मण हो सकता बताया है, महाभारत उस कर्म, नियम और आचार को धर्म मानता है जिसका केन्द्र बिन्दु मनुष्य है। महाभारत में मनुष्य को संसार में सर्वश्रेष्ठ प्राणी बताया है। इस प्रकार महाभारत में मनुष्य के सदाचार तथा वर्णाश्रम महत्व पर विशेष बल दिया है।

12.5.4 आदर्श चरित्रों का चित्रण – यद्यपि महाभारत में संघर्षपूर्ण जीवन का आख्यान मिलता है, लेकिन फिर भी महाभारत में अनेक ऐसे चरित्र है जो समाज में एक आदर्श उपस्थित करते हैं। दुर्योधन प्रतिज्ञावश बंधे होने के कारण दुर्योधन का साथ देते हुए भी भीष्म पुरूषार्थ व तेजस्विता के साथ–साथ न्याय तथा धर्म के प्रतीक के रूप में एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार नीतिज्ञ और धर्मज्ञाता के रूप में विदुर, युधिष्ठिर को धर्मराज, अर्जुन वीरता का, नकुल व सहदेव आज्ञाकारिता का आदर्श रूप है। श्रीकृष्ण को महान कुटनीतिज्ञ व तत्वदर्शी के रूप में ही प्रस्तुत नहीं कियागया बल्कि उन्हें नारायण के अवतार के रूप में भी माना गया है। इस प्रकार महाभारत में पात्रों की अत्यधिकता होने पर भी सभी के साथ न्याय किया गया है। यद्यपि पांच पाण्डवों की पत्नि होने के कारण द्रौपदी का चरित्र आदर्श प्रतीत नहीं होता लेकिन वनपर्व में द्रौपदी को अहंकार, काम, क्रोध को छोड़कर पाण्डवों की सेवा करने वाली तथा पाण्डवों, के अतिरिक्त किसी भी पुरूष में अनुरक्त न होने वाली बताया है। इस प्रकार महाभारत में कुचरित्र वालो के बीच में आदर्श चरित्र को प्रतिष्ष्ठित किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.6 महाभारत में ऐतिहासिक दर्शन

महाभारत द्वापर युग की महान कृति है, जिसमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक आख्यायनों का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत कौरवों के मध्य हुये राजनीतिक संघर्ष का इतिहास ही नहीं है बल्कि आख्यानों व उपख्यानों के रूप में संग्रहित अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का अमूल्य व अक्षय संग्रह है। भारतीय वीरता, साहस, शौर्य और नैतिक आदर्शों की उज्जवल गाथाये इस महाकाव्य में है। महाभारत में रामायण की कई घटनाओं का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है यथा – महाभारत के सभापर्व में राम की शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि के जन्म की सूचना का उल्लेख, विष्णु के चार स्वरूपों में अवतरण का उल्लेख, राम के स्वर्गारोहण की जानकारी आदि का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वनपर्व में हनुमान और भीम के मिलने का प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से असाधारण महत्व का है। इस प्रकार महाभारत में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को विस्तार पूर्वक विस्तृत किया गया है।

12.7 महाभारत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

महाभारत में आध्यात्मिकता का पुट देखने को मिलता है। महाभारत में मोक्ष प्राप्ति के तीनों मार्गो कर्म, भक्ति और ज्ञान का विवेचन किया गया है। गीता के अनुसार यदि मनुष्य कर्मफल की इच्छा किये बिना ही इस संसार में कर्म फल की इच्छा किये बिना ही इस संसार में कर्म करता रहे तो उससे कर्म बन्धन नहीं होता और उसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है तथा भक्ति योग के द्वारा भी गीता में ईश्वर से तदाकार होने के सरलतम मार्ग को निर्देशित किया है। इस प्रकार महाभारत ने गीता के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थो, साहित्यों के उदाहरणों से आध्यात्मिकता का उल्लेख किया है। महाभारत में जन्म व मृत्यु के कारणों की व्याख्या ही नहीं बल्कि पदार्थों के सत्यासत्य का निर्णय भी किया है। शान्तिपर्व व अनुशासन पर्व में मोक्ष का विवेचन महाभारत ग्रन्थ की अमूल्य देन है। इस प्रकार महाभारत का आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है।

12.8. महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोष

महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोष महाभारत धार्मिक एवं लौकिक भारतीय ज्ञान का विश्वकोष है। इस ग्रन्थ की समग्रता के बारे में वेदव्यास ने लिखा है कि ''इस ग्रन्थ में जो कुछ है, वह अन्यत्र है परन्तु जो कुछइसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।'' यह ग्रन्थ तात्कालीन धार्मिक, नैतिक और ऐतिहासिक आदर्शो का मूल्य भण्डार है। महाभारत समस्त दर्शनों का सार, स्मृतियों का विवेचन ग्रन्थ तथा पंचम वेद माना जाता है। मानव जीवन की ऐसी कोई समस्या या कोई ऐसा पक्ष नहीं है जिस पर इस ग्रन्थ में विवेचन न किया गया हो। आदिपर्व में महाभारत को केवल इतिहास ही नहीं बल्कि धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र भी कहा है इस ग्रन्थ में चारों युगों सत्य, त्रैता, द्वापर तथा कलियुग के परिणाम और प्रमाण का विवेचन है। इसका अर्थ शास्त्र और राजनीतिशास्त्र भी है। इस प्रकार महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोष माना जाता है।

12.9 महाभारत का सामाजिक स्वरूप

महाभारत में वर्णित समाज अनेक समाजों का मिश्रित स्वरूप है। महाभारत कर्म एवं सदाचार को समाज की व्यवस्था का आधार माना गया है। महाभारत का समाज के प्रति यह सोच वर्णाश्रम व्यवस्था के आदर्श स्वरूप में स्पष्ट झलकता है। इसमें जन्म के स्थानपर चारित्रिक गुणों और कर्म पर आधारित वर्णव्वस्था का समर्थन किया गया हे। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर चार वर्णो की सृष्टि की हें महाभारत में कई स्थानों पर गुण और कर्म के अनुसार ही किसी व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण करने का आग्रह किया गया है।

अनुशासन पर्व में उल्लेख आया है कि, हीनकर्म के कारण ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त होता था और पवित्र आचरण करने वाला शूद्र ब्राह्मण माना जाता था। शान्तिपर्व के अनुसार ''सत्य, दान, क्षमा, शील, विनय, अहिंसा ओर तप जिसमें है वहीं ब्राह्मण है।'' महाभारत के गुण–कर्म के आदर्श ने समाज में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण विकसित किया लोगों को एक–दूसरे के वर्ण कर्मों को करने की स्वतन्त्रता मिलने लगी। महाभारत का मानवतावादी दृष्टिकोण शान्ति पर्व के इस कथन में स्पष्ट है कि ''मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है।' इस कारण इस महाकाव्य में मानव सेवा पर बल दिया गया है। अतिथि सेवा के महत्व का प्रतिपादन भी इसी दृष्टि से किया गया है। महाभारत में पुत्र के रूप में मान्यता व विदुर को ब्राह्मण व शूद्र से उत्पन्न कन्या का विवाह आदि उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यवहार में जन्मगत वर्ण का प्रचलन था।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – महाभारत में वर्णित आध्यात्मिक दृष्टिकोण को बताइये ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.10 महाभारत का साहित्यिक महत्व

महाकाव्य के रूप में महाभारत विश्व साहित्य का कालजयी ग्रन्थ है। साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ रामायण के समकक्ष भले ही ना हो, परन्तु यह असंदिग्ध है कि कथा संयोजन, संवाद चरित्र चित्रण, प्रकृति यह असंदिग्ध है कि कथा संयोजन, संवाद चरित्र–चित्रण, प्रकृति चित्रण, इस निरूपण भाषा व छन्द आदि की दृष्टि से महाभारत एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इस ग्रन्थ का प्रधानरस वीर है, किन्तु कहीं–कहीं शृंगार और शान्त रस के अंग रूप में दिखाई देते है। चरित्र–चित्रण की दृष्टि से महाभारत एक प्रशंसनीय महाकाव्य है क्योंकि सभी प्रमुख पात्र अपने चरित्र का वांछित प्रभाव छोड़ते हैं महाभारतकार जिस पात्र को जिन विशेषताओं के साथ कथा में प्रस्तुत करना चाहता है वैसा करने में उसे भारी सफलता मिली है।

महाभारत की भाषा में सरलता एवं गहनता का अद्भूत समन्वय है। भगवद्गीता में विश्व के महानतम दर्शन को अत्यन्त सरल व सटीक भाषा में प्रस्तुत किया है। अनेक अलंकारों के सही प्रयोग द्वारा कवि ने अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने में सफलता प्राप्त की है न केवल संस्कृत बल्कि भारत की अनेक भाषाओं के साहित्यकारों ने महाभारत की विषय सामग्री का उपयोग कर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूपसे अनुष्टुप और उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ का साहित्यिक महत्व इस बात में निहित है कि कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुन्तलम्, माघ का शिशुपाल वध भारवी रचित किरातार्जुनीय, भासकृत कर्णभार आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थों की कथाएं महाभारत से ली गई है।

12.11 सारांश

महर्षि वेद व्यास ने वेदों के आदर्श को जनता के सम्मुख लाने के उद्देश्य से महाभारत की रचना की थी। यह महाकाव्य तत्कालीन हिन्दु संस्कृति का सच्चा इतिहास है। भारतीय व्यक्तित्व का निर्माण महाभारत जैसे महान ग्रन्थ ने ही किया है। इसके उदात्त चरित्रों के अंकन शिक्षाओं और समस्याओं ने भारत में अनेक महापुरुषों और विद्वानों को निर्मित किया है, जिनसे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का रक्षण हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय व्यक्तित्व का निर्माण 'महाभारत' जैसे महान ग्रन्थ ने ही किया है। इसके उदात्त चरित्रों का अंकन शिक्षाओं और समस्याओं ने भारत में अनेक महापुरूषों और विद्वानों को निर्मित किया है, जिनसे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का रक्षण हुआ है।

12.12 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न– 1 वेदव्यास किनके पुत्र थे ?

(अ) पारासर और रूपवती (ब) सत्यवती और दुष्यन्त (स) पारासर और सत्यवती (द) दुष्यन्त और शकुन्तला

प्रश्न– 2 महाभारत की रूपरेखा को बताते हुए उसके रचनाकार एवं रचनाकाल को बताइयें ? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 ''जो कुछ है अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं।'' कथन की सिद्धी करते हुए महाभारत का वैशिष्टय स्पष्ट किजिए? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-13 : पुराणों का सांस्कृतिक महत्व

संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 भूमिका
13.3 पुराणों का अभिप्राय
13.4 पुराणों का समय
13.5 पुराणों की संख्या
13.5.1 ब्रह्म पुराण
13.5.2 पद्म पुराण
13.5.3 विष्णु पद्म पुराण
13.5.4 वायु पुराण
13.5.5 नारद पुराण
13.5.6 मार्कण्डेय पुराण
13.5.7 अग्नि पुराण
13.5.8 भविष्य पुराण
13.5.9 ब्रह्मवैवर्त पुराण
13.5.10 लिंग पुराण
13.5.11 वराह पुराण
13.5.12 स्कन्ध पुराण
13.5.13 वामन पुराण
13.5.14 कूर्म पुराण
13.5.15 मत्स्य पुराण
13.5.16 गरूड़ पुराण
13.5.17 ब्रह्माण्ड पुराण
13.5.18 भागवत पुराण
13.6 पुराणों का सांस्कृतिक महत्त्व
13.7 सारांश
13.8 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.0 प्रस्तावना

पुराण शब्द का वास्तविक अर्थ है प्राचीन पुराना। पुराण में मुख्यतः सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वनतर तथा वंशानुचरित – ये पांच लक्षण होते है। सर्ग का अर्थ है सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन। सृष्टि का विस्तार, लय एवं पुनः सृष्टि प्रतिसर्ग कहलाती है। वंश का अर्थ है सृष्टि के प्रारम्भ की देवों तथा ऋषियों की वंशावली। मन्वन्तर के अन्तर्गत मनुष्यों की संख्या, प्रत्येक मनु का समय तथा उतने समय में घटित हुई महत्वपूर्ण घटनाएं आती है। सूर्य एवं चन्द्रवंशी राजाओं का इतिहास वंशानुचारित कहलाता है। पुराणों में इन पंच लक्षणों के अतिरिक्त भी पर्याप्त विषयों का प्रतिपादन किया गया है। स्तुति, उपवास, प्रार्थना, तीर्थ व्रत, शरीर विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि नानाविद विषय पुराणों में विवेचित हुए है। पुराणों की संख्या अठारह है ये है – ब्रह्म, पदम, विष्णु, वायु, नारद, मार्कडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्ध, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरूड़, ब्रह्माण्ड, भागवत।

इन पुराणों में तत्कालीन विषयों पर पर्याप्त प्रकाश मिलता है तथा प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के महत्त्वपूर्ण स्रोत भी, कहे जा सकते हैं।

13.1 उद्देश्य

प्राचीन धर्मशास्त्रों में पुराणों का विशेष महत्व है। पुराणों का विशेष महत्व है। पुराणों को वेदों के समान माना। हिन्दू ध र्म में वेद सबसे पवित्र ग्रन्थ है। इसी प्रकार पुराण भी भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ है। इन पुराणों में प्राचीन भारतीय संस्कृति सुरक्षित है। इस पाठ का मुख्य उद्देश्य पाठकों को पुराणों में वर्णित भारतीय संस्कृति से अवगत कराना है इस पाठ को निम्न बिन्दुओं से समझाया जायेगा।

पुराणों का अर्थ बताते हुये प्राचीन धर्मशास्त्रों में मान्य 18 पुराणों का सविस्तार वर्णन किया जायेगा।

18 पुराणों में वर्णित विषय उसका महत्त्व विशेष रूप से समझाया जायेगा।

18 पुराणों में वर्णित विषय जैसे – धर्म, समाज, देवी–देवता, दर्शन, राजनीति, अर्थ, नीति नियम, कला, साहित्य, कथाएं आदि के आधार पर उनका सांस्कृतिक महत्त्व स्पष्ट किया जायेगा।

13.2 भूमिका

'पुराण' भारतीय संस्कृति के मूलाधार है। पुराणों में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों तथा उपादानों का कोष है। ये भारतीय संस्कृति की आधार शिला है एवं भारतीय समाज के आदर्शोन्मुख जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले है। इनमें धर्म, दर्शन, ज्ञान, कला, विज्ञान, तिथि, पर्व आदि का वर्णन मिलता है। इनका मूल उद्देश्य सत्य, अर्द्ध सत्य, काल्पनिक कथा, रूपक, अलंकार और अतिश्योक्तियों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेरणा देना है। इतिहास पुराणों की धर्मसंस्था का सम्बन्ध वेदों के पूर्ववर्ती काल की संस्कृति के समय तक चला जाता है। पुराण साहित्य उस युग की देन है जब आत्मा से आत्मा का उद्धार करने का आन्दोलन समाज में प्रचलित था। पुराणों के कारण लोक कल्याण की भावना भी भारत में निरन्तर तीव्र वेग से चलती रही है। यही कारण है कि भारतीय वांगमय पुराण – साहित्य का अत्यधिक ऋणी रहा है। पुराणों से कथावस्तु लेकर परवर्ती कवियों ने उत्कृष्ट काव्यों का सृजन किया है। अठारह पुराण तथा उनके परिशिष्ट रूप में लिखे गये उठारह उप–पुराण ही मुख्य है यही पुराण साहित्य के अन्तर्गत आते है।

13.3 पुराणों का अभिप्राय :–

पुराण शब्द का अर्थ है – 'पुराना आख्यान''। पुराण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी अनेक स्थानों पर विशेषण के रूप में हुआ है जिसका अर्थ वहां प्राचीन या पूर्वकाल में होने वाला से है। पद्म–पुराण के अनुसार जो प्राचीनता की अर्थात परम्परा की कामना करता है वह पुराण है। अमरकोष के व्याख्याकार भानुदीक्षित ने पुराण उस शास्त्र को कहा है जो पहले हुआ है अथवा पहले होकर भी नवीन या पहले होकर भी भूत के साथ भविष्यत् अर्थो का कथन करने वाला हो।'' निरूक्तकार यास्क ने पुराण उसे कहा है जो प्राचीन होकर भी नवीन होता है। वायु पुराण के अनुसार पुराण वह है जो प्राचीनकाल में जीवित था। आधुनिक विद्वान एम. कृष्णामाचार्य ने प्राचीन परम्परागत कथाओं को पुराण के नाम से अभिहित किया है। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान विटरनित्ज ने भी प्राचीन आख्यान या कथन को पुराण कहा है। ऊपर वर्णित पुराणों का व्याख्या से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पुराण की प्रतिपाद्य वस्तु प्राचीनकाल से सम्बद्ध होती है तथा पुराण का व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्राचीन नहीं वरन् पुराण शब्द उस साहित्य का भी द्योतक है – जो साहित्य पुराने को नवीन रूप में प्रस्तुत करने वाला हो। पुराणों में धम्र, इतिहास, आख्यान विज्ञान आदि का वर्णन है। यद्यपि पुराणों में कुछ विचित्र तथा अविश्वासनीय कथा कहानियों का उल्लेख है, तथापि इनकी सहायता से हमें प्राचीन भारत की कई ऐतिहासिक घटनाओं के बारे में पता चलता है।

13.4. पुराणों का समय

मत्सरू पुराण में लिखा है ''पुराणं सर्वशास्त्रामणं प्रथम ब्रह्मणा स्मृतम्।'' अर्थात् पुराण सभी प्राचीन शास्त्रों मं प्राचीनतम हो ब्राह्मण पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने पुराणों की सृष्टि करके वेदों का निर्माण किया। 'शतपथ ब्राह्मण में वेदों के समान ही इतिहास तथा पुराण को भी परमात्मा का निःश्वास बताया गया है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद् इतिहास, अन्वाख्यान तथा पुराण से समस्त वेद निर्मित हुये। गौतम सूत्र के अनुसार महाकाव्यों (रामायण एवं महाभारत) की रचना से पूर्व भी पुराणों का अस्तित्व था। सुप्रसिद्ध दार्शनिक शंकाराचार्य तथा कुमारिल भट्ट ने अपनी रचनाओं में पुराणों से उद्धरण दिये है। बाण कवि भी पुराणों को अच्छी तरह से जानता था। ''श्रीमद्भागवत' ने पुराण की उत्पत्ति वेद के पश्चात मानते हुये इसका उदम ब्रह्मा के मुख से स्वीकार किया है। इस आधार पर पुराण को वेद के समान प्राचीन या समकालीन ही सिद्ध किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बोध–प्रश्न

प्रश्न – ''पुराण' से क्या अभिप्राय है समझाइये ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

13.5 पुराणों की संख्या

पुराण, उप–पुराण या अतिःपुराण, जैन पुराण और बौद्ध पुराण को मिलाकर पुराणों की संख्या लगभग सौ तक पहुंच गयी है, परन्तु प्राचीन काल से पुराणों की नामावली दी हुई है। देवीभागवत पुराण में आद्य अक्षर, के निर्देश से 18 पुराणों का पता चलता है ये पुराण है –

13.5.1 ब्रह्म पुराण – पुराणों की सूची में 'ब्रह्म पुराण' का नाम सर्वप्रथम आता है अतः यह 'आदि ब्रह्म' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें 245 इकाई व 14 हजार के लगभग श्लोक है। इसमें सूर्य पूजा का विस्तार से वर्णन है अतः इसे 'सौर पुरण' भी कहते है। इस पुराण के मुख्य–मुख्य विषय है – सृष्टि की उत्पत्ति, मन्वंतर, सूर्यवंश, सोमवंशादि का वर्णन, पार्वती आख्यान, गौतमी महात्म्य एवं उसके अन्तर्गत गौतमी गंगा, वृत्तिका तीर्थ, चक्रतीर्थ, पुत्रतीर्थ, यमतीर्थ आदि अनेक प्राचीन तीर्थ एवं श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन आदि।

13.5.2 पदम पुराण– यह अत्यन्त सुन्दर पुराण है इसमें 50 हजार श्लोक और 6 खण्ड है ये खण्ड है – आदि, भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तर खण्ड। इसमें भी व्रतों, उपवासों, तीर्थों, मोक्ष व उनके साधनों का विवरण है। इसके अतिरिक्त इसमें समुद्रमंथन, पुष्कर तीर्थ की महत्ता, वृत्रानुसार संग्राम, वामनावतार, रामचरितमानस आदि की कथाएं भी हें भगवान विष्णु की नाभि से उद्भूत कमल से जगत् की नाम दिया गया है।

13.5.3 विष्णु पुराण – यह साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें 6 खण्ड, 126 इकाई तथा 23 हजार श्लोक है। इसके खण्डों को अंश कहा गया है। इसमें सृष्टि वर्णन, ध्रुव और प्रहलाद का चरित्र भूगोल, आश्रम सम्बन्धी कर्त्तव्यों का, वर्ण की मर्यादा, वेद की शाखाओं का एवं श्रीकृष्ण के उदात्त चरित्र का विवरण मिलता है। इस पुराण के अनुसार विष्णु ही हरि व शंकर है। यह जगत् विष्णु से उद्भूत है और वे ही इसके कर्त्ता और संयमकार (संहारक) है और वे ही जगत् है।

13.5.4 वायु पुराण – इसे शिवपुराण भी कहते है। इसमें 112 इकाई 11 हजार श्लोक तथा चार खण्ड (पाद) है जो इस प्रकार है – (1) प्रक्रिया (2) अनुषंग (3) उपाद्घात तथा (4) उपसंहार पाद। इसमें खगोल के साथ–साथ चतुराश्रम व्यवस्था, यज्ञ, तीर्थ तथा प्रजापति वंश का वर्णन भी हें इस पुराण में श्राद्ध तथा संगीत का भी विशद् वर्णन है। यह पुराण भी ऐतिहासिक पुराणों के अन्तर्गत माना जाता है क्योंकि यह चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्यकाल की जानकारी देता है। इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता शिव–चरित्र का वर्णन है जो कि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के दूषण से बचाता है।

13.5.5 नारद पुराण – इसे वृहद्नारदीय पुराण भी कहते हैं। इसमें पूर्व खण्ड एवं उत्तर खण्ड नामक दो विभाग है। प्रथम भाग में मोक्ष – धर्म, वर्ण और आश्रमों के आचार, श्राद्ध, प्रायश्चित आदि का वर्णन किया गया है। इसके अलावा व्याकरण, निरूक्त, छन्द का संक्षिप्त एवं ज्योतिष का विशद् वर्णन है। विष्णु, राम, कृष्ण, हनुमान, काली, महेश सम्बन्धी मन्त्रों का भी उल्लेख है। उत्तर खण्ड में एकादशी महात्म्य तथा इसी प्रसंग में राजा कक्मांगद तथा मोहनी की गाथा वर्णित है। इस पुराण में 18 पुराण की अनुक्रमणिका दी है जिसके कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व और अधिक बढ़ गया है।

13.5.6 मार्कंडेय पुराण – मार्कंडेय मुनि का कथन होने के कारण इसे मार्कंडेय पुराण कहते है। इसमें ब्रह्मवादिनी मदालसा का पवित्र जीवन चरित्र विस्तार से वर्णित है। इसमें द्रोपदी के पांच पति होने के कारण, हरिश्चंद्र की क्ा, आडंबिक युद्ध, प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम, नरक विवरण, कुवलायश्व की कथा आदि वर्णित है। प्रसिद्ध ''दुर्गा सप्तशती'' इसी का अंश है। इसमें मरणोत्तर जीवन की कथाएं है।

13.5.7 अग्नि पुराण – यह भारतीय विद्याओं का विश्वकोश है। इसमें 383 इकाई तथा साढ़े दस हजार श्लोक है और इसमें रामायण और महाभारत आदि अवतार कथाओं का विस्तार से वर्णनकिया गया है। इसमें ज्योतिष, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का विस्तार से वर्णन है। इस प्रकार इसमें समस्त ज्ञान–विज्ञान का परिचय मिलता है।

13.5.8 भविष्य पुराण – भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का उल्लेख होने के कारण इसे भविष्य पुराण कहा जाता है। इसके नामकरण के कारण बाद में भी बहुत समय तक इसमें सामग्री जोड़ी जाती रही। इसमें 14 हजार श्लोक तथा पांच पर्व, ब्रह्म, विष्णु, सूर्य, शिव तिा प्रतिसर्ग हें इसमें सूर्य पूजा, तीर्थ एवं व्रत की महत्ता, ऐतिहासिक राजवंशों की जानकारी मिलती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.5.9 ब्रह्मवैवर्त पुराण – इसमें 18 हजार श्लोक तथा 4 खण्ड ब्रह्मखण्ड, प्रकृति खण्ड, गणेश खण्ड तथा कृष्ण जन्म खण्ड है। इसमें कृष्ण को सर्वोत्कृष्ट देवता के रूप में वर्णित किया है तथा गणेश को भी कृष्ण के अवतार के रूप में कहा है। सर्वप्रथम राधा का वर्णनइसी में मिलता है। कृष्ण राधा के विवाह को भी इसी पुराण में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया है।

13.5.10 लिंग पुराण – यह कर्मकाण्ड प्रधान पुराण है। इस पुराण में भगवानशंकर की लिंग रूप में उपासना होने के कारण इसे लिंगपुराण कहा गया है। इसमें 163 इकाई तथा 11 हजार श्लोक है। इसके दो भाग – पूर्व भाग तथा उत्तर भाग है। इसमें शिव के अवतारों का वर्णन है। इसके साथ शिव द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन भी है।

13.5.11 वराह पुराण – वराह अवतार की कथा का इस पुराण से सम्बन्ध होने के कारण इसे वराह पुराण नाम से अभिहित किया गया है। इसमें 218 इकाई व 24 हजार श्लोक है। इसमें विष्णु से सम्बन्धित अनेक कथाओं और व्रतों का वर्णन है। इसमें गौरी उत्पत्ति, विवाह, दुर्गा उत्पत्ति, धनद् उत्पत्ति, विष्णु उत्पत्ति मथुरा के समग्र तीर्थों का वर्णन है।

13.5.12 स्कन्ध पुराण – यह सब पुराणों में सबसे बड़ा है। यह सात खण्डों में – माहेश्वर खण्ड, वैष्णव खण्ड, ब्रह्म खण्ड, काशी खण्ड, रेवा खण्ड, तापी खण्ड तथा प्रभास खण्ड, विभाजित है। इसमें 11 हजार श्लोक है। इस पुराण के अन्तर्गत, स्वामीकार्तिकेय (स्कंद) द्वारा शैव तत्त्वों का निरूपण किया गया है अतः इसे स्कन्ध पुराण कहा गया है। इसमें 6 संहिता – सनत्कुमार, सूत, शंकर, वैष्णव, ब्रह्म और सौर का उल्लेख है।

13.5.13 वामन पुराण – विष्णु के वामन अवतार से इस पुराण का नाम वामन पुराण रखा गया। इसमें 95 इकाई तथा 10 हजार श्लोक है। इसके अन्तर्गत पार्वती–उत्पत्ति, मानावतार, सरस्वती महात्म्य सृष्टि वर्णन, धर्म निरूपण, गौरी विवाह, गणेश उत्पत्ति, कार्तिकेय उत्पति आदि विषयों पर वर्णन है।

13.5.14 कूर्म पुराण – इस पुराण के दो भागों में 52 व 44 इकाई तथा 6 हजार श्लोक है। इसमें शिव ओर शक्ति का महात्म्य, पार्वती का तप व उनके सहस्त्र नामों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त योग से शिव के साक्षात्कार का ध्यान तथा चार आश्रमों के कर्त्तव्यों का भी वर्णन है।

13.5.15 मत्स्य पुराण –इसमें 291 इकाई तथा 15 हजार श्लोक है। इस पुराण में सोम व अन्य वंश के राजाओं, व्रतों, शंकर, त्रिपुरा सुर संग्राम, तारका वध का भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्रवर ऋषियों का वंश वर्णन, राजधर्म का विशिष्ट वर्णन, राजनीतिक विषयों आदि का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इस पुराण में समस्त पुराणों की विषयानुक्रमाणिका दी हुई है।

13.5.16 गरूड़ पुराण– इस पुराण में विष्णु ने गरूड़ को विश्व की सृष्टि बताई थी। इसमें 18000 श्लोक तथा 264 इकाई है। इसके दो खण्ड पूर्व तथा उत्तर खण्ड है। इसमें विष्णु के अवतारों, राजनीति, अवतारों, आयुर्वेद, पशु चिकित्सा, छन्द शास्त्र, सांख्ययोग व गीता का सारांश मिलता है। इस पुराण को विश्व कोशात्मक पुराणों में विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

13.5.17 ब्रह्माण्ड पुराण – इस पुराण में सारे ब्रह्माण्ड का वर्णन होने के कारण इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पड़ा। इसमें ग्रहों, नक्षत्रों और अनेक क्षत्रिय वंशों का वर्णन भी प्राप्त होता हैं इसी का एक अंश आध्यात्म रामायण है जिसमें शिव पार्वती के वार्तालाप में राम भक्ति और अद्वैत भावना को ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय कहा गया है।

13.5.18 भागवत पुराण – यद्यपि क्रम में यह तीसरे स्थान पर आता है। यह संस्कृत साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है तथा भक्ति का सर्वस्व है। इस पुराण का प्रारम्भ एवं अन्त दोनो ही गायत्री मन्त्र से होता है। यह 12 स्कन्धों में विभक्त है तथा 18 हजार श्लोक है। प्रथम छह अध्यायों में भागवत महात्म्य का वर्णन है। इसमें निर्गुण एवं सगुण का सम्यक् विवेचन उपलब्ध है। यह पुराण अन्य सभी पुराणों की तुलना में विशाल है अतः इसे महापुराण कहा जाता है। इसकी विशेषता है कि जिन चरित्रों का इसमें वर्णन है वे आचार और विचार की दृष्टि से आदर्श थे।

13.6 पुराणों का सांस्कृतिक महत्त्व

धार्मिक दृष्टि से तो पुराण अमूल्य निधि है। वास्तव में हिन्दू धर्म के प्रचार–प्रसार में पुराणों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। ये भारतीय इतिहास सभ्यता एवं संस्कृति के विश्वकोश है। इनमें प्रस्तुत राजा–महाराजाओं की वंशावलियों एवं प्राचीन भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थितियों पर सम्यक् प्रकाश डालती है। पुराण भारतीय सभ्यता एंव संस्कृति का आधार है। इनमें हिन्दू–धर्म की पूर्ण विकसित अवस्था का परिचय मिलता है। ये नीति समाजशास्त्र, दर्शन, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण तथा कला और विज्ञान आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके अनेक अंशों से लेखकों की कलात्मक प्रतिभा और ज्ञान का परिचय मिलता है।

पुराणों से हमें हिन्दू धर्म, उनकी पौराणिकता, मूर्ति पूजा, ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, दर्शन त्यौहारों, प्रथाओं एवं नीति के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। श्री एन. मुखोपाध्याय के शब्दों में – ''पुराण हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है और धर्मशास्त्र तथा तन्त्रों से मिलकर हिन्दुओं के वर्तमान युग पर गहरा प्रभाव डाल रहे है। वेदों का अध्ययन पुराविद और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपनिषदों का इकाई दार्शनिक करते है किन्तु प्रत्येक परम्परानिष्ठ हिन्दू को पुराणों का ज्ञान तो होना ही चाहिये। यह एक अलग बात है कि यह ज्ञानप्रत्यक्ष रूप से हो या परम्परागत रूप से, किन्तु इतना अवश्य है कि वह पौराणिक ज्ञान से अपने आचार –विचार या व्यवहार का परिशोधन कर सकता है और सांसारिक तथा आत्मिक कर्तव्यों को निभा सकता है।'8 वेदों और पुराणों में मौलिक एकता है तथा दोनों के वर्ण्य–विषय भी एक है केवल नाम रूप और काल ही भिन्न है। ईश्वर के प्रति अगाध आस्था और अनुपम भक्ति की पुराणों में सर्वत्र चर्चा है तथा उस परम तत्त्व भगवान का सविधि गुणगानहै। उपनिषदों में जो ज्ञान चर्चा की गई उसे पुराणों में और विस्तारपूर्वक व्याख्या सहित किया गया है।

डॉ. प्रधान का कथनहै कि – ''पुराण हमे प्राचीन भारत का इतिहास बताने का दावा करते है। ऐसा करते हुये वे ऋग्वेद काल से ही राजाओं की वंशावलियां बताना आरम्भ करते है। सृष्टि के आरम्भ से इतिहास का कथन करने की प्रवृत्ति पुराणों से स्पष्टतः मिलती है। प्रायः सभी पुराणों में प्रारम्भ में मनु की उत्पत्ति के कथन के उपरान्त उसके वंश के पुरुषों के कृत्यों तथा वंशवृक्ष का प्रतिपादन किया जाता है। इसके उपरान्त राज्य संस्था की उत्पति के वर्णन के लिये पृथु–वैन्य का चरित्र रखा जाता है। अनेक कथाओं के पश्चात् मनु से लेकर महाभारत के युद्धों तक के वंशों तथा महापुरुषों का वर्णन किया जाता है। इसमें भूगोल, देवसुरों के युद्धों, सात द्वीपों तथा सात समुद्रों का वर्णन होता है।

प्राचीन काल से ही पुराणों को वदों और शास्त्रों के समान धार्मिक ग्रन्थ माना गया है। आज भी पौराणिक धर्म और हिन्दू धर्म पर्यायवाची माने जाते हैं। वैदिक ग्रन्थों में भी इतिहास के साथ ही पुराणों का उल्लेख किया गया है। – चाणक्य के अर्थशास्त्र में अथर्ववेद के साथ इतिहास वेद की गणना कर इतिहास में इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का समावेश किया गया है। पुराणों की प्राचीन कथाओं का मूल वैदिक संहिताओं में, ब्राह्मणों में व उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। पुराणों को स्थान–स्थान पर पंचम वेद कहा गया है। पुराणों ने वैदिक तत्त्वों को रोचक एवं सरल रूप में जनसाधारण के सम्मुख रखने का प्रशंसनीय कार्य किया है।पुराणों में समाज के आधार स्तम्भ वर्णाश्रम पर बल दिया गया है। कूर्मपुराण में कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान के साथ–साथ वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिये।'' वर्णाश्रम का पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है और व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। विष्णु पुराण में भी इसका उल्लेख है। भागवत पुराण में मोक्ष निरूपण, भगवत् भजन, देवोपासना, जगत तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति, प्रलय के नैमित्तिक, ब्रह्मा द्वारा निर्मित राजाओं की भूत, भविष्य तथा वर्तमान परम्परा का वर्णन, मन्वंतर के विशिष्ट सहयोगियों तथा पदार्थों और जीव की सृष्टि, परब्रह्म के अनुग्रह, जीव के संचालन की उपयोगी वस्तुओं तथा भगवान के अवतार तथा विभिन्न लीलाओं आदि भी पुराणों में वर्णित है।

पुराणों में विभिन्न भक्ति सम्प्रदायों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए विभिन्न देवताओं की स्तुति, बलि, पूजा, व्रत–उत्सव, तीर्थादि का भी वर्णन किया गया है। समस्त पुराण उसी ईश्वर की सर्वशक्ति सत्ता का घोष करते हुये समस्त सृष्टि का कारण उसे ही स्वीकार करते है। अनेक देवता उसी ईश्वर से उद्भुत है। पुराणों में त्रिमुर्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये ब्रह्मा, विष्णु एवं रूद्र का एकत्व स्वीकार किया गया है। पुराणों में असम्भव और अतिरंजक घटनाओं की भरमार है तथा आपसी मतों में भी अनेक असंगतियां है। इस प्रकार पुराण संस्कृति के महत्त्वपूर्ण घटक कला, साहित्य, राजनीति, धर्म, समाज अर्थ आदि के मूल स्रोत है।

13.7 सारांश

इस प्रकार पुराणों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। वेदों और पुराणों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कार विहीन एवं दोषयुक्त व्यक्ति वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं थे। उन्हीं को उपदेश देने लिये समस्त वैदिक ज्ञान पुराणों में संग्रहित किया गया। पुराणों में हिन्दु धर्म अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में प्रतिबिम्बित दिख पड़ता है। वैदिक ग्रन्थों, स्मृतियों, धर्म ग्रन्थों एवं आधुनिक, संस्कृति तथा अन्य भाषा के ग्रन्थों पर पुराणें का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं को आधार बनाकर अब तक कई विद्वानों ने इतिहास को रचा है।

13.8 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न– 1 सर्वप्रथम किस पुराण में राधा एवं कृष्ण के विवाह का उल्लेख मिलता है?
(अ) विष्णु पुराण (ब) अग्नि पुराण (स) ब्रह्मवैवर्त पुराण (द) भागवत पुराण

प्रश्न– 2 पुराणों के काल पर टिप्पणी लिखिये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 ''पुराणों का अर्थ बताते हुये समस्त पुराणों का सविस्तार उल्लेख करिये तथा इसके सांस्कृतिक महत्त्व को समझाइये? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–14 : गुप्तकाल में विज्ञान का विकास

संरचना

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 भूमिका

14.3 गुप्तकाल में विज्ञान का विकास

14.3.1 आर्यभट्ट

14.3.2 ब्रह्मगुप्त

14.3.3 वराहमिहीर

14.3.4 अन्य

14.4 सारांश

14.5 अभ्यास प्रश्नावली

14.0 प्रस्तावना

गुप्त सम्राटों का शासनकाल प्राचीन भारतीय इतिहास के उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई तथा हिन्दू संस्कृति अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। गुप्तकाल की चहुमुखी प्रगति के कारण ही इसे 'स्वर्ण युग' क्लासीकल युग ''भारत का 'पेराक्लीज युग' आदि कहा जाता है। यह काल अपने प्रतापी राजाओं तथा अपनी सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के कारण भारतीय इतिहास के पृष्ठों में स्वर्ण के समान प्रकाशित हे। मानव जीवन के सभी क्षेत्रों ने इस समय प्रफुल्लता व समृद्धि के दर्शन किये थे। इसी कारण कुछ विद्वान इस काल को भारतीय संस्कृति के पुनरूत्थान का काल मानते हैं। गुप्तकाल में जहां चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, स्कन्धगुप्त आदि जैसे महान शासकों ने अपने पराक्रम से गुप्तकाल का चहुमुखी विकास किया वहीं राजनैतिक एकता को भी बल मिला। गुप्तकालीन श्रेष्ठ शासन व्यवस्था के कारण आर्थिक समृद्धि, भारतीय संस्कृति के प्रचार–प्रसार का समय भी था।

यही नहीं वरन् गुप्तकाल में वास्तु, लक्षण, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का भी पूर्ण विकास हुआ। साहित्य एवं विज्ञान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्तकाल में विज्ञान का विकास अपने चरमोंत्कर्ष पर था। गुप्तकाल में ही आर्यभट्ट और वराह मिहिर जैसे जगत प्रसिद्ध गणितज्ञ व ज्योतिषाचार्य पैदा हुये। इनकी रचनाएं आज भी विश्व में प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम आर्यभट्ट ने ही यह खोज की कि पुथ्वी अपनी धुरी की परिक्रमा करती है तथा सूर्य के चारों ओर घूमती है। आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीय' नामक कृति की रचना की। इसी प्रकार 'ब्रह्मगुप्त' भी गुप्तकालीन प्रसिद्ध गणितज्ञ थे। वराहमिहिर प्रसिद्ध खगोलशास्त्री एवं ज्योतिषाचार्य थे जिन्होंने पंचसिद्धान्तिका, वृहज्जातक, वृहदयात्रा तथा वृहत्संहिता नामक ग्रन्थों की रचना की।

इसके अलावा कालकाव्य नामक पशुचिकित्सक, सुश्रुत एवं चरक प्रमुख चिकित्साशास्त्री, नागार्जुन आदि भी गुप्तकाल के प्रसिद्ध विज्ञानविद् थे।

इस प्रकार गुप्तकाल में जहां चहुमुखी विकास हुआ उसी प्रकार विज्ञान की भी अभूतपूर्व उन्नति हुई।

14.1 उद्देश्य

गुप्तकाल प्राचीन भारत का स्वर्ण युग रहा है। इस काल में गुप्त शासकों का प्रश्रय पाकर अनेक विद्वानों ने कला, साहित्य एवं विज्ञान में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया परिणामस्वरूप प्रशासन के साथ–साथ प्रत्येक क्षेत्र में विकास हुआ। विज्ञान के क्षेत्र में भी गुप्तकाल में अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस पाठ के द्वारा गुप्तकाल ने विज्ञान के विकास को समझाया जायेगा वह भी निम्न बिन्दुओं के माध्यम से –

* **विज्ञान की विभिन्न शाखाओं** : गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, आयुर्वेद, धातु विज्ञान आदि, के क्षेत्र में हुये विकास को समझाया जायेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14.2 भूमिका

जिस प्रकार गुप्तकाल में प्रत्येक क्षेत्र में विकास हुआ और उस काल को स्वर्णकाल कहा गया। गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहलाने में गुप्तकाल में हुई विज्ञान की प्रगति को भी श्रेय जाता है। गुप्तकाल में भारतवर्ष सामाजिक एवं भौतिक उन्नति की उल्लेखनीय पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। इस समय भारतवर्ष में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना हुई, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों में सर्वागीण विकास सम्भव हो सका था। गुप्तकाल में खगोल शास्त्र, गणित तथा चिकित्साशास्त्र के क्षेत्रों में विकास हुआ। गुप्तकालीन विज्ञान को शून्य के सिद्धान्त तथा दशमलव प्रणाली के विकास का श्रेय प्राप्त है। इस काल में गणित और ज्योतिष्ज्ञ विज्ञान के क्षेत्र में आर्यभट्ट का स्थान सर्वोपरि है जिन्होंने 'आर्यभट्टीय' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस काल के अन्य प्रमुख गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त थे। ब्रह्मगुप्त ने ग्रहण को चन्द्रमा और पृथ्वी की छाया का परिणाम बराहमिहिर भी गुप्तकाल के प्रसिद्ध गणितज्ञ ओर ज्योतिष थे।

भोतिक विज्ञान के अन्तर्गत अणु के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस काल में रसायन एवं धातुविज्ञान के ज्ञाता नागार्जुन ने अनेक परीक्षणों द्वारा यह प्रमाणित किया कि विभिन्न धातुओं तथा खनिज पदार्थों की रासायनिक प्रक्रिया द्वारा रोगों की चिकित्सा की जा सकती है। गुप्तकाल में धातुविज्ञान की पराकाष्ठा का रूप तथा उदाहरण महरौली लौहस्तम्भ में प्रयुक्त धातु मिश्रण है, जो आधुनिक वैज्ञानिक के लिये भी एक पहेली है।

गुप्तकाल आयुर्वेद चिकित्सा के विकास का युग था। इस समय चरक तथा सुश्रुत ने चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में नवीन प्रयोग तथा अनुसंधान किये। गुप्तकाल में कालकाव्य नामक पशु चिकित्सक थे जिन्होंने 'हस्त्यायुर्वेद नामक ग्रन्थ में हाथियों के रोगों के निदान की विधियां बताई थी।

14.3 गुप्तकाल में विज्ञान का विकास

गुप्तकाल में विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्तकाल में विज्ञान के विकास को निम्न बिन्दुओं में बांटा जा सकता है।

14.3.1 आर्यभट्ट– गुप्तकालीन गणित एवं ज्योतिष विज्ञान में सबसे प्रथम नाम आर्यभट्ट का आता है जो ज्योतिष शास्त्र में विकसित हो रही सिद्धान्त ज्योतिष्ज्ञ प्रणाली के अग्रणी विद्धान माने जाते है। आर्यभट्ट ने आर्यभट्टीय कृति की रचना की जो आज उपलब्ध है। आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ के द्वितीय इकाई की प्रथम आर्या में लिखा है – ''आर्यभट्टस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्।'' जिससे ग्रन्थ निर्माण स्थान कुसुमपुर सिद्ध होता है।

आर्यभट्टीय में कुल 121 श्लोक है, जो चार अध्यायों में विभाजित हैं – (1) गीतिकापाद (2) गणितपाद (3) कालक्रियापाद (4) गोलपाद। इनमें प्रथम दो गणित से तथा शेष दो ज्योतिष से सम्बन्धित है। इस अर्थ में आर्यभट्ट प्रथम ज्योतिषविद् थे जिन्होंने अपने लेखन में ज्योतिषशास्त्र के साथ शुद्ध गणित का समन्वय किया।

गीतिका पाद सबसे छोटा केवल ''श्लोको का है परन्तु इसमें इतनी सामग्री भर दी गई है जितनी सूर्य सिद्धान्त के पूरे मध्यमाधिकार ओर कुछ पृष्ठाधिकार में आयी है। इसमें लम्बी संख्याओं को संक्षिप्त श्लोक में लिखने की दृष्टि से इन्होंने अक्षरों के द्वारा संख्या प्रकट करने की नवीन रिति का प्रतिपादन किया। इस पद्धति के अनुसार 'क' से लेकर 'म' तक के वर्ण क्रमशः 1 से लेकर उसके अन्तर के हकार तक के सभी वर्णो के मूल्यों में 10 की वृद्धि होती गई। इस प्रकार 'य' 30 'र' 40, 'ल' 50 होती गई।

अ 1,	ई 100,	
उ 100^2,	ऋ 100^3,	
लृ 100^4,	ए 100^5,	
लृ 100^6,	ओ 100^7,	ए 100^4

आर्यभट्ट का मूल सिद्धान्त था कि पृथ्वी का दैनिक भ्रमण होता है और सूर्य स्थिर रहता है। जैसे चन्द्रमा 5,77,53,336 और पृथ्वी 1,58,22,37,500 बार घूमती हुई मानी गई है। आर्यभट्ट ने इन तीन संख्याओं को अपनी पद्धति ने इस प्रकार लिखा है–

रव्युघृ, चर्यागथिडु.शुछ्लृ और डि.शिबुण्लृ ख्षृ।

अर्थात् 'ख' 2 के लिए एवं 'य' 30 के लिए लिखा गया है और उसमें भी उ की मात्रा लगी है। 100^2 इस प्रकार ख्युमु का अर्थ हुआ $32+100^2 = 3,2,0000$ इसी प्रकार धृ में ध = 4, ऋ = 100^3 अर्थात् घृ = 40,00000 इस प्रकार शब्द ख्युघृ का अर्थ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हुआ – 4320000 यद्यपि आर्यभट्ट द्वारा प्रदत इन श्लोको में काफी कमियां है लेकिन इन श्लोको से थोडे और संक्षिप्त में भी बहुत अधिक जानकारी प्राप्त होती है इस प्रकार अक्षरों की संख्या से बड़ी से बड़ी संख्याओं और उनके द्वारा की गई गणनाओं तथा फल को कुछ श्लोकों में ही समेटा जा सकता है कुछ विद्वानों का मानना है कि आर्यभट्ट को अक्षरांक पद्धति को जन्म देने की प्रेरणा यूनानी असरांक पद्धति को जन्म देने की प्रेरणा यूनानी अक्षरांक पद्धति से मिली होगी। लेकिन अक्षरो द्वारा अंको को प्रदर्शित करने की रिति सर्वप्रथम जैमिनिय सूत्र मं देखी जा सकती हें परन्तु स्वर व व्यंजन के वर्ग बनाकर अंकों को प्रदर्शित करना आर्यभट्ट की स्वतंन्त्र बुद्धि का परिणाम है। इस प्रकार आर्यभट्ट पहले आचार्य हुए जिन्होंने अपने ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थ में अंक गणित, बीज गणित और रेखागणित के प्रश्नों की जानकारी दी है उन्हांने बहुत से कठिन प्रश्नों को 30 श्लोकों में भर दिया है। पहले श्लोक में अपना नाम और स्थान बता दिया है। दूसरे श्लोक में संख्या लिखने की दशमलव पद्धति की संवर्गयों के नाम है। आगे के श्लोको में वर्ग, वर्गक्षेत्र, धन, धनपत वृत्त का क्षेत्रफल, वर्गमूल, धनमूल, त्रिभूज का क्षेत्रफल त्रिभूजाकार शंखों का क्षेत्रफल, विषय चतुर्भुज क्षेत्र के कोणों के समपात में भुजा की दूरी और नेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रों की मध्यम लम्बाई ओर चौड़ाई जानकर क्षेत्रफल जानने के नियम दिये है। आर्यभट्ट ने बताया है कि परिधि के छठवे भाग की ज्या उसकी त्रिज्या के समान होती है और यदि वृत्त का व्यास 2000 हो तो उसकी परिधी 62832 होती है। इस प्रकार अपने ग्रन्थ के गणित पाद–खण्ड में उन्होंने अनेक अंकगणित, बीजगणित व रेखागणित के सिद्धान्त भर दिये। आर्यभट्ट ने वृत्त, त्रिभुज तथा चतुर्भुज बताने की विधि की जानकारी भी दी गई है। बीजगणित के अन्तर्गत आर्यभट्ट ने बताया है कि (क+ख)^2 – (क^2+ख^2) = 2 क,ख। इसी प्रकार दो राशियों का गुणनफल ज्ञात करके उनका अन्तर ज्ञात करके राशियों को अलग–अलग करने की पद्धति की जानकारी भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में दी है। इसके अलावा भिन्नों को हरो (भाग देने वाली संख्या) को सामान्य हरों में परिवर्तित करने की विधि, भिन्नों में गुणा और भाग देने का तरीका भी आर्यभट्ट के ग्रन्थों में बताया है।

आर्यभट्ट ने ही सर्वप्रथम बताया कि पृथ्वी गोल और अपनी धूरी पर घूमती है। इन्होंने ने ही सर्वप्रथम पृथ्वी की गति और परीधि का अनुमान लगाया। आर्यभट्ट ने सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के विषय में प्रतिपादित किया कि यह चन्द्रमा और सूर्य की छाया का प्रतिफल होता है। उन्होंने यह भी जानकारी दी कि चन्द्रमा स्वयं नहीं चमकता वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशवान होता है। उस काल में वैज्ञानिक आविष्कार न होते हुए भी आर्यभट्ट ने सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी की गति का पता लगाया।

आर्यभट्ट के कालक्रिया पाद नामक खण्ड में ज्योतिष सम्बन्धी विवरण मिलता हें पहले आठ श्लोकों में काल और कोण की संवर्गयों मास, वर्ष और युग के विषय में चर्चा की हे। इसमें चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरम्भ बताई है। इस खण्ड के 20 श्लोकों में ग्रहों की मध्यम और स्पष्ट गति सम्बन्धी नियम बताये है।

आर्यभट्टीय का अन्तिम इकाई गोलपाद है जिसमें कुल 50 श्लोक है इसमें विभिन्न ग्रहों गति, ग्रहों के पात और पृथ्वी की छाया से ग्रहों का रविमार्ग पर भ्रमण बताया गया है। इस इकाई में यह भी बताया गया है कि सूर्य से कितने अन्तर पर चन्द्रमा, मंगल, बुद्ध आदि दृष्टव्य होते है। इस इकाई में यह भी बताया गया है कि मंगल ग्रह ही पृथ्वी के सबसे निकट है। इसी खण्ड के 16वें श्लोक में बताया है कि उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव पर खगोल किस प्रकार घूमता हुआ दिखाई देता है। अन्य श्लोकों में विभिन्न ग्रहों की गति को बताया गया है और अन्तिम श्लोक के अनुसार आर्यभट्टीय ग्रन्थ वैसा ही है जैसा आदिकाल में स्वयंभू का था आर्यभट्टीय के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें ज्योतिष सिद्धान्त की प्रायः सभी बाते और उच्च गणित की कुछ बाते सूत्र रूप गें लिखी गई है। आर्यभट्ट प्रथग व्यक्ति थे जिन्होंने अपने सिद्धान्त ज्योतिष गें निश्चित रूप रो एक गणिताध्याय का सन्निवेश किया। आर्यभट्ट गणित शास्त्र के तो महान् ज्ञाता थे ही ज्योतिष के सम्बन्ध में भी आपने काफी ख्याति प्राप्त की। आर्यभट्टीय ग्रन्थ पर चार टीकाएं उपलब्ध है जिनके रचियताओं के नाम इस प्रकार है – भास्कर प्रथम, सूर्यदेव यज्वा परमेश्वर तथा नीलकण्ठ। आर्यभट्ट की इस उपलब्धी के कारण ही जब भरत की राष्ट्रीय सरकार ने स्पूत्नीक आकाश में छोड़ा तो उसका नाम आर्यभट्ट रखा।

14.3.2 ब्रह्मगुप्त :– प्राचीन भारतवर्ष के सर्वप्रथम गणितज्ञ थे। इन्होंने शून्यपरि कर्म क्षेत्रमिति के उच्च नियम, बीज गणित तथा अनन्त राशि के नियम समझाए। उन्होंने लिखा है कि –

परिकर्मविंशतिमिमां संकलिताद्यां पृथग्विजानाति।

अष्टौच व्यवहारान् छायान्तान् भवति गणकः सः।।

अर्थात् संकलित आदिगणित की 20 क्रियाओं तथा 8 व्यवहारों को जो जानता है वह गणक है। वैदिककाल में गणक ज्योतिषी को कहते थे। ब्रह्मगुप्त ही प्रथम गणितज्ञ थे जिन्होंने बताया कि शून्य से भाग देने पर कोई भी ऋण अथवा तच्छेद या खच्छेद (अनन्त) हो जाती है यो कहते है कि –

'खोद्ध तमृणं धनंवा तच्छेदम्'।

इसी प्रकार से ही सर्वप्रथम समीकरण साधन के नियमों का उल्लेख किया है। जैसे – अव्यक्तान्तर भक्तम् व्यस्तं रूपान्तरं समेऽव्यक्तः अर्थात् अचरों के अन्तर को गुणांकों के अन्तर से भाग देने पर अव्यक्त का मान व्यक्त हो जाता है जैसे –

कय + ख

= गय + घ

तो = य घ – ख

ब्रह्मगुप्त वे अज्ञात राशि के लिए अव्यक्त शब्द प्रयोग किया। इस प्रकार ब्रह्मगुप्त ने बीजगणित के विभिन्न नियम दिये। ब्रह्मगुप्त ने गुणोत्तर श्रेणी के योग के नियम भी दिये है जैसे –

'गुणसंकलितान्त्यघनं' विगतैक्यपदस्य गुणधनं भवति।
तद्गुणगणनमुखोनंव्येकोतर भाजितम् सारम्।।

यहां अंत्यधन अन्तिम पद के लिए, गुण सार्वअनुपात के लिए प्रयुक्त हुए है।

आ गु$^{न-1}$ गु – आ

श्रेणी योग =

गु – 1

आ (गु^{न} – 1)

=

गु – 1

यहां अन्त्यमधन = आ गु तथा गु, गुणधन (Common ractio) के लिए प्रयुक्त हुए है।

ब्रह्मगुप्त ने एक श्लोक के माध्यम से यूक्लिम्ड के एक प्रमेय की छलक दिखलाई है –

वृत्तेशरोनगुणिताद्वायासाच्चतुराहतात्पदं जीवा।
ज्यावर्गश्चतुराहतशरभक्तः शरयुतोव्यासः।।

अर्थात् r कख x ख प = च छ

इस श्लोक में यदि दो जीवाये परस्पर एक दूसरे को काटती हो तो एक के अन्तः गुणा दूसरे के अन्तः खण्डों के गुणा के बराबर होती है, इस प्रमेय का आधार है। पाइथागोरस प्रमेय को ब्रह्मगुप्त ने और अधिक विस्तृत रूप से वर्णित किया। उन्होंने कोणास्पृग्वृत्त (चतुर्भुज के परिगत वृत्त) के त्रिज्या के निकालने का नियम भी बताया था।

14.3.3 वराहमिहिर :

वराहमिहिर गुप्तकाल के प्रसिद्ध खगोलशास्त्री एवं ज्योतिषियों में प्रमुख थे। आपका जन्म उज्जयिनी के निकट काम्पिल्य में हुआ। इसके समय को लेकर विद्धानों में अलग–अलग मत है लेकिन कहा जा सकता है कि इनका काल पांचवी शती के उत्तरार्द्ध एवं छठी शती के पूर्वार्ध के मध्य माना जा सकता है। इनके पिता का नाम आदित्यदास और माता का नाम सत्यवती था। इनके पिता ने सूर्य की उपासना की तत्पश्चात् वृद्धावस्था में इन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। इनके पिता इनके विद्यागुरू थे तथा सूर्यदेव को प्रसन्न करके उन्होंने अशेष ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने मुख्यतः चार ग्रन्थों की रचना की। लेकिन, इनका जीवन परिचय पूर्णतयाः चार ग्रन्थों की रचना की। लेकिन इनका जीवन परिचय पूर्णतया प्राप्त नहीं होता। इनके एक ग्रन्थ 'वृहज्जातक' के उपसंहार में वराहमिहिर का थोड़ा परिचय मिलता है। ये चार ग्रन्थ है – 1. पंचसिद्धान्तिका, 2. वृहज्जातक, 13. वृहद्यात्रा तथा वृहद्विवाहपटल, 14. वृहत्संहिता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इनमें पंचसिद्धान्तिका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष विज्ञान के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। पंचसिद्धान्तिका में 18 इकाई और कुल 442 श्लोक है। इनमें पौलिश, रोमक, वशिष्ठ, सूर्य और पितामह इन पांच सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। इसमें यह भी बताया गया है कि सूर्य सिद्धान्त सबसे उत्तम है। उसके बाद रोमक एवं पोलिश तथा शेष दो सिद्धान्त अत्यन्त हीन है। वराहमिहिर का पंचसिद्धान्तिका ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जो गुप्तपूर्व ज्योतिष की पांच सिद्धान्त धाराओं की समीक्षा करता है।

पंचसिद्धान्त का 12वां इकाई पितामह सिद्धान्त का सारांश देता है। इस इकाई में केवल पांच श्लोक है। पितामह के अनुसार रवि और राशि का युग पांच वर्ष का होता है। तीन महिने में एक अधिक मास होता है और बासठ दिनों में एक तिथि का क्षय होता है। इसमें केवल चन्द्र और सूर्य की गतियों की ही गणना ली गई है। इस सिद्धान्त में पांच वर्ष का एक युग माना गया है।

वसिष्ठ सिद्धान्त को पंचसिद्धान्तिका में बहुत ही संक्षिप्त में प्रस्तुत किया गया है। इसमें राशियों की चर्चा की गई है।

पंचसिद्धान्तिका के 8 वे इकाई में रोमक सिद्धान्त से सम्बन्धित 18 श्लोक है। यह सिद्धान्त यूनानी ज्योतिष से प्रभावित था। लेकिन इसमें कुछ ऐसे तत्त्वों का समावेश है जो यवन ज्योतिष्ज्ञ से मेल नहीं खाते। इसी में यह बताया गया है कि एक युग में 1050 अधिमास और 16547 तिथियां क्षय होती है।

पौलिश सिद्धान्त में 16 श्लोक है। इस सिद्धान्त में ग्रहणों की गणना के नियम दिये गये है, परन्तु वे बहुत स्थूल है। गणना की सुविधा के लिये सन्निकट मानों से काम चलाया गया है। पौलिश सिद्धान्त में वर्ष 365 दिन 6 घण्टा 12 मिनट का बताया गया है।

सूर्य सिद्धान्त अन्य चारों सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण है। इसके 14 इकाई है। इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह समान वेग से परिभ्रमण नहीं करते है परन्तु गणित की सुविधा के लिये उनकी परिभ्रमण गति एक सी मान ली गई है।

इसी प्रकार पंचसिद्धान्तिका में अन्य विषयों पर भी विशद् विवेचना की गई है। जैसे – ग्रह–युति, नक्षत्र युति, चन्द्र सावन वर्ष, उत्तरायण संक्रान्ति आदि के समयों की विवेचना भी की गई है।

वृहत्संहिता गुप्तयुगीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संहिता है जो कि वरामिहिर द्वारा प्रणीत है। वराहामिहिर ने इस ग्रन्थ में ज्योतिष के साथ साथ भारत के तत्कालीन भूगोल, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री के साथ साथ वास्तुशास्त्र तथा मूर्तिकला आदि से सम्बन्धित रोचक सामग्री का भी संकलन किया है। इसके विषय इतने विविध है कि इसे भारतीय संस्कृति का कोश कहा जा सकता है। इसमें विश्व के सन्दर्भ में चर्चा, नक्षत्रों के विभिन्न परिणामों की चर्चा है साथ ही भूकम्प, उल्का, इन्द्र धनुष और प्रतिसूर्य जैसे सृष्टि चमत्कारों पर भी वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त जलयोग, भवन निर्माण का स्थान, देव प्रतिमा विचार, दीप लक्षण, दन्त धावन तथा आकाश, पृथ्वी सम्बन्धी अनेक विषयों पर विशद् विवेचन किया गया है।

वराहमिहिर ने जातक स्कन्ध पर तीन पुस्तकों की रचना की थी – वृहज्जातक, वृहद्षिवाहपटल तथा वृहद्यात्रा। जातक ग्रन्थों के अन्तर्गत मनुष्य की जन्मकालीन ग्रह स्थिति या तिथि नक्षत्रादि द्वारा उनके जीवन के सुख–दुख आदि का अनुमान कुण्डली बनाकर किया जाता है। वृहज्जातक होरा शाखा का ग्रन्थ है इसका सम्बन्ध जन्म पत्री से है।

वराहमिहिर भारत के ही नहीं बल्कि विश्व विख्यात ज्योतिष विज्ञान और खगोल विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनके कई ग्रन्थों का आगे चलकर अरबी भाषा में अनुवाद किया गया तथा आपके ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी गई।

14.3.4 अन्य

गुप्तकाल में हुए चहुमुखी विकास को देखते हुये ही विद्वानों ने इस काल को स्वर्णयुग की संज्ञा दी। जहां एक और गणित एवं ज्योतिष विज्ञान में विकास हुआ वहीं आयुर्वेद एवं चिकित्सा विज्ञान में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्तकाल चिकित्सा एवं आयुर्वेद के विकास का युग था। इस समय चरक तथा सुश्रुत ने चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में नवीन प्रयोग तथा अनुसन्धान किये। गुप्तकाल में वनस्पतियों, पारे, धातुओं तथा भस्मों के प्रयोग द्वारा विविध जीवनदायिनी औषधियां बनाई जाती थी। गुप्तकाल में शल्य चिकित्सा की जाती थी। गुप्तकाल में कालकाव्य नामक पशुचिकित्सक ने 'हस्त्यायुर्वेद नामक ग्रन्थ में हाथियों के रोगों के निदान की विधियां बताई थी। गुप्तकाल में शारीरिक चिकित्सा पर भी काफी प्रगति हुई। इस काल में वाग्भट्ट ने 'अष्टांग–संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत अणु के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस काल में रसायन तथा धातुविज्ञान के ज्ञाता 'नागार्जुन' थे जिन्होंने अनेक परीक्षणों द्वारा यह प्रमाणित किया कि विभिन्न धातुओं तथा खनिज पदार्थों की रासायनिक प्रक्रिया द्वारा रोगों की चिकित्सा की जा सकती थी। गुप्तकाल के धातुविज्ञान की पराकाष्ठा का रूप तथा उदाहरण महरौली लौहस्तम्भ में प्रयुक्त धातु मिश्रण है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए भी एक पहेली है। यह स्तम्भ 24 फीट ऊँचा और 6½ टन भारी है। ऐसे स्तम्भ का निर्माण यूरोप में वर्तमान काल में ही सम्भव हो सका अर्थात् विज्ञान की यह प्रगति जो आज हुई वह गुप्तकाल में प्रारम्भ हुई।

14.4 सारांश

इस प्रकार गुप्तकालीन विज्ञान की उपलब्धियां अमूल्य तथा श्रद्धेय है। गुप्तकाल में गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, आयुर्वेद प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त सम्राटों ने अपने दरबार में विभिन्न वैज्ञानिकों को शरण दे रखी थी परिणामस्वरूप गुप्तकाल में विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हुई।

आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, चरक, सुश्रुत गुप्तकाल की महान् विभूतियां रही है। यद्धपि चरक, सुश्रुत, नागार्जुन के समय में विभिन्न विद्धानों में मतभेद है लेकिन यह भी नहीं नकारा जा सकता है कि गुप्ताकाल में विज्ञान की अभूतापूर्व उन्नति हुई थी।

गुप्तकाल की वैज्ञानिक प्रगति के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए, जब आधुनिक भारत ने अन्तरिक्ष में अपना प्रथम उपग्रह छोड़ा तो उस उपग्रह का नाम आर्यभट्ट रखा गया।

14.5 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न – 1 कौनसा ग्रन्थ 'वराहमिहिर' का नहीं हैं?

(अ) वृहत्संहिता (ब) आर्यभट्टीय (स) पंचसिद्धान्तिका (द) वृहज्जातक

प्रश्न – 2 पंचसिद्धान्तिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न – 3 गुप्तकाल में विज्ञान के विकास पर निबन्धात्मक विवरण दीजिए?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–15 : कालिदास

संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 जीवन परिचय
15.3 काल निर्णय
15.4 कालिदास की कृतिया
- 15.4.1 ऋतुसंहार
- 15.4.2 कुमार सम्भव
- 15.4.3 रघुवंश
- 15.4.4 मेघदूत
- 15.4.5 मालविकाग्निमित्रम्
- 15.4.6 विक्रमोर्वशीय
- 15.4.7 अभिज्ञानशाकुन्तलम

15.5 कालिदास के काव्य की विशेषताएं
- 15.5.1 भाषा शैली एवं छन्द योजना
- 15.5.2 अंलकार योजना
- 15.5.3 प्रकृति के साथ तादात्म्य
- 15.5.4 सौन्दर्य चित्रण
- 15.5.5 नारी सौन्दर्य
- 15.5.6 कवि दृष्टिकोण में प्रेम
- 15.5.7 मानवीय भावनाओं का सुन्दर चित्रण
- 15.5.8 सामाजिक जीवन की झांकी

15.6 सारांश
15.7 अभ्यास प्रश्नावली

15.0 प्रस्तावना

कालिदास के जीवन वृत्त के विषय में अनेक अनिश्चितताएं है। ना उनके जन्म के बारे में निश्चित पता है ना ही उनके जन्म स्थान के बारे में। बंगाल, काश्मीर एवं उज्जैनी को उनका जन्म स्थान बताया जाता है। कालिदास के ग्रन्थों से इनका ब्राह्मण एवं शिवभक्त होना सिद्ध होता है। कालिदास को सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार माना गया है।

कालिदास की सात कृतियां विशेष प्रसिद्ध है – (क) नाटक – अभिज्ञानशाकुन्तलाम्, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्रम्, (ख) काव्य ग्रन्थ रघुवंश, कुमारसम्भव (ग) गीतिकाव्य – मेघदूत, ऋतुसंहार।

इन रचनाओं में काव्यगत अनेक विशेषताएं है जो कालिदास की महत्त्वपूण देन रही है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में सौन्दर्य चित्रण, नारी चित्रण, भाषा शैली, अलंकार योजना छन्द योजना, प्रकृति के साथ मानव का तादात्म्य, प्रेम, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी विशेषताओं को विस्तारपूर्वक चित्रित किया है। कालिदास ने मानवीय भावनाओं एवं प्रकृति का सौन्दर्य चित्रण अत्यन्त सजीव एवं सुन्दर ढंग से किया है।

कालिदास की इन्हीं विशेषताओं के कारण वे महान् कवि, महान् नाट्ककार, रचनाकार हुये और साहित्य जगत के अद्वितीय रत्न बने।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

15.1 उद्देश्य

कालिदास संस्कृत साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न है। कालिदास ने अपनी असाधारण काव्य रचनाएं अनुपम कल्पनाओं तथा अप्रतिम साहित्य ग्रन्थों का सृजन कर संस्कृत साहित्य में अभिवृद्धि की। कालिदास पाठ का मुख्य उद्देश्य भारतीय साहित्य जगत को समृद्ध करने वाले अद्वितीय कवि, नाटककार, कालिदास एवं उनकी साहित्य सम्पदा से पाठकों को परिचित कराना है। इस पाठ में कालिदास की रचनाओं और उनकी विशेषताओं को उजागर करना है। इस पाठ में कालिदास का जीवन परिचय, महत्वपूर्ण रचनाएं – अभिज्ञानशाकुन्तलाम्, रघुवंश, मेघदूत, ऋतुसंहार मालविकाग्निमित्रम आदि रचनाओं का उल्लेख किया जायेगा तत्पश्चात उनकी रचनाओं का वैशिष्ट्य सविस्तार भिन्न–भिन्न बिन्दुओं द्वारा समझाया जायेगा।

15.2 जीवन परिचय

देववाणी संस्कृत के अमर महाकवि कालिदास के जीवन–चरित्र के विषय में हमें प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं मालूम होता, क्योंकि उन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ भी नहीं लिखा है। इनके विषय में जो भी कहा गया माना जाता है वह अधिकतर आनुमानिक ही है। इनके माता–पिता का नाम तो आज तक किसी को भी न मालूम हो सका। किसी का कहना है कि ये मिथिला के निवासी थे। कोई इन्हें बंगाल व कश्मीर का बताते है। किसी का कथन है कि ये उज्जैयिनी निवासी थे। विद्वानों का मानना है कि ये राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। कालिदास के जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में अनेक किंवदंतियां प्रचलित है, किन्तु जो किवंदन्ती अधिक चल पड़ी है उसके अनुसार पहले ये बड़े ही मूर्ख थे। वे पेड़ की जिस डाल पर बैठते थे, उसी को काटने लग जाते थे। वहां के राजा की पुत्री विद्योत्तम समस्त विद्याओं और कला में निपुण थी। राज्य के पण्डितों ने इस राजकुमारी का मान–मर्दन करने के लिए कालिदास को पकड़कर राजा के दरबार में ले गये पण्डितों द्वारा राजा के समक्ष कालिदास की विद्वता की मिथ्या प्रशंसा करने पर राजा ने प्रसन्न होकर अपनी विद्वान पुत्री का विवाह मूर्ख कालिदास के साथ कर दिया। विवाह के पश्चात् जब विद्योत्तमा को कालिदास की जड़ता, मूर्खता का ज्ञान हुआ हो उसने कालिदास को बहुत अपमानित किया। इस अपमान से पिड़ित होकर वे घर से बाहर निकल गये और अपना प्राण त्यागने के लिए सरस्वती कुण्ड में कूद पड़े किन्तु उनकी मृत्यु नहीं हुई। कुण्ड से सरस्वती जी ने इनको वरदान दिया। जिसके फलस्वरूप कालिदास इतने प्रकाण्ड विद्वान हुए कि संसार के कोने–कोने में इनकी कीर्ति–कौमुदी व्याप्त है। विद्वान हो जाने के बाद जब वे घर लौटे तो अपनी पत्नि से कहा – ''अनावृतकपाटं द्वारं देहि।'। पत्नि ने उनकी आवाज पहचान कर उत्तर दिया – ''अस्ति कश्चिद् वाग्विशेष.। कहा जाता है कि कालिदास ने इसमें से तीन शब्दों को लेकर तीन काव्यग्रन्थ बनाये। अस्ति से कुमारसम्भव, कश्चिद् से मेघदूत, वाग् से रघुवंश की रचना की।

इन्होंने गीता, रामायण, महाभारत, वेद, पुराण, धर्मशास्त्र दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, व्याकरण, छंदशास्त्र और काव्य शास्त्रादि का गम्भीर अध्ययन किया ऐसा उनके ग्रन्था से विदित होता है।

15.3 काल निर्णय :

संस्कृत महाकाव्यों के रचियताओं में महाकवि कालिदास का स्थान अग्रगण्य है। उनके स्थिति का प्रश्न भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त जटिल और विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। डॉ. फर्गुसनका मत है कि कालिदास ईसा की छठी शताब्दी में हुए। अन्य कवियों की भांति इन्होंने अपने निवास व समय का विवरण अपने ग्रन्थों में नहीं दिया है। इनके स्थितिकाल के विषय में जो मत प्रस्तुत किये गये है उनमें दो मत मुख्य रूप से प्रचलित है –

(i) प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व का मत।

(ii) चतुर्थ शताब्दी ई. या गुप्तकालीन मत।

प्रथम मत को अधिकांश भारतीय विद्वान और द्वितीय मत को अधिकांश विदेशी विद्वान मानते है। कीथ महोदय के अनुसार शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने पूर्व के मालव संवत को विक्रम संवत के नाम से प्रचारित करने वाले द्वितीय गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त (375–413 ई.) थे। उनके मतानुसार भारतीय इतिहास के इसी स्वर्णयुग में महाकवि कालिदास का होना पाया जाता है। इस मतानुसार सम्भवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमार गुप्त के जन्म को लक्ष्य में रखकर की गई जान पड़ती है। कालिदास ने गुप्त धातु का बार–बार प्रयोग किया है। हरिषेण कृत प्रयाग वाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त (336–375 ई.) के विजय–वर्णन में तथा रघुवंश में वर्णित रघु के दिग्विजय में घटनाओं का बड़ा साम्य दीख पड़ता है। कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित सुखशान्ति का समृद्धिकाल गुप्तकाल का ही सूचक है। कुछ लोगों का कहना है कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मेघदूत में कालिदास ने विड्नाग का सम का और निचुल का नामोल्लेख किया है, अतः वह विड्नाग का समकालीन था। अतः इस सम्बन्ध में निश्चित रूपसे कुछ भी कहना अत्यन्त कठिन है।

15.4 कालिदास की कृतियां

कालिदास सरस वाणी के रस–सिद्ध कवि थे। कालिदास ने कई ग्रन्थों की रचना की जो आज भी संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठतम ग्रन्थों में गिने जाते है। कालिदास कृत रचनाओं का परिचय इस प्रकार है –

15.4.1 ऋतुसंहार – यह एक गीति–काव्य है। अधिकांश विद्वानों ने इसे कालिदास की प्रथम कृति माना है। यह छः संर्गो में विभक्त है। इसमें भारतवर्ष की ग्रीष्म, वर्षा शरद्, हेमन्त, शिशिर और बसन्त आदि ऋतुओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। प्रत्येक ऋतु के वर्णन में वृक्ष लताओं, पशु–पक्षियों पर होने वाले प्रभाव तथा उसके आगमन पर कामीजनों की चित्त–वृत्तियों और व्यवहार में दृष्टिगोचर होने वाले परिवर्तन तथा उनके मन में उत्पन्न विभिन्न विचारों की उत्पत्ति का मनोहारी वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है।

15.4.2 कुमार सम्भव – कालिदास का यह एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसमें 17 सर्ग है। कुमार सम्भव की कथा वस्तु का आधार शिव–पुराण और विष्णु पुराण में विर्णित कथाएं है। इस महाकाव्य में शिव–पार्वती विवाह, कुमार कार्तिकेय का जन्म, कार्तिकेय द्वारा तारकासुर के वध का वर्णन मिलता है। कुछ विद्वान इसके प्रारम्भ के 8 सर्ग ही कालिदास कृत मानते है। बाह्य प्रकृति का इसमें सुन्दर और सजीव वर्णन है। यह श्रृंगार इस का काव्य है।

15.4.3 रघुवंश – यह कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है, जिसको सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हुई है। इस महाकाव्य में 19 सर्ग है, जिनमें सूर्यवंशी राजा दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम तथा उनके वंशज राजाओं का चरित्र–चित्रण है। महाराजा दिलीप को 'नन्दिनी' नामक गौ को सेवा करने से पुत्र प्राप्ति तथा रघु द्वारा सम्पूर्ण भारत को विजय कर शक्तिशाली सम्राट बनने का वर्णन मिलता है। रघुवंश में सभी प्रधान का समावेश हुआ है। इस महाकाव्य में 10वें संर्ग से 15वें सर्ग तथा राम के जीवन ओर चरित्र का सुन्दर वर्णन किया है। इस पर विभिन्न समयों में लगभग 40 टीकाएं लिखी गयी है। रघुवंश भारतीय संस्कृति के वैभव, विलास तथा पौरुष पराक्रम को बताने वाली महत्पूर्ण रचना है। महाकवि ने रघुवंशी राजाओं के उदात्त चरित्र का चित्रण कर यह शिक्षा दी है कि प्रजा का रंजन करना राजा का परम कर्त्तव्य है।

15.4.4 मेघदूत – यह एक खण्डकाव्य है। इस ग्रन्थ में 100 से अधिक श्लोक है। इस काव्य में एक भक्ष का वर्णन है, जिसे अपने स्वामी कुबेर के शाप के कारण अपनी पत्नी को उलकापुरी में छोडकर रामगिरी पर्वत पर निर्वासित होना पड़ा था। पत्नी से यह विछोह उसके लिए असहनीय सिद्ध हुआ। वर्षा ऋतु में जब उसने एक मेघ को, उत्तर दिशा में पर्वत की ओर जाते देखा तो उसने उस मेघ को सम्बोधित करते हुए अपनी प्रिया तक अपना विरह संदेश पहुंचाने का आग्रह किया। इसके दो भाग है – (1) पूर्व मेघ जिसमें यक्ष ने मेघ से अपनी नगरी अलकापुरी जाने का विशद् मार्ग बताया तथा (2) उत्तर मेघ इसमें यक्ष के भव और स्त्री का वर्णन तथा यक्ष का अपनी स्त्री के पास सन्देश भेजना ओर मेघ का यक्षिनी के पास जाकर सन्देश कहने का वर्णन है। भावाभिव्यन्जना तथा प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन की दृष्टि से यह अत्यन्त ही सुन्दर काव्य है।

15.4.5 मालविकाग्निमित्र – यह कालिदास का प्रथम, पांच अंको का नाटक है। यह एक ऐतिहासिक नाटक हैं इसमें शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र तथा उसकी दासी मालविका की प्रेम कथा का वर्णन किया गया हैं राजा अग्निमित्र अपनी दासी मालविका के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेम करने लगता है। जब रानी इरावती को इसका पता चलता है तो वह मालविका को कारावास में बन्द करवा देती है। अन्त में जब यह पता चला कि मालविका भी राजकुमारी है तो अग्निमित्र उससे विवाह कर लेता है। नाट्यकला की दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त सुन्दर रचना है। इसके संवाद बड़े ही आकर्षक है।

15.4.6 विक्रमोर्वशीय – विक्रमोर्वशीय नाटक का मूल स्रोत ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा मत्स्य पुराण में वर्णित पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम कथा है इसमें पुरूरवा का देवलोक की अपसरा उर्वशी से प्रेम होना, निषिद्ध वन में जाने से उर्वशी का लता बन जाना, पुरूरवा का उसके वियोग में इधर–उधर भटकना, संगमनीय मणि द्वारा उर्वशी का पुनः अपने असली रूप में प्रकट होना और अन्त में दोनों का पुनर्मिलन तथा पुरूरवा से उर्वशी के पुत्र पैदा होना, आदि का बड़ा मार्मिक चित्रण इस नाटक में हुआ है।

15.4.7 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – यह सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें 7 अंक है। कालिदास नेइसे पौराणिक कथानक के आधार पर सात अंको में हस्तिनापुर के महाराजा दुष्यन्त तथा शंकुन्तलता के प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा का वर्णन किया गया है। यह नाटक कालिदास के नाट्य कौशल का सुन्दर उदाहरण है। इस नाटक के संवाद अत्यन्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रोचक एंव चमत्कारपूर्ण है। तथा उनकी भाषा पात्रों के अनुरूप है। शाकुन्तलम् में पात्रों का चरित्र–चित्रण आदशोन्मुख होते हुये भी सजीव और स्वभाविक है। नाटक में श्रृगांर और करूण दोनो रसों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। मानव की तरह प्रकृति भी शकुन्तला की विदाई के अवसर पर दुःख का अनुभव करती है। इस प्रकार कवि ने प्रकृति को सजीव तथा मानवीय भावनाओं से युक्त चित्रित किया है। पिछले 1600 वर्षों से भारतीय साहित्य की रत्नराशि में यह नाटक एक जाज्वल्यमान हीरे की भांति चमक रहा है। निःसंदेह महाकवि कालिदास की साहित्यिक विरासत अमूल्य और महान् है। यही कारण है कि उनकी गणना विश्व के महान और श्रेष्ठ कवियों में की जाती है तथा उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर से की जाती है। यदि कालिदास को भारत का शेक्सपीयर कहा जाए तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं है।

15.5 कालिदास के काव्य की विशेषताएं

कालिदास द्वारा प्रस्तुत मर्यादित व्यवसथा, सन्तुलित जीवन का आदर्श, भारतीय धर्म और संस्कृति को विशिष्ट बल प्रदान किया है। सम्पूर्ण साहित्य शास्त्र, कालिदास के साहित्य से इस तरह उद्भासित है जैसे रात्रि, तारों से भरी होने पर भी चन्द्रमा से ही ज्योतिष्मती होती है। इसका कारण उनके साहित्य की अनुपम विशेषताएं है जो निम्नलिखित हैं –

15.5.1 भाषा शैली एवं छन्द योजना– कालिदास ने अपनी रचनाएं सरल और बोलचाल की भाषा में लिखी है। अविरल गति से बहती हुई किसी सरिता के समान कालिदास की भाषा में प्रवाह है। उनके समूचे साहित्य में कहीं पर भी अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। उनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत है। उनके काव्य की भाषा माधुर्य कोमल, सुन्दर वाक्य विन्यास और भावानुकूल शब्द चयन आदि महत्त्वपूर्ण विशेषताएं है।

कालिदास छन्द रचना में भी सिद्धहस्त थे। वे अपने काव्यों और नाटकों में घटना, रस एवं भावों के अनुकूल ही छन्दों का प्रयोग करते थे। कालिदास के काव्यों में छन्दों का प्रयोग अत्यन्त चमत्कार ढंग से मिलता है।

15.5.2 अंलकार योजना– कालिदास नेअपनी रचनाओं को विभिन्न अलंकारों से अलंकृत किया। अलंकारों से कालिदास की रचनाओं में सौन्दर्य वृद्धि हुई। कालिदास की कृतियों में अलंकार के तीनों वर्गो शब्दालंकार, अर्थालकार एवं शब्दार्थालकार का प्रयोग हुआ। कालिदास ने यमक, श्लेष, उपमा, रूपक अलंकारों का सुन्दर वर्णन किया है। मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तल में विशेष रूप से रूपक एवं उपमा अलंकारों का प्रयोग किया गया है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में उपमा, उत्प्रेक्षा के बाद तृतीय स्थान पर यदि किसी को रखा है तो वह है – दृष्टान्त अलंकार इसका उदाहरण रघुवंश में देखने को मिलता है।

15.5.3 प्रकृति के साथ तादात्म्य– कालिदास ने अपनी रचनाओं में मनुष्य का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रकृति के दृश्यों का इतना सुन्दर वर्णन किया है कि वे चेतन प्राणी के समान सजीव लगते है। रघुवंश में कवि ने लिखा है –

''मृग सीता के दुख से मुंह से घास गिरा देते हैं। मोर नाचना छोड़ देते है। वृक्षों के पुष्प गिर पड़ते है। सीता के रोने पर प्रकृति के वर्णन में जब कालिदास रमते है तो तब ऐसा प्रतीत होता है मानों आंखों के सामने प्रकृति नाच रही हो। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसके मार्मिक अंश को उपस्थिति करना कालिदास की अपनी कला है। कालिदास ने प्रकृति में मानव हृदय एवं मानव हृदय में प्रकृति का सुन्दर तालमेल प्रस्तुत किया है। कालिदास ने प्रकृति को सचेतन रूप में चित्रित किया है। मेघदूत में प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है। कालिदास की कृतियों में नानव की भांति प्रकृति भी विभिन्न चेष्टाओं में रत दिखलाई पड़ती है। यही कारण है कि कालिदास ने अपने काव्यों में प्राकृतिक दृश्यों में श्रृंगारिकता का आरोप किया है। रघुवंश में पुष्पक विमान, समुद्र एवं नदी का वर्णन इसका उदाहरण है।

15.5.4 सौन्दर्य चित्रण– कालिदास, सौन्दर्य के महान् कवि है। प्रकृति एवं नारी दोनो के ही सौन्दर्य का कालिदास ने हृदयग्राही वर्णन किया है। कुमारसम्भव में हिमालय की शोभा का अनुपम और आकर्षक वर्णन किया गया है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में वशिष्ठ के तपोवन का तथा 13 वें सर्ग में त्रिवेणी के सौन्दर्य का वर्णन बहुत ही रोचक है। कुमारसम्भव में हिमालय पर्वत की शोभा का वर्णन, मेघदूत में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी बहुत सुन्दरता से किया है। सौन्दर्य चित्रण कालिदास ने प्रकृति और बारी दोनों का किया है। कालिदास प्रकृति सौन्दर्य के महान् उपासक थे। ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रकृति का मनोरम सौन्दर्य ही उनकी भाषा है।

15.5.5 नारी सौन्दर्य का चित्रण : – प्रकृति सौन्दर्य के साथ–साथ कालिदास का नारी सौन्दर्य का चित्रण भी मनमोहक है। कुमारसम्भव में महाकवि ने पार्वती के सौन्दर्य का नख–शिख तक वर्णन किया है। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

में शकुन्तला के यौवन और सौन्दर्य का वर्णन तो अत्यन्त सुन्दर हुआ है। कालिदास के अनुसार बनावट रहित सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य है क्योंकि सुन्दर आकृति वाले सभी अवस्थाओं में सुन्दर लगते है। कालिदास के अनुसार नारी का सच्चा सौन्दर्य बाहरी सुन्दरता नहीं, अपितु उसका चरित्र है। कालिदास ने नारी सौन्दर्य का केवल स्निग्ध एवं श्रृंगारिक रूप ही नहीं प्रस्तुत किया है, अपितु उसके मनोभावों की भी मार्मिक अभिव्यन्जना की है, उसके सगर्व स्वाभिमान का भी चित्र बड़े ही कौशल के साथ उपस्थित किया है।

15.5.6 कवि के दृष्टिकोण में प्रेम – कालिदास के अनुसार सच्चे प्रेम में वासना नहीं होता। कालिदास प्रेम को पिछले जन्म से जोड़ते हैं। उनके अनुसार पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ही मनुष्य का इस लोक में किसी से प्रेम होता है। रघुवंश में सीता भी यह कल्पना करती है कि राम अगले जन्म में उसके पति बने। इस प्रकार कालिदास ने प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा बताया जो जन्म–जन्मान्तर तक चलता रहता है। कालिदास स्वच्छन्द प्रेम के स्थान पर दाम्पत्य प्रेम को अधिक मानते हैं।

15.5.7 मानवीय भावनाओं का सुन्दर चित्रण – कालिदास की कृतियों में मानव हृदय की कोमल भावनाओं एवं विचारों का वर्णन अत्यन्त सुन्दर हुआ है। कालिदास ने मानव हृदय की भावनाओं को इतने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है कि उनकी रचनाओं को पढ़कर मन मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकता। जब आश्रम में दुष्यन्त और शकुन्तला एक दूसरे को देखते है तो दोनों के हृदय में प्रेम भावनाओं की उदात्त तरंगें उत्पन्न होती है। यद्यपि दुष्यन्त संकेतों के माध्यम से अपना प्रेम प्रकट करता है लेकिन शकुन्तला नारी सुलभ लज्जा के कारण नयन झुकायें मौन रह जाती है। इसी प्रकार शकुन्तला की विदाई के समय बहुत ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

15.5.8 सामाजिक जीवन की झांकी – कालिदास की रचनाओं में तत्कालीन समाज के वैभव, समृद्धि, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कालिदास की रचनाओं से उस काल में प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था का पता चलता है। इसी तरह आश्रम व्यवस्था का भी पता चलता है। बहुविवाह धनी वर्ग में प्रचलित था। इसी प्रकार गान्धर्व विवाह का उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सुन्दर वर्णित मिलता हैं राजनैतिक जीवन की भी पर्याप्त जानकारी कालिदास की कृतियों से मिलती है। राजा अपनी प्रजा की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के बीच मतभेद प्ररम्भ हो गया था। इस प्रकार कालिदास ने अपने समय की सांस्कृतिक परिस्थितियों का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में भौतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

15.6 सारांश

कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्राचीन सभ्यता का दिग्दर्शन कराया। मानव की सभी प्रकार की भावना का समावेश किया। यही कारण है कि सैकड़ो वर्ष व्यतीत होने पर भी इनके साहित्य की गरिमा आज भी वैसी ही है जैसी प्राचीन काल में थी। इनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज की अच्छी जानकारी मिलती है। कालिदास संस्कृत साहित्य के महान् कवि एवं नाटककार थे। सम्पूर्ण सौन्दर्य साहित्य कालिदास के सौन्दर्य दर्शन पर टिका है। इस प्रकार कालिदास भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल के प्रतिनिधि कवि है। कालिदास को सिद्ध सारस्वत कवि कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। वे युग–युग के कवि है। संस्कृत साहित्य में उनका स्थान शीर्षस्थ है। ए.एल. बासम ने लिखा है कि जिन व्यक्तियों ने कालिदास के मौलिक ग्रन्थों का अध्ययन किया है वे एक ही बात कहते हैं – 'कालिदास कवि तथा नाटक्कार के रूप में संसार के महान कवियों में से एक है।'

15.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न– 1 'रघुवंश में कुल कितने सर्ग है?

(अ) 20 (ब) 18 (स) 19 (द) 12

प्रश्न– 2 अभिज्ञानशाकुन्तलम पर टिप्पणी लिखिये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 साहित्य जगत को कालिदास की देन सविस्तार समझाइये। (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–16 : तुलसीदास

संरचना

16.0 प्रस्तावना

16.1 उद्देश्य

16.2 तुलसीदास का जीवन वृत्त

16.3 तुलसीदास की रचनाएं

- 16.3.1 रामचरित मानस
- 16.3.2 कवितावली
- 16.3.3 विनयपत्रिका
- 16.3.4 गीतावली
- 16.3.5 कृष्णगीतावली
- 16.3.6 दोहावली
- 16.3.7 रामललानहछू
- 16.3.8 रामाज्ञाप्रश्न
- 16.3.9 बरवै रामायण
- 16.3.10 वैराग्य संदीपन
- 16.3.11 पार्वती मंगल
- 16.3.12 जानकी मंगल

16.4 तुलसीदास के काव्य का वैशिष्ट्य

- 16.4.1 प्रकृति चित्रण
- 16.4.2 भाषा शैली
- 16.4.3 नारी चित्रण
- 16.4.4 समन्वय की भावना
- 16.4.5 अलंकार योजना
- 16.4.6 भक्ति भावना
- 16.4.7 सामाजिक दृष्टिकोण
- 16.4.8 विविध पद्धतियां

16.5 तुलसीदास के व्यक्तित्व का मूल्यांकन

- 16.5.1 लोकनायक तुलसी
- 16.5.2 समन्वयकारी सन्त
- 16.5.3 समाज सुधारक के रूप में
- 16.5.4 हिन्दू धर्म के सुधारक एवं उद्धारक के रूप में
- 16.5.5 भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि
- 16.5.6 साम्प्रदायिकता के विरोधक

16.6 सारांश

16.7 अभ्यास प्रश्नावली

16.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि महान भक्त कवि, लोकनायक गोस्वामी तुलसीदास हुये। इन्होंने काशी में गुरु नरहरिदास

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के निर्देशन में संस्कृत, वेद, पुराणों का अध्ययन किया ये रामभक्ति शाखा के महान् सन्त, कवि थे इन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रचलित सभी शैलियों में रचना की। मुक्तक एवं प्रबन्ध दोनो प्रकार के काव्य लिये। इनके अनेक श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों में 12 महत्त्वपूर्ण है जिनमें भी रामचरितमानस उनकी कीर्ति का स्तम्भ है जिसने भारतीयों के ह्रदय पर व्यापक प्रभाव डाला। ये बारह ग्रन्थ है – रामचरितमानस, कवितावली, विनयपत्रिका, बरवैरामायण, गीतावली, दोहावली, रामाज्ञाप्रश्न, रामललानहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्य संदीपनी पार्वती मंगल, जानकी मंगल। इनसमस्त रचनाओं में तुलसीदास ने अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया परिणामस्वरूप वे एक महान् सन्त, कवि, भक्त, समाज, समाज सुधारक, धर्म सुधारक लोकनायक, हिन्दू धर्म के प्रवक्ता, युगदृष्टा, महान् समन्वयकारी सन्त तथा पथ प्रदर्शक बन गये।

16.1 उद्देश्य

तुलसीदास अपने साहित्यों के कारण न केवल भारतीय साहित्य बल्कि विश्व साहित्य के लोक नायक बन गये। तुलसीदास ने न केवल साहित्य जगत को समृद्ध किया बल्कि आज तक उनका सहित्य अमर है। तुलसी के इन्ही काव्यों को तथा उनकी रचनाओं में वर्णित उनके उपदेशों को पाठकों तक पहुचाना इस पाठ का मुख्य उद्देश्य है। इस पाठ को निम्न बिन्दुओं द्वारा परिभाषित किया जायेगा –

1. सगुण भक्ति की शाखा राम भक्ति के अनन्य तुलसीदास का जीवनवृत्त एवं उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां।
2. भाषाशैली अंलकार प्रकृति चित्रण समन्वयात्मक दृष्टिकोण, भक्तिभावना आदि से परिपूर्ण उनकी रचनाओं की महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन किया जायेगा।
3. अन्त में तुलसी का मूल्यांकन विभिन्न महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं से किया जायेगा।

16.2 तुलसीदास का जीवनवृत्त

तुलसीदास की जन्मतिथि के बारे में विद्वानों में एकमत नहीं है। परन्तु अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि वे मुगल सम्राट अकबर के समकालीन थे। उनका समय 1532 ई. से 1623 ई. माना जाता है। डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार तुलसी की जन्मतिथि 1589 वि.सं. होनी चाहिए। जनश्रुति के अनुसार उनका जन्म राजापुर में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम तथा माता का नाम हुलसी था। अशुभ मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण बाल्यावस्था में ही इनके माता–पिता ने इनका त्याग कर दिया था। बाबा नरहरि दास इनके गुरु एवं संरक्षक थे। लगभग 15 वर्षो तक तुलसीदास काशी में सनातनी साधुओं के साथ रहें यही पर इन्होंने विद्या अध्ययनकिया तथा पुराणों का ज्ञान प्राप्त किया। युवा होने पर तुलसी का विवाह रत्नावली नाम स्त्री के साथ हो गया। वे अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे। एक दिन रत्नावली उनसे बिना पूछे अपने मायके चली गई। इस पर तुलसीदास भी रात के समय नदी को पार कर अपने ससुराल जा पहुंचे वहां पर रत्नावली ने उनसे कहा कि आप, जितना प्रेम मुझसे करते है उतना अगर ईश्वर से करते तो आपका उद्धार हो जाता और पत्नी के इन्हीं कथनों से उन्हें वैराग्य हो गया अब उन्होंने अपना शेष जीवन राम भक्ति तथा साहित्य सृजन में व्यतीत किया। उन्होंने लगभग 24 कुछ साहित्य ग्रन्था की रचना की। 1623 ई. में इनका देहवसान हो गया।

16.3 तुलसीदास की रचनाएं

तुलसी का सम्पूर्ण जीवन, साहित्य सृजन में बीता। उनके द्वारा लिये गये साहित्यों की संख्या 37 बताई जाती है। किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली के अनुसार उनके द्वारा 12 ग्रन्थ ही प्रमाणिक माने गये है। जो निम्नलिखित हैं –

16.3.1 रामचरित मानस – रामचरित मानस हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है। यह तुलसी की सर्वोत्कृष्ट रचना हैं जिसने उनको सदा के लिए अमर कर दिया। इस काव्य में राम कथा का विस्तृत वर्णन है। राम को आदर्श रूप में चित्रित किया गया है। समाज में समन्वय के दृष्टिकोण से भी रामचरितमानस प्रमुख ग्रन्थ है। तुलसी ने इसके माध्यम से मानवता का सन्देश देने का प्रयास किया है। सात खण्डों में विभाजित रामचरितमानस दोहा तथा चौपाईयों में लिखा संगीतमय काव्य है। इस ग्रन्थ में तुलसीदास ने विभिन्न पात्रों द्वारा चरित्र चित्रण करके विभिन्न आदर्श को प्रस्तुत किया। जैसे – पिता के रूप में दशरथ और माता के रूप में कौशल्या और सुमित्रा तथा भाई के रूप में भरत और लक्ष्मण तथा मित्र के रूप में सुग्रीव तथा सेवक के रूप में हनुमान के चरित्र का सुन्दर चित्रण हुआ समन्वय के दृष्टिकोण से शिव–पार्वती तथा राम की स्तुति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर विभिन्न सम्प्रदायों के मतभेदो को दूर करने का प्रयास किया है। इसमें अयोध्या, जनकपुरी, लंका चित्रकुट तथा पंचवटी आदि का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। इन रचनाओं में श्रृंगार, वीर, शान्तरस का अत्यन्त सुन्दर प्रयाग किया। इसमें तत्कालीन समाज का जीता–जागता चित्र उपस्थित किया है। तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को लोकरक्षक व लोकरंजन के रूप में प्रस्तुत किया है। यह हमारी संस्कृति का आदर्शमय धार्मिक ग्रन्थ है।

16.3.2 कवितावली – इस काव्य ग्रन्थ में भगवान राम के जीवन का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसकी उच्चकोटि की कविताएं जनता में बहुत लोकप्रिय है। इसमें राम के गुणों की प्रशंसा की गई तथा मार्मिक ढंग से राम का स्तुतिगान किया है। इसमें वीर, वीभत्स तथा भयानक का सुन्दर वर्णन मिलता है। इसकी भाषा बड़ी भाव–प्रवण है तथा इसका प्रत्येक पद ज्ञेय बन गया है।

16.3.3 विनय पत्रिका – यह ब्रज भाषा में लिखा हुआ मुक्तक काव्य है। इसमें रामभक्ति सम्बन्धी विनय पद हे। इसमें मुक्ति के आत्म निवेदन का तथा आराध्य देव राम से उद्धार की कामना का मार्मिक चित्रण हुआ है। यह भक्ति रस की उत्कृष्ट कृति है। इस ग्रन्थ में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति सम्बन्धी विचारों का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें शान्त रस, ओज की प्रधानता है।

16.3.4 गीतावली – यह एक गीतिकाव्य है जिसमें ब्रज भाषा के गीतों के द्वारा राम कथा का सुन्दर वर्णन है। इसमें वात्सल्य इस का सुन्दर और हृदयग्राही वर्णन है।

16.3.5 कृष्णगीतावली – इसमें कृष्ण चरित्र का वर्ण्न है इसके पदज्ञेय है जो ब्रज भाषा में लिखे गये है।

16.3.6 दोहावली : इसमें राम की प्रशंसा दोहो के रूप में की गई है। इसमें कुल 573 दोहे है। इन दोहो से तात्कालीन, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक अवस्थाओं के बारे में जानकारी मिलती है।

16.3.7 रामलला नहछू – यह एक खण्डकाव्य है। जिसमें राम–कथा वर्णित है। इसमें विवाह के अवसर पर गाने योग्य पदों का संग्रह है। इसमें श्रृंगार रस का वर्णन अमर्यादित हो गया है।

16.3.8 रामाज्ञा प्रश्न – यह राम की प्रशंसा में अवधी भाषा में लिखे हुए दोहो का संग्रह है इसतें सात सर्ग है। दोहो का क्रग ऐरा है कि प्रश्नकर्त्ता को अपना उत्तर दोहो गें ही गिल जाता है।

16.3.9 बरवैरामायण – यह बरवै छन्द में लिखी गयी रचना है। इसमें राम से सम्बन्धित जीवन घटनाओं को बहुत सुन्दर रूप से प्रस्तुत किया है।

16.3.10 वैराग्य संदीपनी – इस काव्य में वैराग्य सम्बन्धी 62 छन्दों का संग्रह है। जिसमें धर्म और ज्ञान के साधारण सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

16.3.11 पार्वती मंगल– इस खण्डकाव्य में शिव और पार्वती के विवाह का सुन्दर वर्णन मिलता है।

16.3.12 जानकी मंगल – इसमें राम और जानकी के विवाह का वर्णन है। यह खण्डकाव्य ब्रज भाषा में लिखा है।

इस प्रकार हम यह कह सकते है कि तुलसी का साहित्य हमारे लिए मार्गदर्शक हैं तुलसी ने अपने साहित्य के माध्यम से एक स्वस्थ और आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत किया है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – 1 रामचरितमानस पर टिप्पणी लिखिये?

उत्तर – ....

16.4 तुलसीदास के काव्य का वैशिष्ट्य

तुलसीदास न केवल भारत बल्कि सम्पूर्ण साहित्य जगत में अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण विख्यात है। तुलसी ने अपने काव्य में प्रकृति, नारी, समाज, सुख–दुःख सभी का चिन्तन किया है। उन्होंने अपने काव्य में अवधी, ब्रज एवं संस्कृत तीनों का प्रयोग किया है। इन्होंने भक्ति एवं ज्ञान दोनों पर अपने विचार व्यक्त किये। इनके काव्य में अनेक विशेषताएं देखने को मिलती है जो इस प्रकार है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.4.1 प्रकृति चित्रण– तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे और वे मूलतः भक्त कवि है। राम की लीला का गुणगानकरना उनका मुख्य प्रयोजन था और प्रयोजन की सिद्धि में जो भी प्रकृति चित्रण हुआ है वह आनुवंगिक एवं साधन रूप है। तुलसी ने प्रकृति के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त किया है।

तुलसी ने प्रकृति का चित्रण – उपदेशिका, आलम्बन, उद्दीपन और अलंकार – विधान के रूप में किया है। तुलसी ने प्रकृति को नीति और उपदेश देने वाली शक्ति के रूप में देखा है। तुलसी ने आलम्बन रूप में प्रकृति का बहुत कम वर्णन किया है। प्रकृति को एक स्वतन्त्र एवं पृथक सत्ता मानकर उसका रूप चित्रण करना ही प्रकृति की ओर उनका ध्यान कभी–कभी चला जाता है। आनन्द के उन्हीं लघु क्षणों में थोड़ी देर के लिये उनका मनः प्रसादन हो जाता है। तुलसीदास जी ने काव्य में प्रकृति के उद्धीपनकारी रूप को सटीक चित्रित किया है। उद्धीपनकारी रूप में मौलिकता नहीं अपितु परम्परागत शैली का ही निर्वाह है। तुलसी के काव्य का वैशिष्ट्य इस बात में है कि उन्होंने प्रकृति के अतिश्योक्तिपूर्ण एवं भड़कीले चित्रों का अंकन नहीं किया बल्कि सीधे–सादे ढंग सेपात्रों की भावनाओं को स्पष्ट करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में उनका संयोजन किया है। उन्होंने प्रकृति के माध्यम से पात्र की आन्तरिक स्थिति को प्रकाशित किया है। तुलसीदास ने भी अन्य महानकवियों के समान अलंकाररूप में प्रकृति का बारम्बार निरूपण किया है। अलंकार विधान से काव्य की अभिव्यक्ति में स्पष्ट भावों में प्रभविष्णुता एवं भाषा में सौन्दर्य का संपादन होता है जो तुलसी के काव्य की विशेषता है।

16.4.2 भाषा शैली – भाषा की दृष्टि से तुलसीदास की तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नहीं हो सकती। उनका ब्रज अवधि एवं संस्कृत तीनों भाषाओं पर असाधारण अधिकार था। रामचरित्र मानस की भाषा अवधि है और कवितावली, गीतावली एवं विनयपत्रिका की भाषा ब्रज है। भाषा के क्षेत्र में भी तुलसी ने समन्वय का प्रयत्न किया है। उन्होंने सर्व साधु, परिमार्जित और प्रसाद गुण युक्त भाषा का प्रयोग तथा विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। शब्दों के चयनमें भी तुलसीदास का कोई सानी नहीं है। अपने काव्य में ओज, माधुर्य और प्रसाद आदि गुणों का समावेश करने के लिये उन्होंने शब्दाचयन में बड़ी योग्यता प्रदर्शित की है।

16.4.3 नारी चित्रण – तुलसीदास ने अपने काव्य के बहुरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। तुलसी के काव्य में नारी का सामाजिक स्थिति और धार्मिक अधिकारों पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। सामान्यतः नारी विरोधी तुलसीदास ने धर्म के क्षेत्र से बहिष्कृत नारी को भी भक्ति की अधिकारी माना है तथा भक्ति साधना के द्वारा उसके मोक्ष को मान्यता दी है।

16.4.4 समन्वय की भावना – जिस समय तुलसीदास जी का आविर्भाव हुआ, उस युग में धर्म, समाज, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में पारस्परिक वैमनस्य व भेदभाव था। तुलसीदास जी ने इन सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करते हुए तत्कालीन जन जीवन में व्याप्त घोर अशान्ति, पापाचार. अनाचार, अधार्मिकता एवं विषमता आदि को दूर करने की सफल चेष्टा की इसी प्रयास से वे लोकनायक भी कहलाये तुलसी ने मुख्यतः शैव एवं वैष्णव मतों में समन्वय स्थापित किया इसी प्रकार रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्ग में अद्धैतवाद और विशिष्टाद्धैत में तुलसी ने भक्ति से ज्ञान की महत्ता बताकर इनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इसी तरह सगुण एवं निर्गुण, नर एवं नारायण, द्विज और शूद्र, राजा एवं प्रजा सभी में समन्वय स्थापित किया। तुलसीदास ने इसी तरह पारिवारिक क्षेत्र में समन्वय स्थापित किया। इन्होंने अपने समन्वयवादी विचारों द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त विषमताओं, विद्वेष, वैमनस्य कटुता आदि को दूर करके पारस्परिक स्नेह, सौहार्द, समता, सहानुभूति आदि का प्रचार किया और एक उच्चकोटि के कवि, महान् लोकनायक, समाज सुधारक तथा उन्नत आदर्श के संस्थापक कहलाते हैं।

16.4.5 अलंकार योजना – तुलसी ने अलंकारों का प्रयोग भी मर्यादा के साथ किया है। उद्देश्य अपने काव्य के माध्यम से अपने परमप्रिय श्रीराम और अपने आदर्शों को जनता तक पहुंचाना था। अलंकार योजना में तुलसी की विशिष्ट प्रतिमा के प्रमाण मिलते है। उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा तुलसी के विशेष प्रिय अलंकार रहे है। न्यायमूलक अलंकारों में काव्यलिंग, पर्याय, अर्थापत्ति, यथा संख्य समुच्चय, उल्लास तथा प्रतीप आदि अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप से कियागया है। इस तरह तुलसी के अलंकार यथार्थतः काव्य के शोभाकारक उपकरण है। उन्होंने अपने काव्य में अलंकार प्रयोग के औचित्य का चारुता के साथ निर्वाह किया है।

16.4.6 भक्ति भावना – तुलसी की भक्ति दास्य भाव की है अर्थात् उन्होंने श्रीराम को स्वामी और अपने को दास माना है। तुलसी ने भक्ति के दोनों प्रकार – सगुण भक्ति एवं निर्गुण भक्ति को मान्यता दी है। उनके अनुसार –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा।

तुलसी ने राम–भक्ति की प्राप्ति के लिये स्वयं राम, गुरु सन्तों, देवों और द्विजों की कृपा की आवश्यकता पर ध्यान दिया है। तुलसी ने व्यक्ति कल्याण के साथ लोक–कल्याण करने वाले भक्ति मार्ग का उपस्थापन किया। रामचरित मानस आदि ग्रन्थों के रूप में उन्होंने भक्ति इस का वह साहित्य निर्मित किया जिसने देशकाल की सीमा को पार करके करोड़ों नर नारियों की जीवनधारा को राममय बना दिया।

16.4.7 सामाजिक दृष्टिकोण – तुलसीदास का सारा प्रयास जनता–जनार्दन के मानस परिष्कार के लिये था। वह जिस समाज की कल्पना करे चले वह स्वाथ–त्याग और बलिदान सिखाने वाला था और उन्होंने जिस राज्य की भावना की थी वह लोकाराधना के लिये राज्य, सुख, राग आदि सबको निछावर कर देने वाला था। तुलसीदास ने अपने काव्यों में आदर्श राज की स्थापना की है इसी उद्देश्य से रामराज्य की कल्पना को साकार किया। तुलसी ने राज्य का स्वामित्व प्रजा को बताया। तुलसीदास तत्कालीन कुनीतिपूर्ण शासन की तुलना रावण से करते थे। तुलसी ने ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा की है, उनके माहात्म्य का बार–बार उल्लेख किया है। क्षत्रिय और वैश्य के लिये भी लोकोपरकार वाली ही दृष्टि से उन्होंने विचार किया। विनयपत्रिका में उन्होंने जिस 'हेतुवाद' की चर्चा की है वह मुखर शूद्रों से सम्बन्ध रखने वाला है। आश्रमों में भी तुलसीदास ने अपने काव्य में पारिवारिक आदर्श को प्रस्तुत किया है। उन्होंने भाई–बहन, माता–पिता, पिता–पुत्र, स्वामी सेवक को प्रस्तुत किया है। उन्होंने दास एवं दासी को परिवार का अंग बताया।

16.4.8 विविध पद्धतियां – तुलसीदास ने वीर गाथाकाल की छप्पायवाली पद्धति, सूरदास और विद्यापति आदि की गीतावली पद्धति, गंग आदि भारों की कवित्तसवैइया वाली पद्धति और प्रेममार्गी कवियों की दोहेवाली पद्धति आदि पद्धतियों का अपनी रचनाओं में सफल प्रयोग किया है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – तुलसीदास की भक्तिभावना के समझाइये ?

उत्तर – ....

16.5 तुलसीदास के व्यक्तित्व का मूल्यांकन

तुलसीदास का हिन्दी साहित्य में ही नहीं किन्तु संसार के साहित्य में भी बड़ा महत्त्व दिया जाता है। तुलसी एक महान! कवि है जिनका काव्य महान् है जिनकी कथा महान् है और जिनका नाय अहौर उद्देश्य भी महान् है। उनका काव्य सामरिक दृष्टि से तो महान! है ही उनके साहित्य में सदा स्थायी रहने के सभी गुण विद्यमान है। उनके व्यक्तित्त्व का मूल्यांकन निम्न बिन्दुओं से किया जा सकता है –

16.5.1 लोकनायक तुलसी – डॉ. ग्रियर्सन के शब्दों में "महात्माबुद्ध के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसी हुये उन्होंने धर्म का परिष्कार कर सामाजिक मर्यादा की स्थापना की।" उनके द्वारा स्थापित लेसोक धर्म हिन्दू धर्म का अधिकृत रूप माना जाता है। उनके द्वारा रचित राम–चरितमानस की हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का प्रमाण ग्रन्थ हैं रामचरितमानस की रचना कर तुलसीदास ने निराश तथा पद दलित हिन्दू समाज का मार्गदर्शन किया और हिन्दूओं की रक्षा की। तुलसी के समय भारत में मुगलों का शासन था। भारतीयों की शक्ति क्षीण हो गयी थी। साधारण जनता का नैतिक और धार्मिक दृष्टि से बहुत पतन हो चुका था। साम्प्रदायिकता की भावना जोर पकड़ती जा रही थी ऐसी स्थिति में तुलसी ने अपने साहित्य के माध्यम से जनता का सही मार्गदर्शन किया।

16.5.2 समन्वयकारी सन्त – तुलसीदास एक समन्वयकारी सन्त थे। उन्होंने अपने समन्वय में प्रचलित विभिन्न परस्पर विरोधी सम्प्रदायों तथा विचार पद्धतियों में समन्वय स्थापित किया था। तुलसीदास ने शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों, सगुण एवं निर्गुण, भक्ति एवं ज्ञान, शूद्रों एवं ब्राह्मणों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में तुलसी का काव्य "समन्वय की विराट चेष्टा है।"

16.5.3 समाज सुधारक के रूप में – तुलसी एक महान् समाज सुधारक भी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज का उद्धार करने का प्रयास किया है। तुलसी ने रामचरितमानस में विविध पात्रों के चरित्र चित्रण द्वारा समाज के सामने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आदर्श उपस्थित किया है और समाज में उन्होंने जनता के सामने मर्यादापुरुषोत्तम राम का चरित्र रखा कि किस प्रकार राम एक पुत्र के रूप में, एक भाई के रूप में, एक पति के रूप एक आदर्श राजा के रूप में अपने कर्त्तव्य का पालन करते है। इस प्रकार तुलसीदास ने काव्य के द्वारा आदर्श समाज की कल्पना की।

16.5.4 हिन्दू धर्म के सुधारक एवं उद्धारक के रूप में – तुलसीदास हिन्दू धर्म के प्रवक्ता ही नहीं अपितु हिन्दू धर्म के सुधारक व उद्धारक भी थे। उन्होंने बाह्य एवं धार्मिक था। आडम्बरों एवं पाखण्डों का खण्डन किया तथा धर्म की व्यापकता पर बल दिया। उन्होंने अहिंसा, दया, परोपकार आदि नैतिक गुणों को धर्म का आधार बताया। तुलसी ने जाति प्रथा का भी विरोध किया।

16.5.5 भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि – तुलसीदास भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता एवं प्रतिनिधि कवि है। भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों तथा आदर्शो का समग्र वर्णन रामचरितमानस में हुआ है। चारों वेदों तथा शास्त्रों का सार तुलसी ने अपने ग्रन्थ में किया जिससे जनता अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त सकतो है इसलिए रामचरित मानस को निगमागमसम्मत कहा गया है।

16.5.6 साम्प्रदायिकता के विरोधक – हिन्दू धर्म के रक्षक तथा उद्धारक होते हुये भी तुलसी साम्प्रदायिकता से कोसो दूर थे। उनकी रचनाओं में कही भी इस्लाम धर्म के प्रति निन्दा का भाव नहीं मिलता। उनकी भाषा में भी साम्प्रदायिकता की गंध नहीं मिलती। उन्होनें उद्धारतापूर्वक प्रचलित अरबी व फारसी शब्दों को अपनी रचना में स्थान दिया है जैसे गरीब, साहिब, बाग, जमात, फौज आदि।

16.6 सारांश

अन्त में कह सकते है तुलसीदास एक महान भक्त, महान् कवि, समाज सुधारक, महान् लोकनायक, हिन्दू धर्म के प्रवक्ता, युगदृष्टा, महान् समन्वयकारी सन्त और महान् पथ प्रदर्शक थे। वास्तव में तुलसी ने लोक नायक के गुणों की प्रतिपूर्ति की। उनका साहित्य युग–युग तक भारतीय जन–जीवनको प्रेरित करता रहेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में – ''भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते है तो केवल तुलसी को।''

16.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न 1 तुलसी ग्रन्थावली के अनुसार तुलसीदास के कितने ग्रन्थ प्रामाणिक है ?

(अ) 18 (ब) 14 (स) 12 (द) 20

प्रश्न– 2 तुलसी के काव्य में अलंकार योजना को समझाइये। (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 तुलसीदास सम्पूर्ण साहित्य जगत के लोकनायक है।'' सिद्ध किजिये ? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–4

इकाई–17 : सिन्धुघाटी सभ्यता की कला

संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 सिन्धुकला – भूमिका
17.3 स्थापत्य कला
17.3.1 नगर निर्माण योजना
17.3.2 भवन निर्माण
17.3.3 सड़के
17.3.4 नालियां
17.3.5 कुएं
17.4 मूर्तिकला
17.5 चित्रकला
17.6 धातुकला
17.7 संगीतकला
17.8 मुहर निर्माण कला
17.9 आभूषण कला
17.10 लेखन कला
17.11 सैन्धव कला की विशेषताएं
17.12 सारांश
17.13 अभ्यास प्रश्नावली

17.0 प्रस्तावना

भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता, सिन्धु सभ्यता एक नगरीय सभ्यता थी। इसकी खुदाई मे बड़े–बड़े नगरों के अवशेष मिले है। इन नगरों को देखकर सैन्धववासियों की सुदृढ़ता का अंदाज लगाया जा सकता है। सैन्धव केन्द्रों के उत्खनन से अन्य अनेकों सामग्री मिली है जिससे सैन्धव कला का पता चलता है। इन अवशेषों में नगर निर्माण योजना, भवन, सड़के, कुएं, मूर्तियां, मृदमाण्ड, आभूषण, खिलौने, मुहरे आदि विशेष रूप से प्राप्त हुये है। सभी कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

सैन्धव नगरों में मुख्यतः मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, धौलावीरा. लोथल, कालीबंगा, रंगपुर, बनावली, सुरकोटड़ा, मीताथल आदि महत्वपूर्ण नगर थे जहां पर विशाल स्नानागार, अन्नागार, कुएं भवन, आभूषण आदि की प्राप्ति हुई है। विशाल भवनों से सैन्धववासियों की समग्रवादिता तथा उपयोगिता का पता चलता है इसी प्रकार धातु एवं मिट्टी मूर्तियों से उत्कृष्ट मूर्तिकला का मुहर निर्माण में भी सैन्धववासी काफी आगे थे इन पर रेखाचित्र उभरी हुई आकृत्यंकनों जिनमें पशु पक्षी, मानव, प्रतीक आदि सभी सजीव प्रतीत होते है महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार सैन्धववासियों के विभिन्न अवशेषों से उनके ललित कला के प्रति रूचि का अनुमान लगाया जा सकता है।

17.1 उद्देश्य

आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व तक वैदिक सभ्यता को भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता माना जाता था लेकिन सैन्धवकालीन अवशेषों से पता चलता है कि वैदिक सभ्यता से भी प्राचीन एक अन्य सभ्यता थी जिसे इतिहासकारों ने सिन्धु सभ्यता का नाम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दिया। सिन्धु सभ्यता की लिपि तो आज तक पढ़ी नहीं गई लेकिन प्राप्त अवशेषों से ही इसके इतिहासकारों ने जानने का प्रयास किया है ये अवशेष सैन्धव कला के रूप मे स्थापित है अतः इस पाठ का मुख्य उद्देश्य पाठकों को सैन्धव कला से अवगत कराना है। निम्न बिन्दुओं से सैन्धव कला को स्पष्ट किया जायेगा।

- ★ सैन्धव कला का स्वरूप विशेषत : स्थापत्य कला के अन्तर्गत नगर नियोजन, मकान, सड़क, भवन, कुएं आदि के द्वारा सैन्धव कला को स्पष्ट करना।
- ★ स्थापत्य कला के अतिरिक्त प्राप्त मूर्तियों (धातु एवं मिट्टी दोनों) से मूर्तिकला को बताना।
- ★ धातुकला, आभूषण, मृण्मूर्तियों के द्वारा सैन्धव कला पर प्रकाश डाला जायेगा।
- ★ साथ ही साथ सैन्धव कालीन महत्वपूर्ण नगरों के भी उदाहरण कलात्मक वैशिष्ट्य के आधार पर दिये जायेंगे।

17.2 सिन्धु कला –भूमिका

प्राचीन भारतीय कला के इतिहास और विकास का महत्व उसी समय आंका जा सकता है जब हम सिन्धु सभ्यता की कला के विषय में विचार करना प्रारम्भ करे। सिन्धु सभ्यता के उद्घाटन के फलस्वरूप भारतीय कला का चमत्कारिक इकाई प्रारम्भ होता है क्योंकि यह सभ्यता और संस्कृति विशुद्धतः भारतीय है, अत : इस कला का उद्देश्य रूप और प्रयोजन मौलिक एवं स्वदेशी है।

सैन्धव सभ्यता के अवशेषों की प्राप्ति और वहां के हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, कालीबंगा, लोथल, धौलावीरा, सूरकोटड़ा, रंगपुर जैसे स्थलों के उत्खनन से यह सिद्ध हो गया है कि यह सभ्यता प्रकृत्या नागरिक सभ्यता थी। इसके नगर प्रायः नदियों के किनारे, दो भागों (अधिकांशतः) में विभाजित होते थे। इन नगरों के अवशेषों से नगर वास्तु के मूलभूत तत्व जैसे– दुर्ग प्रकार, परिखा, पक्की ईटों से निर्मित सार्वजनिक व्यक्तिगत भवनों के साक्ष्य भी उपलब्ध हुये है। इसके अलावा मन के आभूषण बर्तन, मृदमाण्ड, पात्र, बाट, धातु प्रतिमा, खिलौने, मुहरे आदि भी सैन्धव कला का परिचय कराते है। विभिन्न सैन्धव नगरों की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से सैन्धवकालीन कला और ललित कला पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सैन्धवकालीन इन्ही नगरों में भारतीय कला का प्रारम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है। यही से स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला का प्रारम्भ माना जाता है। सिन्धुकला को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है।

17.3 स्थापत्यकला

सैन्धव नगरों के पुरातात्विक अवशेषों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग में वास्तु विद्या का अपरिमित विकास हो चुका था। नगर संयोजना, आवास–विन्यास, प्रकार की संरचना, पक्की ईटें, पत्थर, मिट्टी के प्रयोग, ईटों के विभिन्न आकार, दीवार बनाने की तकनीक, कदलीकरण (तोड़ेदार) मेहराब का प्रयोग, जल निरोधक माध्यम के प्रयोग और फर्श की बनावट सभी में उनकी स्थापत्य कला में निपुणता प्रकट होती है। सैन्धव नगरों में वास्तुकला के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई।

17.3.1 नगर निर्माण योजना – सैन्धव नगर वैभवशाली न होकर सामान्य लेकिन पूर्णतः नियोजित होते थे। इस सभ्यता में नगरों का विशिष्ट महत्व था। अधिकाशतः नगर दो भाग पूर्व एवं पश्चिमी भाग में विभाजित थे। पूर्वी भाग में धनाढ़्य एवं पश्चिमी भाग में साधारण जनता का निवास होता था। नगर निर्माण योजना उच्च कोटि की थी। नगरों का निर्माण एक निश्चित योजना के माध्यम से किया हुआ था। इन नगरों की आधार योजना, नगर निर्माण शैली तथा आवास व्यवस्था में आश्चर्यजनक समानता एव एकरूपता देखने को मिलती है। इससे स्पष्ट होता है कि वास्तुकार भवन निर्माण कला के अच्छे जानकार थे। नगर निर्माण योजना की प्रमुख विशेषताएं थी जिनमें सड़के, मकान, कुएं, ईटें आदि प्रमुख थे। सैन्धव नगरों में प्रमुख थे– कालीबंगा, धौलावीरा, हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, राखीगढ़ी, बनावली, लोथल आदि। ये सभी विशेष नगर निर्माण योजना से बने प्रतीत होते है।

17.3.2 भवन निर्माण – सिन्धुवासी भवन निर्माण कला में भी निपुण थे। सभी भवन एक निश्चित योजना के अनुसार बने है। सैन्धव नगरों में कोई भी मकान दूसरे मकान से आगे की ओर निकले हुये नहीं है। न ही किसी भी मकान का मुख्य द्वार राजमार्ग पर खुलता है। प्रायः बड़े आकार के भवन नगर के मध्य में एवं छोटे भवन परिधि पर बनाये गये है। आवासों में 2 या 3 कक्ष, स्नानागार और आँगन होते थे। आवासों का मुख्य द्वार मुख्य मार्ग की सहायक सड़क पर खुलता था। कुछ घरों में सीढ़ियों के अवशेष इस बात को सिद्ध करते है कि कुछ मकान दो मंजिले भी रहे होंगे। ऐसे मकानों की दीवारे नीचे से मोटी होती थी। साधारण मकानों के फर्श मिट्टी को कूटकर बनायें गये है लेकिन कुछ स्थान ऐसे भी है जहां खड़ी ईटे बिछाकर या बड़े आकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की ईंटे लगाकर फर्श बनाये गये है। कालीबंगा से फर्श बनाने के लिये एक मात्र अंलकृत ईंट लगाये जाने को प्रमाण मिले है। मकानों की छते लकड़े के बल्लियों पर बांस को बिछाकर मिट्टी और चूना के मिश्रण का कूटकूट कर बनाई जाती थी। प्रायः सैन्धव भवनों में स्तम्भों का प्रयोग नहीं किया गया है। केवल हडप्पा में 20 खण्डित स्तम्भों से निर्मित एकमात्र चबूतरे का साक्ष्य मिला है। भवनों में खिड़की का साक्ष्य केवल मोहनजोदड़ों से मिला है अन्यत्र कहीं नही। घरों में गन्दे पानी के निकास के लिये नालियों की व्यवस्था की गई थी। घरों की नालियों का पानी सड़क की बड़ी नालियों मे चला जाता था सड़कों के किनारे (चौराहों) पर बने शोषक गढ़ों (सोक पिट) से अनुमान लगाया जाता है कि सैन्धव लोग स्वच्छता को लगभग धार्मिक महत्व देते थे। घरों में स्नान कक्षों का प्रावधान भी सैन्धव लोगों की शुचिता के प्रति सजगता का प्रतीक ही है। इनमें भी कुछ विशेष भवनों के अवशेष मिले है जो इस प्रकार है–

बोध-प्रश्न

प्रश्न–1. सैन्धववासियों की नगर निर्माण योजना उन्नत एंव सनृद्ध थी। सिद्ध करिये। (30 शब्द सीमा)

उत्तर. –

★ **अन्नागार** : मोहनजोदड़ो में एक विशाल भवन के अवशेष मिले है जिसे व्हीलर ने विशाल भण्डागार भवन कहा है। यह विशाल वास्तु (भवन) पक्की ईटों के एक विशाल पीठ (मूलतः 150X20) 5 फुट के मार्ग द्वारा एक दूसरे से अलग है। इस भवन से अनाज रखने के बड़े पात्र भी प्राप्त हुये है। लोथल से भी अन्नागार के अवशेष मिले है।

★ **स्नानागार** : मोहनजोदड़ों से 180X180 फुट क्षेत्र में विस्तृत जलकुण्ड के अवशेष मिले है जो वस्तुतः 39 फुट लम्बा 23 फुट चौड़ा और 8 फुट गहरा है। इस जलकुण्ड में जाने के लिये उत्तर दक्षिण की ओर सीढ़ियाँ बनी हुई है। यें पक्की ईंटों की बनी है। इस विशाल स्नानागार में जल निकासी की भी व्यवस्था थी। इस स्नानकुण्ड का फर्श पक्की ईंटों का बना है। इसकी दीवारों में जिप्सम का लेप किया गया है। बाहर की दीवारों में चूने का प्लास्तर किया गया है। बिटुमिन के लेप से इसे जलरोधी बना दिया गया है। इस स्नानागार के तीन और बरामदे है। पीछे कई कक्ष बने है। सम्भवतः यह सार्वजनिक उपयोग के लिये था। छोटे कक्ष वस्त्र परिवर्तन के लिये प्रयोग मे लाये जाते होंगे। स्नानकुण्ड में जल पास के कुएं से डाला जाता था।

★ **सभाभवन** : मोहनजोदड़ों में स्नानागार के समीप 80 फीट लम्बा और 80 फीट चौड़ा एक भवन मिला है। इसकी छत ईंटों से निर्मित बीस सम चतुस्त्र स्तम्भों पर टिकी हुई थी। मैके महोदय ने इसे सामुहिक बाजार बताया है, दीक्षित के अनुसार यहां धार्मिक वाद विवाद होता था, लेकिन अधिकांश इतिहासकार इसे सभाभवन स्वीकारते है।

★ **राजप्रासाद** : एक अन्य भवन के ध्वंसावशेष मिले है जो 230 फुट लम्बा एव 115 फुट चौड़ा था। इस सुदृढ़ वास्तु की दीवारें 5फुट तक चौड़ी मिली हैं। इस भवन में दो आंगन, भण्डागार और अनेक कक्ष मिले हैं। मैंके का विचार है कि यह प्रासाद किसी प्रशासक का रहा होगा।

★ **लोथल की गोदी** : लोथल से पक्की ईटों से निर्मित 14 मीटर लम्बा और 36 मीटर चौड़ा एक ढाँचा मिला है। राव ने इसकी पहचान बंदरगाह के गोदी स्थान से की है जहां पर कृत्रिम रूप से जल एकत्र करके भारी नौकाओं से माल उतारा और चढ़ाया जाता था। इस गोदी की गहराई लगभग साढ़े तीन मीटर है। इसकी उत्तरी दीवार में 12 मीटर चौड़ा प्रवेश द्वार था जिसमें नौकाओं का आवागमन होता था। यह भोगवा नदी से जुड़ा हुआ था। दक्षिण दीवार में एक मीटर चौड़ी नाली जल निकास के लिये बनी थी। लारेंस लैश्निक ने इसे गोदी न मानकर कुण्ड माना है।

17.3.3 सड़कें – सिन्धु घाटी के प्रत्येक नगर में सड़कों का जाल सा बिछा हुआ था। सड़के भी एक निश्चित योजना के साथ बनाई गई प्रतीत होती है। महापथों और पथों के निर्धारित संयोजन के कारण नगर अनेक मुहल्लों में विभक्त होता था। हड़प्पा का मुख्य राजमार्ग 33 फीट चौड़ा और उपमार्ग 12 से 8 फुट चौड़े तथा गलियां 4फुट चौड़ी है। ये सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काटती थी। डॉ. मैके का कथन है कि, ''सड़कों का विन्यास कुछ इस प्रकार से था कि हवा स्वयं ही सड़कों को साफ करती रहे।''

17.3.4 नालियां– सिन्धु घाटी सभ्यता के मकानों से पानी निकालने के लिये नालियां बनी हुई है, जो ऊपर से ईटों द्वारा ढकी जाती थी तथा गली की नालियां सहायक सड़कों की नालियों से मिल जाती थी। नालियों के बीच–बीच मे पक्कें जालीदार गर्त बने हुये है जिनमें कुड़ा एकत्र होकर नालियों में सतत जल प्रवाह बना रहता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

17.3..5 कुएं— नगरों में कुएं बने हुये थे। कुएं प्रायः अण्डाकार होते थे और इनके मेड़ के चारों ओर एक दीवार बनी रहती थी। कुछ कुओं के अन्दर सीढ़ियां बनी होती थी। मकानों में भी कुएं बने होते थे। अधिकांश बड़े मकानों में कुएं होते थे। ऐसा सैन्धव अवशेषों में देखने को मिला है।

17.4 मूर्तिकला

मूर्ति निर्माण की दृष्टि से भी सिन्धु संस्कृति की कुछ देन रही है। खुदाइयों में प्राप्त मूर्तियां मिट्टी, पत्थर और धातु आदि विभिन्न रूपों में उपलब्ध हुई है। ये मूर्तियां मुख्यतः देवी–देवताओं, नृतकियों, देवदासियों, उपासिकाओं, पक्षियों और कुछ साध ाारण स्त्री –पुरूषों से सम्बन्धित है। सैन्धवकालीन मूर्तिकला अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इनमें जीवन और ललित भावनाओं का स्वभाविक अंकन मिलता है। यहां की मूर्तिकला पत्थर, धातु और मिट्टी पर उभर कर सामने आयी है।

पत्थर की बनी मूर्तियों में मोहनजोदड़ों से मिली मूर्ति विशेष है परन्तु इसका ऊर्ध्व भाग ही मिला है, अधोभाग अप्राप्य है। मूर्ति के शीश पर हल्के बाल व मुख पर दाढ़ी है, और वह उत्तरीय ओढ़े हुये है। ओढ़े हुये उतरीय पर तिफुलिया हार का अलंकरण बड़ा ही आकर्षक है। मूर्ति के लम्बे नेत्र अधखुले है, जिससे मूर्ति पर एक सौम्यता दृष्टिगोचर होती है। यह भाव भंगिमा से किसी योगी की मूर्ति लगती है। हडप्पा से दो लाल पत्थर की मूर्तियां मिली है। इनमें एक मूर्ति के अंग प्रत्यंगों से यह स्त्री मूर्ति प्रतीत होती है। मूर्ति का मांसल शरीर स्फूर्तिपूर्ण है। नाचने की मुद्रा में वह अपने बायें पैर को उठाये हुये है शरीर का प्रत्येक अंग अलग–अलग बनाकर बैठाये हुये प्रतीत होते है।

यहां से न केवल पत्थर बल्कि धातु की भी मूर्तियां मिली है इनमें मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक नर्तकी की ताम्र मूर्ति उल्लेखनीय है। मूर्ति के पैरों का निचला भाग टूट गया है। मूर्ति का बांया हाथ बॅगड़ी (चूड़ियों) से भरा है और दाया हाथ लताहस्त मुद्रा में है। सिर के बाल घुंघराले है व पीछे जूड़ा बंधा है। पैर लम्बे है और आंखें खुली है। इस मूर्ति के खड़े होने का ढंग व भावभंगिमा से प्रतीत होता है कि वह किसी नर्तकी की मूर्ति है। धातु की अन्य मूर्तियों में ताम्र की दो मानव मूर्तियां, पशु मूर्तियों मे कूबड़दार बैल, कुता, कलश के भीतर रखी बकरी तथा बतख आदि उल्लेखनीय है।

सैन्धवकाल की मिट्टी की मूर्तियां धातु एवं पत्थर की अपेक्षा अधिक उभर कर आयी। ये बढ़िया गुढ़ी हुई और ठोस पकाई मिट्टी की बनी है मानव व पशु मूर्तियां अधिक मात्रा में मिली है। मिट्टी की मूर्तियों में स्त्रियों की मूर्तियां अधिक प्रभावशाली है तो विभिन्न आभूषणों से सज्जित है। इनमें गले मे बड़े–बड़े हार, बहों पर भुजबन्द तथा गलें में कण्ठा मिलते है। स्त्री के मूर्तियों में कुछ अंग अलग से जोड़े हुये प्रतीत होते है।

मिट्टी की पुरूष मूर्तियां साधारण है। इनमें लम्बी नाक, ढलुआ माथा, लम्बी आंखें, चिपकी ठोडी तथा भौड़े शरीर से प्रतीत होता है कि कलाकारों ने इन्हें बनाने में विशेष रूचि नहीं ली थी।

मिट्टी की बनी पशु मूर्तियां भी बहुसंख्यक है। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों से सर्वाधिक मात्रा मे पशु मूर्तियां मिली है जिनमें वृषभ, हाथी, गेंडा, सूअर, बन्दर, बकरा, भेड़ तथा कछुआ प्रमुख है।

मोहनजोदड़ों से ताम्बे तथा कांसे की बनी हुई कुछ पशुओं की मूर्तियां भी मिली है। यहां से तांबे से निर्मित एक कूबड़दार बैल की मूर्ति मिली है इसी प्रकार लोथल में ताम्बे का बैल, खरगोश तथा कुत्तें की आकृतियां मिली है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिन्धु निवासी मिट्टी, पत्थर तथा धातु की मूर्तियां बनाने मे बड़े निपुण थे। सैन्धव कालीन मूर्तिकला उन्नति पर थी।

17.5 चित्रकला

सिन्धुवासियों को चित्रकला का भी ज्ञान था हड़प्पा और मोहनजोदड़ों से प्राप्त चित्रित बर्तनों, शस्त्रागारों तथा अन्य स्थानों से उपलब्ध पात्रों, पत्थरों, कांस्य मूर्तियों, मुद्राओं आदि पर की गई चित्रकारी तत्कालीन जन जीवन की चित्रकला के प्रति रूचि को दर्शाती है। चित्रकार रेखाओं और बिन्दुओं के माध्यम से बर्तनों पर चित्रकारी करते थें तथा उन पर पशु–पक्षियों, पेड़–पौधों आदि के चित्र बनाते थे। कुछ बर्तनों पर मानव आकृतियां भी अंकित है। कुछ बर्तनों पर बने चित्र बड़े आकर्षक और वास्तविक लगते है जिससे उस युग में प्रचलित चित्रकला का भान होता है। सैन्धव मृत पात्रों पर प्राप्त चित्र अलंकरण अनेको प्रकार के मिले है। इन अलंकरणों में पशुओं का अलंकरण, वृत, आयत तथा रेखा डिजाइनों का अलंकरण उल्लेखनीय है।

नाल, मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, चन्हून्दड़ों, रोपड़, लोथल आदि से विभिन्न सैन्धव स्थलों से चित्रित मृदभाण्ड प्राप्त हुये है। ये बर्तन दैनिक उपयोग एवं शव गाढ़ने दोनों रूपों में मिले है। सिन्धुवासियों के कलानुराग, विशेषतः चित्रकारी से उनके प्रेम का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वह अनेक स्फूट चित्रों का अंकन यहां से प्राप्त विभिन्न बर्तनों पर प्राप्त हुये है, अपने दिन प्रतिदिन काम आने वाले पात्रों को ही नहीं वरन् शव गाढ़ने वाले पात्रों को भी चित्रमय देखना पंसद करते थे। शव पात्रों मे मयूर का चिन्ह साधारणतः बनाया गया है। एक स्थान पर महाकाय बकरे का चित्र है जिसके सिर पर चित्रित बड़े सींग त्रिशुलकृति, अंलकारों से सुशोभित है। शवपात्रों पर प्रयुक्त चित्रों में लहरिया रेखाएं, मछली, पतियां, पेड़–पौधे, उड़ती चिड़िया, तारे, रश्मिमाला युक्त मण्डल आदि मुख्य है। ज्यामितिक आकृतियों में– रेखा, वृत, कोण, वर्ग, फूल, पत्तियां तथा पशु पक्षियों की आकृतियों मे –बारहसिंघा, हिरन, हंस, मयूर, मूर्गा, कबूतर आदि का चित्रण अधिक किया गया हैं

लोथल से चित्रित मृतपात्र, कोटदिजी से चित्रित मृत्पात्र प्राप्त हुये है। सैन्धववासी लाल, काला, सफेद रंग प्रयोग में लाते थे। इस प्रकार सैन्धववासी चित्रकला में पारंगत थे।

17.6 धातुकला

सिन्धुवासी विभिन्न धातुओं से कलात्मक वस्तुएं बनाने में पारंगत थे। उनको सीसा, ताम्बा, पीतल, कांसा, चांदी एवं सोना आदि धातुओं की पहचान थी। उनका कौशल इन धातुओं से निर्मित कला वस्तुओं में भी देखने को मिलता है। इससे पता चलता है कि सिन्धुवासियों के पास गलाने, पीटने और सांचे मे ढालने के उन्नत साधन विधमान थे। मोहनजोदड़ों मे ताम्बे का गला हुआ एक ढेर मिला है। हड़प्पा से तो ताम्बे की एक गाड़ी भी प्राप्त हुयी है। खुदाई में न केवल मूर्तियां, खिलौने ही मिले है वरन् हथियार भी मिले है। जिनमें तलवार, कटार, बरछा, भाला, छुरी आदि प्रमुख है।

सैन्धवकालीन धातुकला का सबसे बेजोड़ उदाहरण मोहनजोदड़ों से प्राप्त ताम्र निर्मित नर्तकी की प्रतिमा है आज भी कलाविदों के लिये महत्वपूर्ण है।

17.7 संगीत कला

सैन्धववासी संगीत एवं नृत्य कला से भी परिचित थे। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा में किसी समारोह का दृश्य दिखाया गया है, जिसके मध्य मे एक व्यक्ति ढोल वादक और उसके पास में एक स्त्री बगल में ढ़ोल दबाये खड़ी है। दूसरे समूह दृश्य में एक पुरूष को ढ़ोल बजाते हुये और एक स्त्री को नृत्य करते हुये दिखाया गया है। सैन्धव अवशेषों में वीणा के भी चित्रांकन मिलते हें जो सैन्धववासियों की संगीत प्रियता का द्योतक है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त नर्तकी की प्रतिमा भी सिन्धुवासियों के नृत्य और संगीत कला में गहन रूचि को दर्शाता है।

17.8 मुहर निर्माण

सिन्धु घाटी की कलात्मक सामग्री में मुहरों का भी विशेष महत्व है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ों ओर लोथल से पत्थर की वर्गाकार, आयताकार, गोल, बेलनाकार आदि सैकड़ों मुहरे प्राप्त हुयी है। एक ही परम्परा में निर्मित सैकड़ों की संख्या में इन मुद्राओं की उपलब्धि यह सिद्ध करती है कि मुद्रा कला इस क्षेत्र की सुस्थिर कला थी। कुछ मुद्राएं ताम्बे में भी बनायी गयी है। इनमें एक और पशु मूर्ति तथा दूसरी ओर अभिलेख उत्कीर्ण है। मुद्राओं के सम्बन्ध में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि अधिकांश मुद्राएं हड़प्पा, मोहनजोदड़ों एवं लोथल से प्राप्त हुई है। इनके अलावा एक रोपड़ से, एक सुरकोटड़ा तथा आठ कालीबंगा से भी मुहरे प्राप्त हुई है। सर्वाधिक संख्या में इनकी प्राप्ति बड़े नगरों से होना सम्भवतः व्यापारिक प्रयोग की संकेतक है। इन मुहरों से हमें सिन्धु निवासियों के धार्मिक जीवन के बारे में जानकारी मिलती है। मुहरों पर स्वस्तिक के अतिरिक्त विभिन्न पशुओं की छवि भी अंकित है। इन पशुओं में वृषभ, गैंडा, व्याघ्र, खरगोश, हिरण, गरूड़ व मगर आदि है जिनका अंकन इन मुहरों में मिलता है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त मिट्टी की एक मुहर पर पशुओं से घिरे योगीश्वर शिव का अंकन है। अनेक मुद्राएं ऐसी भी है जिनका उपभोग ताबीजों के रूप में होता रहा होगा।

17.9 आभूषण कला

सिन्धुघाटी के लोगों को वस्त्राभूषण का अनन्य शौक था, जिससे इस कला का विकास होना स्वभाविक ही था। यहां के लोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करते थे। सम्भवतः स्त्री पुरूष दोनों आभूषण पहनते थे। इन आभूषणों में भुजवन्द, कर्णफूल, हार और मेखलायें आदि उल्लेखनीय है। यहां के आनूषणों की सबसे बड़ी विशेषता सोने, चांदी व दूसरे नगों से बने हुये मनके या गुरिया है जिन्हे गूंथकर भांति–भांति के हार ओर कण्ठ सूत्र बनाये जाते थे। सैन्धववासी सोने, चांदी पत्थर, मिट्टी, हाथीदांत अन्य पदार्थो की भी गुरिया बनाते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.10 लेखन कला

सैन्धववासी लेखन कला से परिचित थे तथा उनकी लिपि संकेतात्मक एवं चित्र प्रधान थी। सिन्धुघाटी से प्राप्त लगभग सभी मुद्राओं पर चित्रात्मक लिपि का प्रयोग किया गया है।

17.11 सैन्धवकला की विशेषताएं

सम्पूर्ण सैन्धवकलावशेषों पर दृष्टि डालने पर सिन्धुकला की महत्वपूर्ण विशेषताएं सामने आती है जो इस प्रकार है–

1 सिन्धुकला सहज एवं सरल होते हुये भी उपयोगितात्मक है। सैन्धवकला में सौन्दर्य के स्थान पर उपयोगिता एव सुदृढ़ता देखने को मिलती है।

2 सैन्धव कला सिन्धुकला के रूप, गुण सभी मौलिक है उनमें किसी भी विदेशी कला का पुट देखने को नहीं मिलता बल्कि स्वदेशीपन है।

3 सैन्धव कला यथार्थवादी गुणों से प्रेरित प्रतीत होती है।

4 सैन्धव कला में सजीव, स्वाभाविक तथा सामान्य भावाभिव्यक्ति है।

5 इसमें तकनीकी गुण विद्यमान है।

6 इस कला को अन्य सभ्यताओं ने ग्रहण किया है।

7 सैन्धव कला किसी भी अवयव को देखने से पता चलता है कि सैन्धववासी पूर्व योजनानुसार किसी भी कला को रूप देते थे।

8 नगर योजना, सड़क निर्माण एवं नालियां, भवन आदि सभी के निर्माण में एकरूपता दिखाई देती है।

17.12 सारांश

इस प्रकार सिन्धु सभ्यता से प्राप्त यह कला सामग्री पुरातन के अनेक तथ्यों पर प्रकाश डालती है। इसका आज भी अनेक दृष्टियों से महत्व है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि सिन्धु सभ्यता सर्वथा स्वदेशी है। भारत भूमि के साथ दृढ़ता से बद्धमूल होकर उस काल की कला ने आगामी युगों की कला का मार्ग दर्शन किया है। हड़प्पा से प्राप्त लाल पत्थर की मूर्ति, मोहनजोदड़ों से प्राप्त नर्तकी की मूर्ति, स्नानागार, मुहरें, आदि इस कला की सबसे प्रतिनिधित्वपूर्ण कलाकृतियां है। सैन्धवकला में अनुभव तथा कौशल की पर्याप्त परिपक्वता का परिचय मिलता है।

17.13 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न :–1 ताम्बे की बनी नर्तकी की धातु मूर्ति किस सैन्धव स्थल से प्राप्त हुइ है।

(अ) हड़प्पा (ब)लोथल (स) मोहनजोदड़ों (द) मुण्डीगाक।

प्रश्न :–2 सैन्धवकालीन मूर्तिकला पर टिप्पणी लिखिये?(30 शब्द सीमा)

प्रश्नः– 3 सिन्धु घाटी सभ्यता की कला पर सविस्तार वर्णन करिये? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–18 : मौर्यकाल की कला

संरचना

18.0 प्रस्तावना
18.1 उद्देश्य
18.2 भूमिका
18.3 मौर्यकला का स्वरूप
    18.3.1 लोककला
    18.3.2 राजकीय कला
18.4 मौर्यकालीन वास्तुकला
    18.4.1 नगर निर्माण
    18.4.2 राजप्रासाद
    18.4.3 स्तूप
    18.4.4 स्तम्भ
    18.4.5 गुहाएं
18.5 मूर्तिकला
18.6 चित्रकला
18.7 मौर्यकालीन कला की विशेषता
18.8 सारांश
18.9 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.0 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में मौर्य–काल का आरम्भ प्रायः 323ई. पू. में हुआ और इसका अन्त 184ई. पू. में। इस लम्बे अन्तराल में अनेक शासकों ने शासन किया परिणामस्वरूप मौर्यकाल में शान्ति व्यवस्था बनी रही ऐसे में कला का भी विकास हुआ। इस युग में कला के भी दो रूप– लोककला एवं राजकीय कला मिलते है। कला की ये दो धाराएं आगे चलकर एक हो गई इनके संगम से भारतीय कला ने एक नये रूप को धारण किया जो परवर्ती कालों में विकसित हो, गुप्तकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गयी।

मौर्ययुग में चन्द्रगुप्त, अशोक, दशरथ जैसे महान शासकों ने कला को पूरा प्रश्रय दिया परिणामस्वरूप मौर्यकाल में कला फलीफूली। मौर्यकला ने भारतीय कला को नया आधार प्रदान किया। मौर्यकालीन राजप्रासाद, स्तम्भ, स्तूप, गुहा, मूर्ति सभी कला के अद्वितीय उदाहरण है। सम्राट अशोक ने अपने शासनकाल में कला को पूरा प्रश्रय दिया और पूर्व मे प्रचलित काष्ठ कला को चिरस्थायी बनाने के लिये बड़े–बड़े पाषाणों का प्रयोग प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप आज भी ये कला स्वरूप सुरक्षित ही नहीं है बल्कि प्राचीन इतिहास को भी बंया करते है। अशोक के शिलालेख, स्तम्भ लेख, स्तूप, गुहाएं सभी कला के अद्वितीय उदाहरण है। इनमें लिखित लेखो से तत्कालीन समाज की राजनीति, धार्मिक, सामाजिक स्थितियों का पता तो चला ही है साथ ही इन पर की गई ओपदार चमक ने आज तक उन्हें सुरक्षित भी बना रखा है। इस प्रकार मौर्य कला एक अलग विशेषता लिये है?

18.1 उद्देश्य

भारतीय कला में मौर्य युगीन कला का महत्वपूर्ण स्थान है। इस युग ने कला की अनेक नवीन परम्पराओं को जन्म दिया। एक केन्द्रीय शासन व्यवस्था, लिपि का आविष्कार और मुद्रा के प्रयोग के साथ–साथ स्थापत्य एवं कला के क्षेत्र में भी इस युग ने पत्थर का प्रयोग प्रारम्भ कर नवीन कला को जन्म दिया। इस पाठ का मुख्य उद्देश्य पातकों को उस युग की कला के देन को समझाना है तथा कला का वर्तमान स्वरूप बहुत कुछ मोर्य युग की देन रहा है। इस पाठ में मुख्य बिन्दुओं पर विवेचन किया जायेगा–

- ✶ मौर्यकाल में राजाओं के साथ–साथ आम जनता ने भी किस प्रकार कला को प्रश्रय दिया उनके द्वारा निर्मित विशाल मूर्तियां आज भारतीय कला को समृद्ध किये हुये है।
- ✶ मौर्यकाल में कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई परिणामस्वरूप कला के अनेक रूप – स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि सामने आये इसका विवेचन किया जायेगा।
- ✶ सम्राट अशोक की महानता केवल उसके युद्ध विराम से नहीं बल्कि उसके द्वारा कला को प्रश्रय देने से भी है आज भारत के अनेक प्रान्तों में अशोक के स्तम्भ प्राप्त हुये है जिनपर अशोक की धर्माज्ञा, आदेश खुदे है यही नहीं उनके कला पक्ष ने भारतीय कला को मजबूत किया इसको वर्णित किया जायेगा।
- ✶ स्थापत्य कला के अनेक रूपों को जैसे राजप्रासाद भवन, स्तूप, गुहा, चैत्य, स्तम्भ आदि को सविस्तार इस पाठ में समझाया जायेगा।

18.2 भूमिका

भारतीय जन जीवन में एकता स्थापित करने और परम्परा को अटूट रूप में सुरक्षित बनाये रखने के लिये प्रमुखतया जो मानवीय परिवर्तन हुये, उनमें कला का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कला की दृष्टि से मौर्य युग का महत्वपूर्ण स्थान है। सुन्दरता, सुदृढ़ता आदि की दृष्टि से भारतीय कला के इतिहास वास्तव में अशोक से प्रारम्भ होता है। अशोक ने ही सर्वप्रथम भवन अथवा स्तम्भ या मूर्ति निर्माण आदि में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग प्रारम्भ किया, जिससे कला को स्थाई आधार मिला।

मौर्य साम्राज्य के दीर्घकालीन शासन में भारत में जिस सुख शान्ति के वातावरण की स्थापना हुई उसका परिणाम भारतीय संस्कृति के लिये बड़ा सुखदायी हुआ। इस युग में सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक विषयों की अभूतपूर्व प्रगति हुई और यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि जब मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो वह सांस्कृतिक विषयों की ओर ध्यान देता है। ऐसा मौर्य साम्राज्य के साथ भी हुआ। मौर्य शासन के अधीन सुख समृद्धि ने संस्कृति एवं कला के विकास के लिये सर्वथा अनुकूल वातावरण का सृजन किया। मौर्य युग कला की दृष्टि से मौलिकता, नवीनता एवं प्रयोगों का युग था। अभिव्यक्ति, सुन्दरता, सुगढ़ता एवं सुदृढ़ता की दृष्टि से भी भारतीय कला के इतिहास में मौर्य युगीन कला का उल्लेखनीय स्थान है।

18.3 मौर्यकला का स्वरूप

मौर्य युग से पूर्व भारतीय कला का इतिहास अस्पष्ट सा है। लेकिन मौर्य काल में कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस युग में कला के दो रूप मिलते है– राजकीय कला एंव लोक कला। राजकीय कला का सम्बन्ध सम्राट या राज परिवार था वही लोककला को जन साधारण का आश्रय प्राप्त था। राजकीय कला जिसका दर्शन राजप्रासाद तथा अशोक के स्तम्भ, गुहा आदि से प्राप्त होता है तथा लोककला जिसके अन्तर्गत यक्ष आदि तथा कुछ मिट्टी की मूर्तियां है। लोककला की परम्परा पूर्व युगों से काष्ठ और मिट्टी पर चली आ रही थी, और अब उसे पाषण के माध्यम से व्यक्त किया जाने लगा था। कालान्तर में इसी कला ने भारतीय मूर्ति कला के नवीन आदर्शो को स्थापित किया।

18.3.1 लोककला– लोककला का प्रमाण हमें मौर्य काल की विशालकाय यक्ष–यक्षी की मूर्तियों से मिलता है जो मथुरा के निकट परखम, बेसनगर, पटना, दीदारगज, नोह, बड़ोदा, पवया, वाराणसी, अहिच्छत्र, अमीन और झींग का नगरा से प्राप्त हुई है इनमें से कुछ पर लेख अंकित है।

ये मानव आकृति से भी लम्बी भारी भरकम है। इनमें यक्ष प्रतिमा में कमर में धोती, सिर पर पगड़ी और हाथों में वलय धारण किये हुये है। कुछ मूर्तियों के गले में तिकोना हार और उनका पेट कुछ बढ़ा हुआ है। यक्षी मूर्तियों में कमर के नीचे साड़ी पहने हुये, कमर में मेखला तथा सिर को वस्त्राभूषणों से ढके हुये है। मूर्तिया अपने दाहिने हाथ में चंवर या पुष्प गुच्छ लिये हुये है। इन मूर्तियों को सर्वप्रथम रामप्रसाद चन्दा ने, इन पर अंकित लेख पढ़कर इन्हे यक्ष और यक्षी की मूर्तियां बताया है। यद्यपि कई यक्षयक्षी की मूर्तियां प्राप्त हुई है इनमें उल्लेखनीय है–

1. उ. प्र. मथुरा जिले के परखम ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति
2. मथुरा जिले के ही बड़ौदा ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति
3. मथुरा जिले के ही ग्राम झींग का नगरा से प्राप्त यक्षी मूर्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. म.प्र. विदिशा जिले के बेसनगर से प्राप्त यक्षी की मूर्ति

5. बेसनगर से प्राप्त अन्य यक्षी मूर्ति

6. विदिशा में वेस व वेतवा के संगम स्थल से प्राप्त यक्ष मूर्ति

7. म.प्र. के ग्वालियर जिले के पद्मावती से प्राप्त यक्ष मूर्ति

8. बिहार के पटना नगर में दीदारगंज से प्राप्त यक्षी मूर्ति

9. उ.प्र. के वाराणसी राज–घाट से प्राप्त त्रिमुख यक्ष मूर्ति

10. गुजरात के शूर्पारक से प्राप्त यक्ष मूर्ति

11. उड़ीसा में शिशुपालगढ़ से प्राप्त यक्ष मूर्तियां

12. दिल्ली के निकट मेहरौली से प्राप्त यक्ष मूर्ति आदि।

इन मूर्तियों में जहां लोक धर्म का अंकन हुआ है, वहीं इनमें प्रचलित लोक कला की तकनीक द्वारा लोक परम्परा एंव संस्कृति उभर कर सामने आयी है। इनमें लोक प्रचलित वस्त्र, आभूषण तथा भावनाओं का अंकन किया गया है। मूर्तियों पर उभरी मांसपेशियों की बलिष्ठता व उनका महाकाय रूप लोक भावना के अनुकूल है। सामान्य रूप से जहां ये मूर्तियां लोक भावना के अनुकूल भारी भरकम स्थूलकायी है, वहीं इनमें स्थानीय शैली के लक्षण भी उल्लेखनीय है। लोक कला पर भी काष्ठ तकनीक का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

18.3.2 राजकीय कला – राजकीय कला वह थी जिसे मौर्य सम्राटों के आश्रय प्राप्त था। राजाओं का आश्रय पाकर मौर्यकला अत्यन्त विकसित हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर सम्राट अशोक पर्यन्त मौर्य शासन की शान्ति और सुव्यवस्था ने राजकीय कला के बहुमुखी विकास के लिये उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर दी। यहीं कारण है कि कला की दृष्टि से मौर्य युग नूतनता, मौलिकता एवं प्रयोगों का युग था। मौर्य–युगीन कला ने सुन्दरता, अभिव्यक्ति–प्रवणता तथा सुदृढ़ता की दृष्टि से भारतीय कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। राजकीय कला के अनेक रूपों में स्थापत्य कला, मूर्तिकला एंव चित्रकला के रूप में आज भी सुरक्षित है।

18.4. मौर्य कालीन वास्तुकला

मौर्य शासकों के राज्याश्रय में वास्तु–कला का अद्भुत विकास हुआ था। इस राजकीय स्थापत्य या वास्तुकला के अनेक अवशेष एंव अन्य प्रमाण आज भी उपलब्ध है। इस युग की वास्तुकला में पाटलिपुत्र की स्थापत्य योजना, राजप्रासाद, गुफाएं, स्तूप, अशोकीय स्तम्भ आदि की गणना की जा सकती है। मौर्य वास्तु की निर्माण सामग्री में काष्ठ और प्रस्तर दोनों का योग था। इस युग में संरचनात्मक स्तूपों के निर्माण के साथ–साथ प्राकृतिक गुफाओं को काटकर शैल गृहों का निर्माण भी किया गया है। मौर्यकालीन स्थापत्य कला निम्न रूपों में आज भी सुरक्षित है–

18.4.1 नगर निर्माण –मौर्यकालीन शासकों की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। यह गंगा और सोन नदी के संगम पर विशाल क्षेत्र में फैली हुयी थी। इसका निर्माण एक दुर्ग के रूप में हुआ था। पाटलिपुत्र नगर एक प्राचीर से घिरा हुआ था तथा नगर के चारों ओर एक गहरी खाई थी। परकोटे में 64द्वार तथा 570 बुर्ज थे। इसका प्रासाद लकड़ी का बना हुआ था। कौटिल्य ने नगरों की रचना के सम्बन्ध में लिखा है कि राजधानी की सुरक्षा के लिये परकोटा होना चाहिये तथा साथ ही मुख्य 12द्वार होने चाहिये। प्राचीर की सुरक्षा के लिये एक दूसरे के समान्तर तीन खाइयां होनी चाहिये। मेगस्थनीज के विवरण की पुष्टि करते हुये एरियन ने पाटलिपुत्र के लिये लिखा है, ''यह खाई 600 फुट चौड़ी और 45फुट गहरी थी। नगर की चहारदीवार में 64द्वार और 570 बुर्ज थे। नगर के मध्य राजभवन स्थित था। राजभवन में अनेक विशाल सभाभवन थे, जिनके स्तम्भ लकड़ी के थे और उन पर चांदी तथा सोने की बनी चिड़िया फूलों के गुच्छे और अंगूर की लताएं मण्डित थी। सूसा और एकबतना के आलीशान और सुन्दर महलों से चन्द्रगुप्त का राजभवन अधिक समृद्ध और अलंकृत था। फाहयान ने पाटलिपुत्र नगर की प्रशंसा करते हुये लिखा है– 'नगर प्राचीर के भीतर अशोक का राजमहल प्रस्तर निर्मित था। वह इतना सुन्दर था कि लोग उसे अमानवीय शिल्पियों का बनाया हुआ समझते थे। राजभवन सुन्दर प्रस्तर मूर्तियों से शोभायमान था।

पुरातत्वीय उत्खननों से उपरोक्त विवरणों की पुष्टि होती है। वाडेल और स्पूनर के द्वारा पाटलिपुत्र के उत्खनन से इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नगर की प्राचीन किलेबन्दी के अवशेष मिले है, जिनसे मेगस्थनीज के विवरण की प्रमाणिकता ज्ञात होती है। कुम्हरार के निकट बुलन्दी वाग के उत्खनन से साखू लकड़ी के बड़े–बड़े स्तम्भों और चौड़े तख्तों से निर्मित प्राचीर का पता चलता है। नगर–प्राकार के जो अवशेष मिले है उनमें दोनो और साखू के स्तम्भों की दीवाले है। यहां का प्रत्येक स्तम्भ 18 फुट ऊंचा और 1फुट चौड़ा है, और दोनो दीवालों को 14फुट के आड़े लट्ठों से आड़े दिया गया है। स्पूनर ने इस किलेबन्दी पर अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा है कि किरण 'पाटिलपुत्र नगर के चारों ओर मैग्ल्स तालाब (गांधी सरोवर), महाराज खन्दा, अगम कुआं, तुलसी मण्डी तथा कुम्हरार के उत्तर पश्चिम और छोटी पहाड़ी से 1/4 मील पूर्व भी ऐसे ही दृढ़ लकड़ी के मोटे लट्ठे मिले है। अतः स्पष्ट है पाटलिपुत्र नगर की किलेबन्दी के अवशेष हमें जहां तहां मिले है। लकड़ी के स्तम्भों की इस दृढ़ किलेबन्दी से यह प्रमाणित होता है कि लकड़ी पर आधारित वास्तुकला ने मौर्यकाल में श्लाघनीय उन्नति की थी।''

18.4.2 राजप्रासाद

मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार मौर्य प्रासाद सूसा और एकबतना के राजप्रासादों से अधिक भव्य एंव प्रभावशाली था। प्राप्त विवरणों के अनुसार अनुमान लगाया जाता है कि प्रासाद के चतुर्दिक सुन्दर उद्यान था, जिसमें सरोवर बने हुये थे। राजमहल के काष्ठ–स्तम्भों पर स्वर्ण के पत्थर चढे हुये थे। प्रासाद का आन्तरिक कक्ष राजसिंहासन, पादपीठों और सोने–चांदी की वस्तुओं से सज्जित था। मगर यह राज दुर्भाग्यवश अग्निकाण्ड से नष्ट हो गया। पटना के निकट कुमराहार से उत्खनित काष्ठ निर्मित स्तम्भों मात्र के रूप में अब उसकी स्मृति शेष है।

कुमराहर से उत्खनित प्रासाद के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवशेषों में 'चन्द्रगुप्त सभा' का नामोल्लेख किया जा सकता है। यह एक विशाल मण्डप के रूप में था जिसमें कुल 80स्तम्भ थे। यह स्तम्भ 10–10 की पक्तियों में 15फुट की दूरी पर 8पक्तियों में खड़े थे। यद्यपि ये स्तम्भ प्रायः टूटे है, पर उनमें से एक पूरा का पूरा मिला है। वास्तुकला की दृष्टि से इनका निर्माण और नियोजन उल्लेखनीय है। एक ही पत्थर के बने इन एकाश्म स्तम्भों पर मौर्यकालीन पॉलिश है। उत्खनन से ज्ञात होता है कि ये स्तम्भ बड़े सुदृढ़ व स्थायी आधार पर नियोजित किये गये थे। इन स्तम्भों को 6 फुट गहरी नींव खोदकर, उसमें 6इंच मोटी नीली मिट्टी (प्रकार का सीमेन्ट) देकर और साखू लकड़ी का चौसल्ला बनाकर स्थिर किया गया था इस प्रकार स्तम्भों का यह नियोजन दृढ़ व स्थायी सिद्ध हुआ।

प्रायः विद्वानों ने इसे चन्द्रगुप्त का सभा भवन कहा है। इस मण्डप के एक ओर पाये गये मंच में लकड़े के लट्ठों की खुदाई व काम की स्वच्छता उल्लेखनीय है। इस मण्डप के दक्षिण की ओर काष्ठ मंच बने है इन मंचो की कुल संख्या सात है जो 30 फुट लम्बे 5फुट 4इंच चौड़े और 4फुट 6इंच ऊँचे है। यह काष्ठ दण्ड अत्यन्त पुरातन होने के बावजूद पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में मिले है। प्रत्येक मंच की रचना इतनी सूक्ष्मता और सांमजस्य के साथ की गई है कि आज भी काष्ठ शिल्प में वैसा दुर्लभ है।

18.4.3 स्तूप– स्तूप वास्तु भारतीय धार्मिक वास्तु का एक प्रमुख अंग है। स्तूप वास्तु शव स्मारक का प्रतीक है, और गौतम बुद्ध तथा बौद्ध महात्माओं के शव स्मारक रूप से ही अधिक प्रसिद्ध है। यद्यपि स्तूप–वास्तु का निर्माण बौद्ध धर्म के जन्म के पश्चात् प्रारम्भ हुआ, लेकिन इसका वैचारिक जन्म, रूप एंव विकास इसके पूर्व वैदिक काल से माना जा सकता है। स्तूप की रूपरेखा अण्डाकार या अर्ध गोलाकार रूप में होती है, और यह चारों ओर से सुरक्षा एंव महत्व की दृष्टि से वेदिका (बाड़ा) से घिरा रहता है। स्तूप के ऊपर हर्मिका होती है, जिसके ऊपर 'छत्रयष्टि' लगी रहती है।

बौद्ध परम्परा एंव साहित्य से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद उनकी अवशिष्ट अस्थियों को 8 भागों में विभक्त कर उन पर स्तूप का निर्माण करवाया गया था। बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें चैत्य कहा गया है। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट अशोक ने इन स्तूपों में संरक्षित शवभष्म, अस्थि, केश अथवा दन्त को निकालकर उन्हे 84000 स्तूप बनवा, उनमें रखवाया। अशोक ने स्तूपों का तो निर्माण करवाया परन्तु इनकी संख्या अतिश्योक्तिपूर्ण लगती है। यद्यपि अशोककालीन स्तूप अधिकांशत नष्ट हो गये है। अशोककालीन कला अवशिष्ट में सांची एवं अशोककालीन कला अवशिष्टों में सांची एंव भरहुत के स्तूप प्रमुख है। भरहुत स्तूप प्रमुख है। अशोककालीन सांची एवं भरहुत स्तूप को शुङ्गकाल में विस्तृत एंव परिवर्द्धित किया गया। आज जो सांची एवं भरहुत स्तूप हमारे सामने सुरक्षित है वह अशोक के समय में आधे थे, लेकिन आज भी सांची एंव भरहुत स्तूप में मौर्यकालीनकला छुपी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

❋ **सांची स्तूप** : मध्य प्रदेश के भोपाल के निकट सांची में तीन स्तूप जिसमें एक बड़ा एंव दो छोटे स्तूप है। सांची के बड़े स्तूप को मूलतः अशोक अथवा उसके किसी प्रतिनिधि ने (तीसरी शती ई. पू.) ईंटो से बनवाया था यद्यपि मौलिक स्तूप ईटों से निर्मित है जिसे (जॉन मार्शल ने उत्खनन द्वारा स्पष्ट किया है) प्रथम शताब्दी ई. पू. में आन्ध्रों के शासनकाल में विस्तृत किया गया। इसका तल व्यास 120 फुट तथा ऊंचाई 58 फुट है। इस पर हर्मिका भी बनी है वर्तमान में इसके चारों तरफ वेदिका बनी है जिसमें चारों दिशाओं में चार तोरण द्वार बने है। स्तूप वेदिका एंव तोरण द्वार की इन्जीनियरिंग कला पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मौर्यकालीन मौलिक स्तूप से सम्बन्धित वेदिका तथा तोरण द्वार काष्ठ से पाषाण में परिवर्तित कर दिया गया। इसकें अतिरिक्त यहां दो छोटे स्तूप और भी है, जो मौर्यकाल में बने थे। इनमें से एक तो बड़े स्तूप के निकट ही उत्तर–पूर्व की ओर स्थित है और दूसरा पहाड़ी से थोड़ा नीचे है जो कि तोरण विहीन है।

❋ **भरहुत स्तूप** : भरहुत स्तूप भी मध्य प्रदेश में सतना जिले से 16 किलोमीटर दूर यह स्तूप है। यह स्तूप भी मौलिक रूप से अशोक के समय बना था लेकिन इनका जीर्णोद्धार एवं परिवर्द्धन शुंडगकाल में हुआ। इसकी खोज 1873 ई. में कनिंघम ने की। इसके अवशेष कलकत्ता, लंदन, प्रयाग, इलाहबाद एवं रामवन सतना के संग्रहालयों में सुरक्षित है। इस स्तूप का तल व्यास 68 फुट था जो चारों ओर से प्रस्तर वेदिका द्वारा घिरा हुआ था। मौलिक रूप से मौर्य काल में बना यह स्तूप ईंटों का था उसके बाद इस पर पाषाण आवरण किया गया और अलंकृत पाषाण वेदिका से सज्जित किया गया जो परवर्ती शुंडगकाल की देन है।

❋ **एकाश्म वेदिका** : सारनाथ में अशोक के स्तूप के चारों ओर बनी एक पाषाण वेदिका प्राप्त हुई है। यह मूल गंध कूटी (सारनाथ) के दक्षिणी चैत्य की नींव के नीचे तक सफाई करते समय प्राप्त हुई। 8फुट 4ईंच ऊंची यह वेदिका पाषाण की बनी है और इसमें कोई जोड़ नहीं है। इस पर अशोककालीन कलाकृतियों वाली पॉलिश की हुई है। अनुमान यह लगाया जाता है कि किसी समय यह धर्मराजिका स्तूप की चोटी पर लगी हुई थी। यह धर्मराजिका स्तूप भी सम्भवतया अशोककालीन है। वेदिका आकार में चौकोर है जिसमें दो स्तम्भों के बीच तीन सूक्तियां के ऊपर गोल मुंडेर वाला उष्णीय है। पूरी वेदिका पर अशोक कालीन चमकदार पॉलिश है।

18.4.4 स्तम्भ

मौर्यकालीन राजकीय कला में अशोक के कलात्मक स्तम्भों का महत्वपूर्ण स्थान है। पाषाण के ये स्तम्भ उस काल की उत्कृष्ट कला के प्रतीक है। इन स्तम्भों पर अशोक ने अपने उद्धार धार्मिक और प्रशासकीय विचार उत्कीर्ण कराए। अपने धर्मलेखों, राजघोषणाओं तथा आदेशों को जनसाधारण के हित में प्रसारित करने के लिये अशोक ने देश के विभिन्न प्रान्तो में स्तम्भ स्थापित करवाये। अधिकतर स्तम्भों का भार लगभग 50टन और ऊँचाई 50 फुट है। प्रत्येक स्तम्भ के तीन भाग है–

(1) पृथ्वी में गढ़ा हुआ आधार भाग।
(2) पृथ्वी के ऊपर का गोल या मध्य भाग तथा
(3) उच्चतम स्थान पर बना हुआ शीर्ष भाग।

स्तम्भों को कई फुट नीचे की ओर पृथ्वी मे गाढ़ा जाता था पृथ्वी के ऊपर वाले मध्य भाग पर अद्भूत चमक तथा चिकनाई मिली है। ऊँचाई के साथ–साथ इन स्तम्भो की गोलाई कम होती जाती है तथा बिलकुल शीर्ष स्थान पर चिन्हस्वरूप अनेक प्रकार के पशुओं की मूर्तियां स्थापित की गई है। पूरे स्तम्भ में शीर्ष भाग सबसे सुन्दर एवं महत्वपूर्ण है। मौर्ययुगीन स्तम्भों मे अनेक तो नष्ट हो गये लेकिन फिर भी अनेक सुरक्षित है और कई थोड़े बहुत खण्डितावस्था में है। अब तक प्राप्त स्तम्भ निम्नलिखित है–

1. सारनाथ का सिंह स्तम्भ
2. सांची सतम्भ
3. रामपुरवा स्तम्भ
4. रामपुरवा स्तम्भ (लेखरहित)
5. लौरियानन्दगढ़ सिंह शीर्षक युक्त स्तम्भ
6. लौरिया अरराज स्तम्भ
7. इलाहबाद स्तम्भ
8. कौशाम्बी स्तम्भ
9. रूम्मिनदेई या लुम्बिनी स्तम्भ
10. निगलीवा स्तम्भ
11. वाखिरा या कोल्हुआ स्तम्भ
12. संकाश्य स्तम्भ
13. पटना की सदर गली से प्राप्त वृष शीर्षकयुक्त स्तम्भ खण्ड
14. पटना बसाढ स्तम्भ
15. दिल्ली टोपरा स्तम्भ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

16. दिल्ली मेरठ स्तम्भ

17. पटना संग्रहालय में सुरक्षित चार वृषभों के संघाट युक्त स्तंभ शीर्षक

18. लखनऊ संग्रहालय स्तम्भ (बस्सी से प्राप्त)

इनके अतिरिक्त अभी भी अशोक के स्तम्भो के मिलने का क्रम जारी है।

अशोककालीन ये स्तम्भ समकालिक कला के ही वाहक नहीं संदेश वाहक भी है। वास्तव में अशोक के दार्शनिक विचारों के वाहक है, जो उसके दार्शनिक सन्देश को प्रशस्त कर रहे है। प्राप्त अधिकांश स्तम्भ लेखयुक्त है। परन्तु अशोक के पूरे सातों लेख केवल दिल्ली–टोपरा स्तम्भ पर ही मिले है। अशोककालीन स्तम्भों का सबसे महत्वपूर्ण कलात्मक भाग उसका शीर्ष है जो वास्तु ही नहीं मूर्तिशिल्प के भी प्रमाण है। अशोककालीन शिल्प–कला का सर्वोत्तम उदाहरण सारनाथ स्तम्भ शीर्ष है। इस शीर्ष में मौर्यकाल का सर्वोत्तम विकास देखा जा सकता है। यह शीर्ष मूलतः 50फुट ऊँचे स्तम्भ पर स्थित था। इस स्तम्भ को गढ़ने में शिल्पी ने धर्मचक्र, चार सिंहो के शरीर सौष्ठव, गोल चौकी में उत्कीर्ण चार पशु (अश्व, वृष, सिंह एवं गज) एवं चार धर्म चक्र तथा पदकोश आदि शीर्ष के विविध भागों के सन्तुलन एंव सौन्दर्य के मध्य तालमेल बैठाकर अपने कला नैपुण्य का परिचय दिया है। जॉन मार्शल ने इसे भारत की सर्वश्रेष्ठ शिल्पकृति कहा है।

इसी प्रकार मिलता जुलता अन्य कई स्तम्भों पर अंकन हुआ है लेकिन सारनाथ जितना उत्कृष्ट नहीं। इन स्तम्भों में धर्मचक्र अशोक की धार्मिक आस्था का प्रतीक, चार सिंह सम्राट की तेजस्विता, उसके साम्राज्य की विविध प्रजा तथा उसकी एकता के द्योतक है। वस्तुतः इस धार्मिक प्रतीक में समाज, धर्म तथा विश्व के विषय में सम्राट अशोक के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई है। मौर्य स्तम्भों का निरीक्षण करने पर दृष्टा के हृदय पर सौन्दर्यजन्य प्रभाव पड़ता है। इनका कलात्मक रूप सारगर्भित और मौलिक है। स्तम्भों का निर्माण, स्थानान्तरण तथा स्थापना मौर्यकालीन शिल्पकार की कल्पना, बुद्धि और कुशलता का प्रमाण है।

बोध प्रश्न

प्रश्न– मौर्यकालीन राजकीय कला के किन्ही दो बिन्दुओं पर संक्षिप्त विवेचन कीजिये (30 शब्द सीमा)।

उतर–..

18.4.5 गुहाएं

प्रागैतिहासिककाल से ही भारतीय पर्वतों को काटकर गुहाओं का निर्माण करना भारतीय कला रही है। इनकी पुनरावृति पुनः मौर्य युग विशेषतः अशोक के समय में हुई। ये गुफाएं जैन एवं बौद्ध भिक्षु–भिक्षुणियों के लिये आश्रय का साधन बनने लगी। इन गुफाओं को संस्कृत में लयनम् तथा प्राकृत भाषा में लेण कहा जाता था। सम्राट अशोक के काल में सर्वप्रथम आजीविकों के लिये खलतिक पर्वत (गया के निकट आधुनिक बराबर पर्वत) पर गुफाएं उत्कीर्ण की गई। बिहार प्रान्त में गया से 19 मील दूर बराबर तथा नागार्जुनी पहाड़ी में कुल सात गुफाओं की प्राप्ति हुई है जिन्हे 'सातघर' की संज्ञा प्राप्त है? अशोक तथा उसके पुत्र दशरथ ने इन्हे आजीविकों को दानस्वरूप भेंट किया था। इन गुफाओं की दीवारें बहुत चिकनी एवं बड़ी पक्की है इन पर बारीक पच्चीकारी की गई है। मौर्यकालीन गुफा निर्माण कला से प्रेरणा पाकर ही भविष्य में अजन्ता तथा एलोरा जैसी गुहा–कला का जन्म हुआ। इन सात गुफाओं में चार बराबर में एंव तीन नागार्जुनी पहाड़ी पर है इन गुफाओं में लिखे लेख के आधार पर पता चलता है कि इनका निर्माण अशोक ने आजीविक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के प्रयोग के लिये कराया था। ये गुफाएं है–

- **सुदामा गुफा :** यह सबसे प्राचीन गुफा है! यह बराबर की पहाड़ी पर है। इसकी छत ढोलाकार है तथा 12 फुट 3 इंच ऊँची है। इसके भीतर 32 फुट 9 इंच लम्बा तथा 19फुट 6इंच चौड़ा बड़ा कक्ष है। इसकी भीतरी दीवारों पर चमकदार पॉलिश है। इसे अशोक ने अपने राज्यारोहण के 12वें वर्ष बनवाया था।
- **कर्ण चौपड़ :** यह अशोक ने अपने राज्यारोहण के 19वें वर्ष में बनवाई। यह चतुष्कोणिक वृहत्वकक्ष से युक्त है जिसकी लम्बाई 3 फुट व चौड़ाई 14 फुट है। इसकी दीवारों पर 4 फुट 8 ईंच की मेहराबदार छत है। इसकी छत की ऊँचाई 6 फुट 7 इंच है। यह भी तेलिया पत्थर को खोदकर बनाई गई है।
- **विश्व झोपड़ी :** इसका निर्माण अशोक ने 12वें वर्ष करवाया। इसमें दो कक्ष है 11 फुट व्यास का भीतरी कक्ष अधुरा बना लगता है। दूसरा कक्ष आयताकार एवं छत सपाट है। दीवारों पर पॉलिश है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

* **लोमस ऋषि की गुफा** : इस पहाड़ी पर यह सबसे महत्वपूर्ण गुफा है। तिथि के दृष्टि से सबसे बाद की गुफा है लेकिन सबसे श्रेष्ठ है। इसका द्वार सबसे विशिष्ट है। इसमें उपासना गृह भी है जो अण्डाकार है। इसके प्रवेश द्वार के मेहराब पर 'गजपक्ति' की पच्चीकारी की हुई है। इस प्रकार की पच्चीकारी प्राचीनकाल में की जाती थी। ये सभी (उपरोक्त चारों) गुफाएं बराबर की पहाड़ी पर बनी है। नागार्जुनी पहाड़ी पर तीन गुफाएं है जो मौर्यकालीन है, इस प्रकार है–

* **गोपी गुफा** : यह एक सुरंगनुमा गुफा है। इसकी छत ढोलाकार है इसमें लेख अंकित है जिससे पता चलता है कि इसका निर्माण अशोक के पौत्र दशरथ ने करवाया। यह 44 फुट लम्बी, 19 फुट चौड़ी तथा 10 फुट ऊँची है।

* **वड़थिका गुफा** : यह भी आजविकों के लिये निर्मित गुफा थी इसमें लिखित लेखानुसार इसका निर्माण भी दशरथ के समय में हुआ था।

* **वहियक गुफा** : यह एक कक्ष के सदृश्य लगती है। यह कक्ष 16 फुट 9 इंच लम्बा, 11फुट 3 इंच चौड़ा तथा 10 फुट ऊँचा है। इसका मुखमण्डप छोटा सा है। इसके लेख से दशरथ द्वारा निर्मित होने का उल्लेख मिलता है। इन समस्त गुफाओं की अन्दर की दीवारों पर चमकदार पॉलिश है जो मौर्यकला की विशेषता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न– मौर्यकालीन लोककला को विवेचित कीजिये? (30 शब्द सीमा)

उत्तर–...

18.5 मूर्तिकला

मौर्यकाल में मूर्तिकला का भी पर्याप्त विकास हो चुका था। इस युग में अनेक सजीव एंव आकर्षक मूर्तियों का निर्माण किया गया है। स्तम्भों पर बनी विभिन्न पशु पक्षियों की मूर्तियां न केवल सजीव है बल्कि सुन्दरता लिये हुये भी है। इसी प्रकार अनेक मानव आकार की मूर्तियां भी प्राप्त हुई है इनमें सम्मुख दर्शन की विशेषता है। मौर्यकालीन प्राप्त मूर्तियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध मूर्ति आगरा–मथुरा के मध्य परखम ग्राम में मिली है। यह सात फीट ऊँची है तथा भूरे बलुए प्रस्तर की बनी हुई है। ऊपर सुन्दर वज्रलेप है, किन्तु इस मूर्ति का मुख तथा भुजाएं भग्न है। यह वस्त्र धारण किये हुये है। अंकित वस्त्र मौर्यकालीन वेशभूषा के परिचायक है। इसी प्रकार बेसनगर से प्राप्त स्त्री मूर्ति जो 6 फुट 7इंच ऊँची है। इसकी भुजाएं एंव मुख टूटा हुआ है। पटना एंव दीदारगंज से भी मानव मूर्तियां मिली है। इस सभी पर मौर्यकालीन ओपदार पॉलिश है। जायसवाल एंव श्री रामप्रसाद चन्दा, नीहार रंजन राय भी इन्हें मौर्यकालीन बताते है।

पटना के दीदारंगज से प्राप्त स्त्री मूर्ति चंवर लिये हुये हैं। यह साढ़े पांच फीट ऊँची है तथा एक चौकी पर खड़ी है। चौकी के साथ ही सम्पूर्ण मूर्ति एक प्रकार के बलुए प्रस्तर से निर्मित है, जिस पर विशिष्ट चमक है। मूर्ति का मुख मण्डल गोलाकार है, शरीर भरा हुआ तथा होठों पर हल्की मुस्कान है, पेट की नसे और मांसल देह तथा पेट की सलवटें स्पष्ट है। इसके दाहिने हाथ में चंवर है, केशराशि गूंथी हुई है, हाथ की कलाई में चूड़ियां तथा भारी कड़ा है, हाथ टूटा हुआ है, गले में मुक्तहार है जो कि वक्ष के स्तनों के मध्य डोलायमान है। यह मूर्ति की मौर्यकालीन चमकदार पॉलिश से युक्त है।

मथुरा, अहिच्छत्र, कौशाम्बी, गाजीपुर, पटना से भी मिट्टी की मूर्तियां मिली है। इनके अलावा बुलन्दीबाग, कुम्हरार सा और बक्सर से खिलौने प्राप्त हुये है।

मानव मूर्तियों के अतिरिक्त पशु आकृतियां भी महत्वपूर्ण है। सारनाथ के सिंह स्तम्भ पर चार सिंहो की आकृति तत्कालीन मूर्तिकला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कहे जा सकते है।

उड़ीसा में धौली नामक स्थान पर चट्टान से काटकर एक विशाल हरित प्रतिमा मिली है जो कि मौर्यकालीन है। यह अधुरी मूर्ति है हाथी का केवल अग्र भाग ही निर्मित हो पाया है इस मूर्ति में विशालता, मांसल एंव जीवनता विशेष है।

इस प्रकार मौर्यकालीन मूर्तिकला भी उन्नति पर थी, प्राप्त अवशेषों से यह पुख्ता हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

18.6 चित्रकला

मौर्यकाल में स्थापत्य और मूर्तिकला के अतिरिक्त चित्रकला के क्षेत्र मे भी प्रगति हई। मौर्य युग में भवनों तथा भित्तियों के अतिरिक्त वस्त्रों पर भी चित्र बनाये जाने लगे थे। पटचित्रों के निर्माण के क्षेत्र में बौद्ध कला ने विशेष ख्याति अर्जित की। उसका सूत्रपात अशोक के ही समय में हो चुका था। बौद्ध पिटको जातकों और गाथा विषयक ग्रन्थों के विभिन्न सन्दर्भो से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में चित्रकला को मनोरंजन का श्रेष्ठ माध्यम माना जाने लगा था। इसी उद्देश्य से अनेक शासकों ने अपने यहां बहुमूल्य विशाल चित्रशालाओं एवं चित्रसंग्राहलयों की स्थापना की थी।

18.7 मौर्य कालीन कला की विशेषता

कला की इस परम्परागत मान्यता एवं लोकप्रियता के मौर्यो ने अधिक प्रोत्साहित किया। मौर्यकाल में प्रत्येक व्यक्ति अपनी कला के प्रति स्वतन्त्र था। यही कारण है मौर्ययुग में कला राजकीय एंव लोककला के रूप में सवर्द्धित और विकसित हुई। कला के प्रत्येक क्षेत्र में इस युग में उन्नति हुई। मौर्यो के लम्बे शासनकाल में भारत में जिस सुख शान्ति का वातावरण बना उसके परिणामस्वरूप कला का विकास हुआ। यही कारण था कि आगामी युग की कला पर इसका प्रभाव पड़ा इस काल की कला की मुख्य विशेषताए निम्न कहीं जा सकती है—

(1) इस युग की कलाकृतियों पर जो चमकदार पॉलिश की गई है वह आज भी यथावत बरकरार है और इसी पॉलिश से इसकी पहचान बनी है।

(2) प्रत्येक कलाकृति में उसके भावों का प्रकाशन एवं प्रदर्शन सजीवता से हुआ है जैसे सारनाथ सिंह स्तम्भ में चार पशु आकृतियां अपने गुण को प्रदर्शित करती है—अश्व की गतिशीलता, सांड का पौरूष, मृग की चंचलता ओर हाथी के विशाल मांसल शरीर के साथ गौरव गंभीर आकृति के स्वाभाविक तथा ओजपूर्ण अभिव्यक्ति निर्जीव मूर्ति में प्राण का संचार करती है।

(3) कठोर पाषाण को काटकर बनाये गये स्तम्भों की निर्माण शैली मौलिक है और इनके प्रतीक तथा अन्य चिन्ह कलात्मक यथार्थता से ओत प्रोत है।

(4) लोककला की शैली प्रभावशाली, अभूतपूर्व और मौलिक है।

18.8 सारांश

मौर्यकालीन कला को देखने से स्पष्ट होता है कि मौर्य युग में कला की दो परम्पराएं — राजकीय तथा लोककला प्रचलित थी। इनमें राजकीय कला जिसे सम्राट का आश्रय प्राप्त था, जिसके अन्तर्गत बड़े पैमाने पर स्तम्भ, राजप्रासाद और गुहाएं निर्मित हुई और दूसरी ग्रामीण लोक कला, जिसमें यक्ष यक्षी की मूर्तियां बनायी गई। मौर्यकालीन इन दोनों ही परम्परा में कला का रूप इतना सजीव एवं आकर्षक था कि आज भी यथावत सुरक्षित है। मौर्य युग न केवल एकतन्त्रीय राजतन्त्रात्मक शासन चलाने के लिये विख्यात हुआ बल्कि कला को सुरक्षित रूप इसी युग से प्रदान किया जाने लगा। अशोक के स्तम्भ, गुहाएं, शिलालेख, मूर्तिकला, यक्ष, यक्षी मूर्तियां, राजभवन स्तूप आदि सभी मौर्यकला की ही भारतीयों को देन है।

18.9 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न— 1 निम्न में से कौनसी गुफा बराबर पहाड़ी पर नहीं है—

(अ) कर्ण चौपड़ (ब) सुदामा (स) गोपी (द) विश्व झोपड़ी

प्रश्न— 2 अशोककालीन स्तम्भों पर टिप्पणी लिखिये (30 शब्द सीमा)

प्रश्न— 3 मौर्यकालीन राजकीय कला की विशेषताओं की सविस्तार विवेचना कीजिये।? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–19 : मथुरा कला

संरचना

19.0 प्रस्तावना

19.1 उद्देश्य

19.2 भूमिका

19.3 'मथुरा' कला केन्द्र के रूप में

19.4 मथुरा कला का विषय

19.5 मथुरा में 'बौद्ध धर्म'

19.5.1 मथुरा की बौद्ध मूर्तियों के लक्षण

19.6 मथुरा में 'जैन धर्म'

19.6.1 मथुरा की जैन मूर्तियों के लक्षण

19.7 मथुरा में 'ब्राह्मण धर्म'

19.8 'मथुरा कला' का वैशिष्ट्य

19.9 सारांश

19.10 अभ्यास प्रश्नावली

19.1 प्रस्तावना

मथुरा में जिस शैली का विकास हुआ उसे मथुरा शैली का नाम दिया गया। ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर गुप्त काल को मथुरा शैली का विकसित रूप माना है। मथुरा शैली की कृतियों का निर्माण लाल पत्थर से हुआ है। प्रत्येक कला कृति में मथुरा शैली की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। मथुरा शिल्पियों ने पूर्व में प्रचलित कला बिन्दुओ को अपनाते हुये उनमें नवीनता को प्रदर्शित किया। मथुरा कला की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी मौलिकता एंव विविधता है।

मथुरा के शिल्पियों को ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी अनेक देवी–देवताओं की मूर्तियों के प्रथम निर्माण का श्रेय भी है। इसी प्रकार जैन मूर्ति शिल्प का श्रेय भी मथुरा को है। सबसे प्राचीन जैन प्रतिमाएं और स्तूप मथुरा में ही प्राप्त हुये है।

मथुरा के शिल्पियों ने बुद्ध प्रतिमा के रूप में विश्व–कला की सबसे बड़ी विशेषता प्रकट की। उन्होने पहली बार बुद्ध को मानव रूप में प्रदर्शित किया। मथुरा से पूर्व केवल बोधिक्ष, भिक्षापात्र, उष्णी स्तूप आदि प्रतीकों से बुद्ध का चित्रण किया जाता था। बुद्ध की प्रतिमा मथुरा शिल्पियों की सबसे ऊँची मौलिक देन है। परिणामस्वरूप आगे चलकर प्रत्येक धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया। अपनी मौलिकता, सुन्दरता और रचनात्मक विविधता एंव बहुसंख्यक सृजन के कारण मथुरा कला का पद भारतीय कला में बहुत ऊँचा है।

19.0 उद्देश्य

'मथुरा कला' भारतीय कला को अनुपम देन है। प्राचीन काल से ही मथुरा, कला का केन्द्र रहा है यह नगर महातीर्थ, व्यापारिक केन्द्र तथा राजनीतिक केन्द्र होने के कारण ईसा की पहली शती से कला के महान् केन्द्र के रूप में सामने आया। मथुराकला का पृथक विषय, पृथक वैशिष्ट्य, पृथक शैली है। अतः इस पाठ का उद्देश्य मुख्य रूप से मथुरा कला को उजागर करना है। इस पाठ को मुख्य बिन्दुओं द्वारा विस्तारपूर्वक समझाया जायेगा–

- प्राचीन भारत में गांधार तक्षशिला, काशी, मथुरा, अमरावती कला के महत्वपूर्ण केन्द्र थे प्रत्येक स्थान पर पृथक विशेषता रही है उनमें मथुरा को कला केन्द्र रूप में स्थापित किया जायेगा।
- मथुरा मे जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण तीनों धर्मो का विकास चरम सीमा पर था परिणामस्वरूप मथुरा मे इन तीनों ही धर्मो की कला का पूरा विकास हुआ। इस पाठ के द्वारा मथुरा में तीनों धर्मो के कलात्मक स्वरूप एवं विकास को पृथक–पृथक रूप से समझाया जायेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

- मथुरा कला का कलात्मक विकास यूं तो काफी समय तक रहा लेकिन कुषाण काल में मथुरा कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। कुषाण शासकों ने इसको पूरा प्रश्रय दिया परिणामस्वरूप मूर्तिकला की अभूतपूर्व उन्नति।
- कुषाणकाल में ही प्रथम बार बुद्ध को मानवाकृति के रूप में प्रदर्शित किया गया इस प्रकार इस पाठ का मुख्य उद्देश्य पाठकों को मथुरा कला के तीनों आयामों– जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्म की कला के विकास क्रम को समझाना है।
- मथुरा में जैन कला, बौद्धकला एवं ब्राह्मण कला तीनों के विकास को मुख्यतः वास्तुकला, मूर्तिकला एवं अन्य प्रकार से समझाया जायेगा।
- अन्त में मथुरा कला शैली की विशेषताओं को बताते हुये इस पाठ के उद्देश्य को पूरा करने का प्रयास किया जायेगा

19.2 भूमिका

प्राचीनकाल से ही मथुरा कला का केन्द्र रहा है। यह नगर महातीर्थ, व्यापारिक केन्द्र तथा राजनीतिक केन्द्र होने के कारण ईसा की पहली शती से कला के महान् केन्द्र के रूप में समने आया। वैसे इसकी कलागत परम्पराएं अति प्राचीन है। मथुरा कला ने भारतीय कला को एक अलग आयाम दिया। यह एक ऐसा स्थल था जहां ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों ही धर्मो की प्रगति अनेक शतियों तक समान रूप से होती रही। कुषाण राजाओं की राजधानी बन जाने पर यह नगर कला का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया। भरहुत की अनगढ़ लोक कला तथा सांची का उच्च कोटिक शिल्प दोनों मिलकर कुषाण युग में मथुरा शैली बन गये। बौद्ध धर्म में महायान के उदय के साथ साथ बुद्ध की मूर्तियां बननी प्रारम्भ हो गई। ये सभी मूर्तियां सफेद चिती वाले लाल खादार पत्थर की है। मथुरा से इस काल की असंख्य छोटी बड़ी बुद्ध, बोधित्सव, यक्ष, नाग आदि की मूर्तियां मिली है। मथुरा शैली की मूर्तियों के मुख की आध्यात्मिक अभिव्यजना उन्हें अन्य शैली की मूर्तियों से स्पष्टतः अलग कर देती है मथुरा की कला परम्परा पर कई संस्कृतियों का सम्मिलित प्रभाव पड़ा। मथुरा और उसके आस–पास के क्षेत्र में कुषाण पूर्व युग में ही शैव, जैन और वैष्णव सम्प्रदाय अपनी जड़े जमा चुके थे। कनिष्क के समय में भी मथुरा मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र था। ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रगति करती हुई इस शैली मे आने वाले समय में उतर भारत की अनेक शैलियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। गुप्त काल की श्रेष्ठ मूर्तिकला को मथुरा शैली का ही विकसित रूप माना गया है।

19.3 'मथुरा' कला कंन्द्र कं रूप में

उत्तरी भारत में मथुरा कला का महत्वपूर्ण केन्द्र था। पहली शती ईस्वी से तीसरी शती ईसवी तक इसकी समृद्धि का समय था लेकिन इसके बाद भी लगभग चार सौ वर्षो तक अर्थात् चौथी से सातवी शती तक मथुरा के शिल्प वैभव का युग बना रहा। कुषाण युग में शिल्पकर्म और प्रतिमा निर्माण के लिये मथुरा की ख्याति दूर–दूर तक हो गई थी। कलाकारों ने सहस्त्रों मूर्तियों की रचना की, जिनमें से अधिकांश आज भी सुरक्षित है। पेन्सिल से बाह्य रूप निर्माण तथा भीतरी भावो में समन्वय स्थापित करने का जो प्रयास किया है वैसा अन्यत्र कहीं भी किसी का किया हुआ दृष्टिपात नहीं होता। मथुरा में स्थापत्य के साथ–साथ मूर्तिकला को विशेष स्थान मिला। ऐसे में बुद्ध, बोधिसत्व, यक्ष, नाग आदि की मूर्तियां भी अत्यधिक संख्या में यहां बनाई गई। यहां की मूर्तियां एक विशेष प्रकार के बालुकाश्म से बनती थी जो सीकरी आदि स्थानों से निकाला जाता था।

19.4 'मथुरा कला' का विषय

प्राचीनकाल गे गथुरा कला का गहत्वपूर्ण केन्द्र था। यहां के कलाकारों ने गरहुत और रांची की कला रो प्रेरणा ग्रहण की। कला के क्षेत्र में कलाकारों ने पुरातन कठोरता एवं रूढ़िवादिता की परम्परा का परित्याग कर दिया। यहां के मूर्तिकारों ने नर–नारियों की अनेक मुद्राओं में प्रतिमाओं का निर्माण किया। नथुरा कला का विषय मुख्यतः जैन तीर्थंकर, बुद्ध और बोधिसत्व आदि रहे। प्राचीनकालीन विष्णु, सूर्य, कार्तिकेय, लक्ष्मी, दुर्गा, सप्तमातृकाओं की मूर्तियों की प्राप्ति मथुरा से ही होती है। मथुरा कला के विषय मुख्यतः यक्ष, यक्षी, नाग, हरीती, महिषासुरमर्दिनी, भद्रा, गज लक्ष्मी, श्री लक्ष्मी, वसुन्धरा आदि का चित्रण था।

मथुरा के कलाकारों ने नारी प्रतिमाओं के निर्माण में विशेष रूचि दिखाई। वेदिका स्तम्भों पर अंकित मूर्तियों से भी यह स्पष्ट होता है। नारी प्रतिमाओं में रूप और आकृतियों में बहुत लालित्य तथा आभूषण एवं वस्त्रों का न्यूनतम प्रयोग किया गया है। वेदिका स्तम्भों की शाल भंजिकाओं (वृक्षका) की उद्यान क्रीड़ा, सलिल क्रीड़ा (जल क्रीड़ा) नृत्य आदि में रत–नारी आपान गोष्ठी आदि के दृश्यों का भी शिल्पांकन किया गया है। इन दृश्यों में सामाजिक संस्कृति का स्पष्ट अंकन है। मथुरा कलाकारों ने धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृश्यों को पूरी स्वतन्त्रता से अलंकृत किया। मौलिकता एंव विभिन्नता मथुरा कला का वैशिष्ट्य रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मथुरा के कलाकारों ने बुद्ध को मानव रूप में प्रस्तुत किया बुद्ध की प्रतिमा मथुरा शिल्पियों की सबसे ऊँची मौलिक देन थी। इसी प्रकार मथुरा के शिल्पियों को ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवी देवताओं की मूर्तियों के प्रथम निर्माण का श्रेय भी है। जैन मूर्ति शिल्प के विषय में भी पूरा श्रेय मथुरा को है क्योंकि सबसे प्राचीन जैन प्रतिमाएं और स्तूप मथुरा में ही प्राप्त हुये है। मथुरा शिल्पियों ने जैन तीर्थकरों की खड़ी एंव बैठी हुई, दो प्रकार की मुद्राओं की मूर्तियां बनाई।

अपनी मौलिकता, सुन्दरता और रचनात्मक विविधता एवं बहुसंख्यक सृजन के कारण मथुरा कला का पद भारतीय कला में बहुत ऊँचा है और मथुरा कला के विषय भारतीय कला के विषय बन गये।

19.5 मथुरा में बौद्ध धर्म

मथुरा केन्द्र से बौद्ध वास्तु एवं मूर्ति शिल्प दोनों के उदाहरण भक्ति, धर्म, भागवत आन्दोलन, सकर्षण वासुदेव की पूजा उनके लिये देवगृह और मूर्तियों का निर्माण आदि का प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा परिणामस्वरूप उन्हें भी बुद्ध मूर्ति के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई और बुद्ध को मानव रूप में प्रदर्शित किया जाने लगा।

प्रारम्भ में बुद्ध की प्रतीक पूजा का अंकन मिलता है। मथुरा में बुद्ध की प्रतीक पूजा का अंकन मिलता है। यही मथुरा के धार्मिक और कलात्मक इतिहास की विशेषता रही है। मथुरा कला में बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, त्रिरत्न, चूड़ा, भिक्षापात्र आदि प्रतीकों के साथ–साथ बुद्ध एंव बोधिसत्वों की मूर्ति पूजा की गई है।

भूतेश्वर और एक अन्य स्थल से प्राप्त (वर्तमान कचहरी के पास) अवशेषों से यहां दो स्तूपों के अस्तित्व में होने के संकेत मिलते है। यद्यपि यह सुरक्षित नहीं है।

मथुरा में बुद्ध बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण प्रचुर मात्रा में किया गया। मथुरा से बुद्ध बोधिसत्वों की मूर्तियों का निर्माण खड़ी एंव बैठी दोनों रूपो में हुआ है। इन प्रतिमाओं में प्रारम्भिक काल की बनी मूर्तियों में बुद्ध को बैठे हुये दिखाया है। मथुरा कला की निम्न मूर्तियां महत्वपूर्ण है– यह बुद्ध की सबसे प्राचीन मूर्ति है बल नामक भिक्षु द्वारा समर्पित थे यह प्रतिमा कनिष्क के शासन के तृतीय वर्ष की है। इस मूर्ति में प्रयुक्त पारदर्शक वस्त्र के मोड़ आरेखीय (स्कैमैटिक) है। यह विशाल प्रतिमा कमर तक नग्न और नीचे धोती पहने चित्रित की गई है। इसी कारण इसके बोधिसत्व प्रतिमा होने की अधिक सम्भावना है। कनिष्क के शासन काल के दूसरे वर्ष में बनी एक अन्य बोधिसत्व की प्रतिमा जो कौशाम्बी से मिली है, भी महत्वपूर्ण है यह भी मथुरा के लाल चकतेदार पत्थर की बनी है। प्राचीन श्रावस्ती (सेत–महेत) से प्राप्त बोधिसत्व प्रतिमा पर लिखे लेख के अनुसार त्रिपिटकाचार्य बल द्वारा स्थापित की गई थी। कुषाण काल में बोधिसत्व की प्रतिमाओं का निर्माण अत्यधिक संख्या में हुआ और अब बुद्ध को बुद्ध न कहकर बोधिसत्व के नाम से सम्बोधित किया गया। इस बात का उल्लेख सारनाथ और कौशाम्बी की मूर्तियों में हुआ है। कनिष्क ने ईरानी, यूनानी, ब्राह्मण देवताओं के साथ–साथ बौद्ध धर्मो के देवताओं के निर्माण की स्वीकृति प्रदान कर दी परिणामस्वरूप कुषाणकाल में बुद्ध एंव बोधिसत्व की असंख्य प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। इस प्रकार बौद्धों के लिये जो स्थान अशोक का था, वही कनिष्क का हुआ। कुषाणकाल में सर्वप्रथम तेजोचक्र या छायामण्डल का निर्माण किया जाने लगा इसी प्रकार बोधिसत्व मैत्रेय की भी कई मूर्तियां मिली है काश्यप बुद्ध की मूर्ति (सप्त मानुषी बुद्धों मे एक) भी मथुरा से प्राप्त हुई है।

19.5.1 मथुरा की बौद्ध मूर्तियों के लक्षण

कुषाणकाल में ही मथुरा में बौद्ध मूर्तियों का निर्माण हुआ परिणामस्वरूप इन मूर्तियों में चारित्रिक कुछ विशेषताएं भी थी जो है–

- अधिकांश मूर्तियों का निर्माण लाल चकत्तेदार पत्थर से किया गया है जो सीकरी एंव रूपवास से प्राप्त होता था।
- मूर्तियां गोलाई में निर्मित है।
- दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और बांया हाथ प्रायः (बन्द मुट्ठी युक्त) जंघा पर अथवा धोती के मोड़ों को छूता हुआ अंकित है।
- वक्ष स्थल पौरूषेय होने के बावजूद स्पष्टतः उभारयुक्त है तथा कंधे चौड़े है।
- प्रतिमाओं में दाहिना कंधा खुला अथवा वस्त्र रहित अंकित है।
- आसन हमेशा सिंहासन है कमलासन नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

* खड़ी प्रतिमाओं में पैरो के मध्य सिंह अंकित है।
* साधारण आभामण्डल का अंकन मिलता है।

मूर्तिकला के साथ–साथ शक कुषाणकाल में मथुरा में बहुत से बौद्ध स्तूप ओर विहार भी थे जिनमें अंकित लेख के अनुसार इन विहारों में बौद्ध धर्म के चार सम्प्रदाय– सर्वास्तिवादी, महासंधिक, सम्मितीय और धर्मगुप्तक, के भिक्षु निवास करते थे। इन विहारों में महत्वपूर्ण थे– यमुना का गुहा विहार, हुविष्क विहार, हारूष विहार सिरी विहार, चेतिय विहार, खण्ड विहार, मिहिर विहार, ककाटिका विहार, प्रावारिक विहार, यशः विहार आदि।

19.6 मथुरा में जैन धर्म

मथुरा जैन धर्म का भी प्राचीन केन्द्र था। ब्राह्मणों और बौद्धों के समान जैनो ने यहां अपने धर्म और कला के केन्द्र स्थापित किये। मथुरा से जैन वास्तु एंव मूर्तिकला दोनों के उदाहरण मिले है। कंकाली टीले से उत्खनन में दो स्तूप ओर सहस्त्रों प्रतिमाओं के अवशेष मिले थे। यहां से स्तूप के उत्खनन में अर्हत नद्यावर्त की एक मूर्ति मिली थी। मूल स्तूप मिट्टी का था जिसे प्रथम ईटों से और तत्पश्चात पत्थर से आच्छादित किया गया। शिलाच्छादन के समय ही द्वार, तोरण, वेदिका स्तम्भ आदि निर्मित हुये।

लेकिन कुषाण काल में जो मूर्ति को प्रधान मानकर कला का नया स्वरूप विकसित हुआ उसके अनुसार जैनों ने एक नया स्तूप जिसमें तीर्थकर की मूर्ति बनाया। इस प्रकार दूसरे जैन स्तूप से अनेक जैन मूर्तियों के उदाहरण मिलते है। इसके अलावा इस स्तूप मे अनेक कुषाण संवत लिखे लेख भी है।

इनके अलावा मथुरा से आयाग पट्ट भी मिले है। ये आयाग पट्ट पूजा–शिलाएं थी यद्यपि इनकी परम्परा पहले से चली आ रही थी लेकिन जैनों ने अपने नये स्तूप में इनकी बहुत सुन्दर रूप से स्थापना की। ये आयाग पट्ट प्रतीक पूजा एवं मूर्ति पूजा दोनों के लिये थे। प्रतीकों की दृष्टि से स्वस्तिक पट्ट, चक्र पट्ट और चैत्य पट्ट या स्तूप पट्ट बहुत महत्व के है।

सम्भवतः पृथ्वी पूजन के निमित्त इनका निर्माण होता था। कला की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण तीर्थकर युक्त आयागपट्ट लखनऊ संग्रहालय में है। इसी प्रकार मथुरा संग्रहालय में रखा चैत्यपट्ट भी महत्वपूर्ण है।

द्वितीय स्तूप से तीर्थंकरों की अनेक मुद्राओं में मूर्तियां भी प्राप्त हुई है। यहां की लांछन रहित नग्न मूर्तियां कायोत्सर्ग पदमासन, सर्वतोभद्रिका खड़ी तथा सर्वतोभद्रिका बैठी मुद्राओं में प्राप्त होती है। उक्त तीर्थकरों की मूर्तियों की चौकी पर सामने सिंह और धर्मचक्र अंकित है। आदिनाथ के कन्धों पर खुले हुये केशों की लटे दर्शायी गई है। जैन तीर्थकर प्रतिमाओं के वक्षस्थल पर श्रीवत्स और मस्तक के पीछे आटोपरहित मूर्तियों में प्रभामण्डल पाया जाता है। इनमें कुछ मूर्तियां इस प्रकार है–कुषाण संवत् 80 या 82 के लेख वाली एक मूर्ति, जिसमें वर्धमान की मूर्ति का उल्लेख है लखनऊ संग्रहालय में है। इसकी चौकी पर बीच में चक्र और उसकी पूजा करते भक्त जन है। एक अन्य महावीर की पदमासन में बैठी मूर्ति मथुरा संग्रहालय में है। मूर्ति में मस्तक के पीछे पद्मात पत्र और ऊपर छल्लेदार केश है। इसमें अंगों का विन्यास लचीला है और मुख पर दिव्य छवि है। एक अन्य प्रतिभा जिस पर 'वर्धमान प्रतिमा' लिखा है। कुषाण संवत् 84 में स्थापित की गई। मथुरा संग्रहालय में चौमुखी प्रतिमा है जो मथुरा कला से बनी है।

19.6.1 मथुरा की जैन मूर्तियों के लक्षण

मथुरा से प्राप्त जैन प्रतिमाओं से ज्ञात होता है कि जिन या तीर्थकर प्रतिमा के निर्माण में दो आदर्शो का प्राधान्य था। एक चक्रवती सम्राट और दूसरा योगी का। मथुरा की जैन मूर्तियों में चक्रवती एवं योगी का समन्वय शिल्पी की कुशलता का द्योतक है। मथुरा की जैन मूर्तियों की भी कुछ विशेषता है जैसे–

1. सिंहासन
2. योगी– पदमासन एंव ध्यान मुद्रा
3. महापुरूष लक्षण
4. छायामण्डल या तेजचक्र
5. चामरग्राही
6. चक्रध्वज–चक्रांकितासन
7. यक्ष यक्षी परिचारक
8. अष्टमांगलिक चिन्ह
9. दिव्य पुष्पवृष्टिः
10. नासाग्र दृष्टि
11. श्रीवत्स–लांछन
12. नागफणाटोप–23वें जिन पार्श्वनाथ, 7वें जिन सुपार्श्वनाथ में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13. छत्र

14. पार्श्वचर

15. त्रिरत्न

16. दिगम्बरत्व

17. कायोत्सर्ग मुद्रा

18. स्तूप पूजा

19.7 मथुरा मे ब्राह्मण धर्म

मथुरा बौद्ध एवं जैन धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म का भी महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। मथुरा से प्राप्त शिलालेखों के साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि यहां ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी विभिन्न मूर्तियों का निर्माण किया गया जो इस प्रकार है– नगरी का ध ोसुण्डी वेदिका लेख जिसमें भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा और उनके धार्मिक स्थान नारायण–वाटक का उल्लेख है। उसके चारों ओर एक प्राकार या महावेदिका और बीच में ऊँचे चबूतरे पर पूजाशिला रखी गई थी। भिलसा का गरूड़ स्तम्भ लेख गौतमी–पुत्र नामक भागवत राजा द्वारा गुरूड़ध्वज स्थापना का उल्लेख करता है। यवन दूत हेलियोदोर ने बेसनगर के गरूड़ स्तम्भ लेख में अपने को भागवत कहा है। महाक्षत्रप षोडाश के काल का राजा वसु का मथुरा से प्राप्त सिरदल लेख भगवान वासुदेव के स्थान आदि का उल्लेख करता है। उक्त अभिलेखों से ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी देवताओं की मूर्तियों के प्रचूर मात्रा में निर्माण को समझा जा सकता है। मथुरा से वृष्णि वीरों की मूर्तियां मिली है। इसके अलावा ब्रह्मा, शिव (लिंग रूप में, पुरुष रूप में, अध नारीश्वर तथा शिव पार्वती रूप में) कार्तिकेय, विष्णु, सूर्य, इन्द्र, बलराम, कामदेव, सरस्वती, लक्ष्मी सिंह वाहिनी दुर्गा, महिषमर्दनी दुर्गा, कुबेर, हारीती, सप्तमातृका का उल्लेख किया जा सकता है। कुषाण काल में सात देवताओं को लेकर सप्तमातृकाओं की कल्पना की गई इनमें ब्रह्मा की ब्रह्मणी, विष्णु की वैष्णवी, शिव की माहेश्वरी, इन्द्र की इन्द्राणी, कुमार की कौमारी, वराह की वाराही, नृसिंह की नारसिंही और यम की चामुण्डा। सप्तमातृकाओं का सादे वेश में आयुध और लांछन रहित चित्रण करने वाला एक पट्ट कुषाणयुग से प्राप्त हुआ। कुषाणकाल के बाद 10,12,16 मातृ पूजी जाने लगी।

इस प्रकार मथुरा में ब्राह्मण धर्म की भी अनेक मूर्तियां मिली जिनके निर्माण में मथुरा शिल्पियों ने अपनी अद्‌भुत कला का परिचय दिया। मथुरा से जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण सभी देवी देवताओं की मूर्तियां मिली है। इनके अतिरिक्त नारी प्रतिमाओं में भी मथुरा शिल्पी ने अद्‌भुत कला का परिचय दिया है। इनके अलावा नाग, यक्ष और देवकुल की प्रतिमाएं भी मथुरा कला के अद्वितीय उदाहरण है।

19.8 मथुरा कला का वैशिष्ट्य

मथुरा उत्तरी भारत का महत्वपूर्ण कला केन्द्र रहा है यद्यपि इसकी समृद्धि का मुख्य समय पहली शती ईस्वी से तीसरी शती ईस्वी तक था लेकिन कुषाण काल में शिल्प कर्म और प्रतिमा–निर्माण के लिये मथुरा की ख्याति दूर–दूर तक हो गई थी। मथुरा में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म तीनों के कलावशेष मिले है। मथुरा के शिल्पियों ने भरहुत और सांची के आचार्यों की बारीकी और भीतरी भावों में समन्वय स्थापित कर नई विषय शैली को अपनाया। मथुरा शैली में मूर्तिकला विशेष प्रख्यात हुई। कनिष्क ने अपने शासनकाल के दौरान बड़ी–बड़ी मानवाकृतियां बनाकर मूर्तिकला को एक अलग ही आयाम प्रदान किया। मथुरा कला की निम्नलिखित महत्वपूर्ण विशेषताएं कही जा सकती है–

1. मथुरा कला विशुद्ध भारतीय परम्परानुसार है।
2. मथुरा कला का विषय बुद्ध एंव बोधिसत्व तथा अन्य धार्मिक अभिव्यक्तियों से सम्बन्धित है।
3. इस शैली की कृतियों के निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग हुआ है।
4. मथुरा शैली में विकसित प्रेरणा तथा प्रौढ़ता का पुट दृष्टव्य है।
5. मथुरा शैली की मूर्तियां बाल रहित है।
6. मथुरा शैली में बोद्ध मूर्तियो में दाहिना हाथ अधिकांशतः अभय मुद्रा में अंकित है।
7. इस कला शैली के अन्तर्गत बनाई गई मूर्तियों में नैसर्गिक सौन्दर्य, लोकात्तर तथा आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति है।
8. मूर्तियों में अधिकांशतः सिंहासन का अंकन मिलता है।
9. मथुरा कला शैली में मौलिकता और विविधता स्पष्ट दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त कलाकृतियों में रचना कौशल भी स्पष्ट दिखाई देता है।
10. जैन तीर्थकरों की प्रतिमाओं के वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा मस्तक के पीछे प्रभामण्डल का अंकन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11. मथुरा कला शैली की कारीगरी में सादगी तथा सूक्ष्मत का अद्भुत मिश्रण है। वस्त्र के नीचे का एक–एक अंग प्रत्यक्ष झलकता है।
12. मथुरा की कला में आध्यात्मिकता स्पष्ट दिखाई देती है।
13. अनुपातिक शारीरिक संयोजन भी मथुरा कला की महत्वपूर्ण विशेषता रहीं है।
14. मथुरा कलाकृतियों में सादगी, शालीनता तथा सौन्दर्य का अंकन है।
15. मथुरा की कलाशैली ने आगामी भारतीय कला को प्रेरणा एवं प्रौढ़ता प्रदान की है।
16. मथुरा की कला में नारी प्रतिमाओं के अंकन में आभुषणों और वस्त्रों का प्रयोग बहुत कम किया गया है।
17. नारी सौन्दर्य को उभारने हेतु शिल्पी ने शरीर संरचना की बारीकी का प्रयोग किया।

मथुरा कला शैली की उपरोक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट होता है कि यह कला विशुद्ध भारतीय कला की परम्परानुसार है। बच्चोफर महोदय का कथन है कि "अभिव्यंजना, विचार, अवधारणा तथा कलात्मक कौशल में मथुरा शैली शुद्धतः भारतीय है।

19.9 सारांश

इस प्रकार मथुरा कला को एक उच्च कोटि की कला स्वीकार किया जा सकता है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि "मथुरा शिल्प में अलंकृत विषयों को जब हम देखते है तो उनकी मौलिकता और विविधता की गहरी छाप मन पर पड़ती है और शिल्पियों की प्रतिभा से प्रभावित हुये बिना नहीं रहा जाता। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीय कला का सृजनात्मक गुण अन्य किसी युग में नहीं देखा गया।"

मथुरा कला में बौद्ध, जैन एवं ब्राह्मण तीनों ही धर्मो से सम्बन्धित कलाकृतियों के साक्ष्य मिले है। ब्राह्मण मूर्तिकला का मथुरा में चरम विकास हुआ ब्रह्मा, शिव, विष्णु, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा मातृका आदि अनेक देवी–देवताओं का अंकन मथुरा कला में हुआ वही बौद्ध धर्म में बुद्ध और बोधिसत्व की मानवाकृतियों का निर्माण भी मथुरा की ही देन है। सारनाथ की बुद्ध मूर्ति भारतीय मूर्तिकला की बुद्ध की सबसे प्राचीन प्रतिमा है, भी मथुरा में ही मिली। जैन कला के रूप में तीर्थकरों की मूर्तियां, देवियों की मूर्तियां और आयागपट्ट मथुरा कला के महत्वपूर्ण उदाहरण है। इस प्रकार मथुरा की कला भारतीय कला का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

19.10 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 सबसे प्राचीन जैन मूर्ति एंव स्तूप कहां से प्राप्त हुये है?

(अ) कर्नाटका (ब) मथुरा (स) उज्जैन (द) गांधार

प्रश्न–2 मथुरा में बौद्ध मूर्तियों के लक्षण पर अपने विचार व्यक्त कीजिये (30 शब्द सीमा)

प्रश्न–3 मथुरा कला शैली पर निबन्धात्मक विवेचन कीजिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–20 : जैन कला

संरचना

20.0 प्रस्तावना

20.1 उद्देश्य

20.2 जैन कला का स्वरूप : भूमिका

20.2.1 जैन गुहा वास्तुकला

20.2.2 जैन मन्दिर वास्तुकला

20.2.3 जैन मूर्तिकला

20.2.4 जैन स्तम्भ कला

20.3 जैन कला को प्रश्रय देने वाले प्रमुख शासक

20.4 जैन कला का योगदान

20.4.1 जैन कला वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

20.4.2 आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रेरणा के सन्दर्भ में

20.4.3 सामाजिक पक्षों के चित्रण के सन्दर्भ में

20.4.4 जीवन के विविध पक्षों के चित्रण के सन्दर्भ में

20.5 सारांश

20.6 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

20.0 प्रस्तावना

कला जीवन एवं दर्शन की अभिव्यक्ति है। वह सांस्कृतिक साधना और आध्यात्मिक साधना का जीवन्त क्षेत्र है जो प्रतीकात्मक पद्धति पर अवलम्बित है। कला सौन्दर्य अभिव्यक्ति का दूसरा नाम है। चन्द्रमा की सोलह कलाएं है। आत्मा की अभिव्यक्ति कलाएं है। कला का सम्बन्ध ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म एवं मुस्लिम धर्म आदि सभी से है।

प्राचीन काल से ही विभिन्न राजवंशों एवं शासकों का सानिध्य पाकर कला फली एवं फूली। प्राचीन कालीन कला के विभिन्न रूपों में जैन कला भी महत्त्वपूर्ण है। आज जैन कला के विभिन्न रूपों में स्तूप, गुहा, मन्दिर, स्तम्भ एवं मूर्तियां आदि सुरक्षित है। जैन कला ने अपनी पृथक विशेषताओं को जोड़ते हुये भारतीय कला को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

आज भारत में जैन गुहा वास्तुकला के रूप में पाभोसा की जैन गुहा, उडीसा की उदयगिरि जैन गुहा, एलोरा की जैन गुहा सुरक्षित है वही ऐहोल का मेगुटि मन्दिर, राजस्थान के देलवाड़ा जैन मन्दिर, कुम्भारिया जैन मन्दिर, गिरनार, तारंगा, ग्यासपुर का मालादेवी मन्दिर जैन मन्दिर वास्तुकला के अद्वितीय उदाहरण है। इसी प्रकार दक्षिण में पार्श्वनाथ बसदि, कत्तले बसदि, सवतिगन्धवारण बसदि, एरडुकट्टे बसदि भी प्राचीनकालीन जैन कला के कलात्मक उदाहरण है।

जैन मूर्तिकला के क्षेत्र में विशाल मूर्तियों का निर्माण जैन कला की देन कही जा सकती है। कर्नाटक में श्रवणबेलगोला की विशाल गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा मथुरा की नेमिनाथ प्रतिमा, आदिनाथ प्रतिमा, चन्द्रप्रभु एवं पुष्पदन्त की प्रतिमाएं जैन कला की विभिन्न विशेषताओं को लिये है। इस प्रकार जैन स्तम्भों में मानस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, ब्रह्मदेव स्तम्भ आदि आज भी न केवल सुरक्षित है बल्कि भारतीय कला को समृद्ध किये हुये है। जैन कला के स्मारक मुख्यतः राजस्थान, कर्नाटक, गुजरात, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, आदि प्रान्तों में सुरक्षित है।

20.1 उद्देश्य

जैन कला पाठ का मुख्य उद्देश्य पाठकों को जैन कला से अवगत कराना है। इस पाठ को निम्न बिन्दुओं से समझाया जायेगा –

- जैन कला का स्वरूप

- जैन कला के विभिन्न आयामों – वास्तुकला, गुहाकला, मूर्तिकला, स्तम्भ, मन्दिर, आयाग पट्ट आदि को विस्तारपूर्वक विवेचित किया जायेगा।
- प्रमुख कलात्मक जैन मन्दिर, गुहाओं, मूर्तियों, स्तम्भ आदि का वर्णन किया जायेगा।
- जैन कला का वैशिष्ट्य एवं महत्त्वपूर्ण योगदान को विभिन्न पक्षों के द्वारा समझाया जायेगा।

20.2 जैन कला का स्वरूप : भूमिका

स्थापत्य या वास्तुकला ललित कला का एक भेद है। 'वस्तु' शब्द से वास्तुकला की उत्पत्ति हुई। जहां स्थापत्य का सम्बन्ध आवासीय बनावट या मन्दिर, ईटों से बने किसी गृह से है वहीं वास्तुकला का सम्बन्ध ज्योति   तथा कल्प से है, क्योंकि वास्तुकला के अन्तर्गत किसी भी भवन का निर्माण शुभ–अशुभ, पवित्र–अपवित्र, अच्छा–बुरा आदि को ध्यान में रखकर होता है।

प्रागैतिहासिककाल से पूर्व मनुष्य का जीवन घुमन्तु जीवन था वह किसी एक स्थान पर निवास नहीं करता वरन् इधर–उधर ही घूमता रहता था। धीरे–धीरे जैसे – जैसे मनुष्य ने कृषि एवं पशुपालन को अपनाया और जीविका का मुख्य साधन बनाया तो उसी समय अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। अब मनुष्य इन शिलाश्रयों (गुहाओं) को छोड़कर समतल भूमि पर आने लगा और रहने के लिये मकान या आवास की आवश्यकता होने लगी अतः पत्थर, मिट्टी और लकड़ी की सहायता से वह मकान बनाने लगा और यहीं से सही अर्थों में वास्तु या स्थापत्य कला का प्रारम्भ होने लगा। ऋग्वेदिककाल तक आते–आते स्थापत्यकला में धार्मिकता का सम्मिश्रण भी होने लगा। ऋग्वेद प्रथम ग्रन्थ है जिसमें अर्चा–वास्तु (यज्ञशाला, वेदी आदि) तथा लौकिक वास्तु (गृह, पुर आदि का निर्माण) वर्णित है। वास्तुकला में मुख्यतः भवन, मन्दिर, स्तूप, गुहा, चैत्य आदि का वर्णन आता है।

धार्मिक प्रवृत्ति का सूत्रपात तो सैन्धवकाल में हो गया था और आर्यों के आगमन के साथ–साथ देवताओं की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप मन्दिरों की आवश्यकता महसूस होने लगी।

इस प्रकार मन्दिर निमार्ण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। मन्दिर निर्माण में जगमोहन, निजमन्दिर एवं शिखर इन तीन का विशेष महत्त्व था। यहीं तीन मन्दिर वास्तु के अंग भी माने गये है। धीरे–धीरे इन तीन अंगों को आधार बनाकर समय–समय पर कई शैलियों का विकास हुआ और यहीं शैलियां ही मन्दिर स्थापत्य के विकास एंव समृद्धि का आधार हैं।

धीरे–धीरे इन मन्दिरों की स्थापना मानवदेह के समान होने लगी। उनमें यह भावना बलवती होने लगी कि जो परमात्मा मनुष्य के शरीर में अन्तर्हित है सुक्ष्म रूप में विराजमान है उसी इष्टदेव की मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा कर देवालय में रखते है। अतएव मूर्तिकारों ने उस देव की मानवाकृति तैयार की जिसे मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित किया गया। गुहा वास्तु का ज्ञान मानव को पा   ाण–काल में ही हो गया था, तभी वह प्राकृतिक चट्टानों को काट–काट कर शिलाश्रयों का निर्माण करने लगा। जंगली जानवरों से रक्षा के लिये भी वह इन गुहाओं में रहता था। इस प्रकार मानव द्वारा गुहाओं का निर्माण करने का इतिहास पर्याप्त प्राचीन है। धीरे–धीरे इसका क्रमिक विकास होने लगा। अब इनमें सन्यासी या भिक्षु रहने लगे।

मूर्तिकला स्थापत्यकला की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, कलात्मक एवं सुन्दर होती है। इसमें भावों की अभिव्यक्ति, रूपायन तथा कला का प्रमुख स्थान होता है। मूर्तियां मुख्यतः मिट्टी, सोना, चांदी, तांबा, कांसा, पीतल, आदि अष्ट धातु की होती है।

इस प्रकार कला के इन रूपों को अनेक धर्मों ने अपनाते हुए अपनी विशेषताओं के साथ कई कला स्मारकों का निर्माण किया। जैन कला स्मारकों में गुहा, मन्दिर, मूर्तिया, स्तम्भ एवं आयाग पट्ट आदि आज भी भारतीय कला को समृद्ध किए गये। कला के रूपों में स्मारक का भी महत्त्व है, स्मारक के रूप में मुख्यतः स्तम्भों का विशेष स्थान है।

20.2.1 जैन गुहा वास्तुकला– भगवान् महावीर के बाद जैनसंघ का नेतृत्त्व क्रमशः गौतम, सुधर्म और जंबू नामक उनके तीन शिष्यों ने किया। इन तीन गणधरों के समय तक जैनसंघ में किसी प्रकार का मतभेद नहीं था मगर धीरे–धीरे उनके विचारों रहन–सहन आदि को लेकर संघ में विवाद होने लगा और जैन संघ दो भागों दिगम्बर एवं श्वेताम्बर संघ में बट गया। धीरे–धीरे इनकी भी कई प्रशाखाऐ होने लगी।

जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं के लिये गुहाएँ बनवाई इसी प्रकार सम्प्रति ने कई जैन गुहाओं का निर्माण करवाया मौर्य के पश्चात् कलिंग पर चेदिवंशीय राजाओं ने राज किया इस वंश का तीसरा शासक खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। उसने उदयगिरि (उड़ीसा) में हाथीगुम्फा अभिलेख खुदवाया यह लेख जैन धर्म से सम्बन्धित है। भुवनेश्वर के उदयगिरि एवं खण्डगिरि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नामक दो पहाड़ियों में खारवेल के समय की कुल तैतीस जैन गुहाएँ है इनमें 18 उदयगिरि में तथा 15 खण्डगिरि में है। इतनी लम्बी जैन गुहाओं की श्रृंखला भारत में अन्यत्र कही भी नहीं है। पालवंश के समय निर्मित जैन गुहाएँ विन्ध्य पर्वत श्रृंखला के दक्षिण में स्थित है। राष्ट्रकूटवंश के समय में दक्कन में एलोरा की गुहा प्रमुख है।

दक्षिण की तीन शक्तियों – चालुक्य, पल्लव, पाण्डय में चालुक्य शासकों ने भी जैन धर्म को प्रश्रय दिया। ऐहोल तथा बादामी (वातापी) में एक–एक जैन गुहा चालुक्यकालीन है जिसका समय सातवीं सदी ईसवी माना गया है। गंगवंश के समय श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) जैन धर्म एवं कला का प्रमुख केन्द्र था। मैसूर के निकट दो जैन गुहाएँ इसी काल की है।

गुहा का निर्माण शैलकृत एवं चिनाई से होता था। शैलकृत तो वह होती थी जो किसी पर्वत को काटकर, खोदकर बनाई जाती थी लेकिन चिनाई से बनी वह गुहा होती थी जो कि समतल मैदान में ईटों, पत्थरों तथा चूने आदि से निर्मित की जाती थी यद्यपि इनकी बनावट में कोई ज्यादा भेद नहीं होता था।

मूर्तिकला के विकास के साथ–साथ इन गुहाओं में विभिन्न तीर्थकरों की प्रतिमा का अंकन किया जाने लगा। इनमें सबसे प्रमुख एलोरा की गुहा में बाहुबली प्रतिमा प्रमुख है।

* **भद्रबाहु की गुहा :** यह गुहा कर्नाटक के मैसूर जिले में श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर है। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने यहाँ अपना शरीर त्यागा था। यहीं पर उनकी चरणपादुकायें है। इसी गुहा में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने अन्तिम समय में अपने आचार्य भद्रबाहु की सेवा की थी।

* **राजगृह या राजगिरी की जैन गुहाएँ :** आधुनिक बिहार राज्य के पटना के निकट राजगिरि नामक स्थान पर दो जैन गुहाएँ खण्डित अवस्था में प्राप्त हुई है। गुहाओं में खिड़की का कटाव सर्वप्रथम यही मिलता है।[1]

* **पामोसा की जैन गुहा :** यह गुहा शुंगकाल में निर्मित है। इसका द्वार बहुत छोटा है जिसके कारण इसमें लेटकर जाना पड़ता है।

* **उदयगिरि की गुहाएं :** उडीसा से चार मील उत्तर–पश्चिम में दो पहाड़ियां है जो कि उदयगिरि एवं खण्डगिरि नाम से प्रसिद्ध हैं। ये पहाड़िया बलूआ पत्थर की हैं। इन दोनों पहाड़ियों पर कुल 33 गुहाएं है जिसमें 18 उदयगिरि पहाड़ी पर तथा 15 खण्डगिरि पहाड़ी पर स्थित है। इतनी लम्बी श्रृंखला भारत में अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

उडीसा में भी उदयगिरि में निम्न गुहाएँ हैं – रानीगुहा, पनसगुम्फा, जयाविजया, ठाकुराणीगुहा, अल्कापुरी, बाजारघर, गणेश, पातालपुरी, मंचपुरी और स्वर्गपुरी, जम्बेश्वर, हाथी, सर्प, बघ, धनघर, हरिदास, रसुई, जगन्नाथगुहा। इसी प्रकार खण्डगिरि में निम्न गुहाएँ हैं – अनन्त, तातोवागुहा सख्या–1, तातोवा गुहा सख्या 2, तेन्तुलि, खण्डगिरि, ध्यान, नवमुनि, बारभुजी, त्रिशुल, ललाटेन्दुकेसरी, तथा गुहा 12 से 15 इनमें से गुहा संख्या 10 लगभग नष्ट हो चुकी है।

* मध्यप्रदेश के विदिशा जिले में उदयगिरि की पहाड़ी पर कुल 20 गुहाएँ मिली हैं, इनमें 20 वीं गुहा जैन गुहा है। इसके अलावा एलोरा की इन्द्रसभा, एलोरा की जगन्नाथ सभा आदि भी प्राचीन जैन गुहाएं हैं।

20.2.2 जैन मन्दिर वास्तुकला – प्राचीन भारतीय वास्तुकला में मन्दिरों का विशिष्ट स्थान है। जैन मन्दिर वास्तुकला में कुछ भिन्नता है जैसे – दक्षिण में मन्दिर को बसदि कहा जाता है। भारत में प्राचीनकालीनअनेक जैन मन्दिर सुरक्षित है जो कलात्मक एवं सुन्दर है।

* **चन्द्रगुप्त बसदि :** मैसूर के श्रवणबेलगोला ग्राम में विन्ध्यगिरि एवं चन्द्रगिरि नामक दो पर्वत श्रृंखला में अनेक जैन मन्दिरों के साक्ष्य मिले हैं। इनमें चन्द्रगुप्त बसदि भी मौर्यकालीन जैन मन्दिर है।

* **चन्द्रप्रभु बसदि :** आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभु भगवान् की 3 फुट ऊँची पद्मासनावस्था से सुशोभित इस मन्दिर की लम्बाई और चौड़ाई 42X25 फुट है। इसमें सुखनासी, गर्भगृह, नवरंग तथा एक ड्योडी ळै। सुखनासी में उक्त तीर्थकर के यक्ष एवं यक्षिणी श्याम एंव ज्वालामालिनी विराजमान है।

मन्दिर के सामने एक चट्टान पर ''शिवमारन बसदि'' ऐसा लेख है। इस लेख की लिपि से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उसमें गंगनरेश शिवमार द्वितीय (श्रीपुरुष के पुत्र) का उल्लेख है।[1]

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

✱ **चामुण्डराय बसदि** : यह बसदि सुन्दर बनावट के कारण प्रसिद्ध है। इसकी विशाल आकृति 59X36 फुट की हैं। यह दो खण्डों (मंजिल) में निर्मित है, जिस पर एक गुम्मट भी हैं नेमिनाथ भगवान् के साथ यक्ष–यक्षिणी का अंकन अत्यन्त सुन्दर है। यह शिल्पकला का अनुठा उदारहण हैं।

बाहरी दरवाजें के दोनों ओर बाजुओं के नीचे ''श्री चामुण्डराय माडिसिंद'' ऐसा लेख है, जिससे पता चलता है कि यह बसदि स्वयं चामुण्डराय ने बनवायी।

ऊपरी मंजिल में भगवान् पार्श्वनाथ की तीन में से एक प्रतिमा के सिंहासन पर लेख सं. 150 में चामुण्डराय के पुत्र जिनदेव ने बेलगोल में जिनमन्दिर का निर्माण कराया का उल्लेख मिलता है। मंत्री प्रवर चामुण्डराय ने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से भी शिक्षा प्राप्त की थी। कहा भी जाता है आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इसी मन्दिर में बैठकर जैन सिद्धांत के महान् ग्रंथ ''गोम्मटसार'' की रचना की थी।

✱ **तेरिन बसदि** : श्रवणबेलगोला के दोनों पर्वतों पर होत्यसलकालीन जैन मन्दिर स्थित है जो कला अद्वितीय उदाहरण है।

✱ **भण्डारी बसदि** : श्रवणबेलगोला के मन्दिरों में सब्से बड़ा मन्दिर है। इसके अलावा अक्कन बसदि, जिननाथपुर–शान्तिनाथ बसदि, पार्श्वनाथ बसदि, कत्तले बसदि, शासन बसदि, एरडुकट्टे बसदि सवतिगन्धवारण बसदि आदि महत्त्वपूर्ण जैन मन्दिर है।

✱ **ग्यासपुर का मालादेवी जैन मन्दिर** : प्राचीन विदिशा ही आधुनिक काल में ग्यासपुर नाम से जाना जाता है। ग्यासपुर में प्रतिहारकालीन मालादेवी का मन्दिर है, जो कि कला का अद्वितीय उदाहरण है। कई वर्षों तक तो यह हिन्दू मन्दिर माना जाता रहा लेकिन गर्भगृह एवं भित्ति की जिन, चक्रेश्वरी और अम्बिका मूर्तियों के आधार पर इसका जैन मन्दिर होना निर्विवाद है। इस मन्दिर में मुखमण्डप, गर्भगृह, मण्डप तथा अन्तराल है। इस मन्दिर की रचना शैलोत्कीर्ण तथा निर्मित है।

गर्भगृह की बनावट पांच रथ प्रकार की है और गर्भगृह के ऊपर शिखर जो है वह रेखा शिखर है। शिखर की आकृति त्रिभुजाकार है।

✱ **कुमारिया के जैन मन्दिर** : कुम्भारिया गुजरात के बनासकांठा जिले में स्थित है। आज भी यहां पर चौलुक्य शासकों द्वारा बनवाये गये 5 श्वेताम्बर जैन मन्दिर है। ये मन्दिर भगवान शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ, सम्भवनाथ नेमिनाथ एवं महावीर भगवान के है। इन मन्दिरों में बारीक कलाकारी की हुई हैं। इन मन्दिरों में महाविद्याओं – सरस्वती, महालक्ष्मी एवं शान्तिदेवी का चित्रण सर्वाधिक मात्रा में है।

✱ **शान्तिनाथ श्वेताम्बर जैन मन्दिर** : यह एक चतुर्विंशति जिनालय है जिसमें दोनो ओर पूर्व और पश्चिम में आठ देवकुलिकाये तथा 8 रथिकाये (देवलियां) हैं। यहां की अधिकांश देवकुलिकाओं की जिन मूर्तियों में मुख्य मूलनायक की मूर्ति खण्डित अवस्था में है। इस मन्दिर में मुख्य रूप से मुखमण्डप सभा मण्डप, गूढमण्डप है, जो कि कलात्मक एवं सुन्दर हैं ये मण्डप बाहर और भीतर एक दूसरे से जुड़े हुये है।

✱ **महावीर मन्दिर** : कुम्भारियां का महावीर मन्दिर भी चतुर्विंशति जिनालय है यह भी संगमरमर से बना है। इस मन्दिर में गर्भगृह, गूढमण्डप, त्रिकमण्डप रंगमण्डप तथा देवकुलिकाएं मुख्य है। मन्दिर के अन्दर की कलाकारी देखने लायक है। मन्दिर में मुख्य रूप से 24 देहरियां है। गर्भगृह के आगे या पृष्ठ भाग पर नवचौकी है जिस पर तीन देवलियां है इन में गर्भगृह के पश्चिमी भाग की देहरी में प्रतिमा का अभाव है तथा छत पर तीन कमल एक के ऊपर बढ़ते हुये क्रम में अंकित है।

✱ **पार्श्वनाथ मन्दिर** : कुम्भारियां का पार्श्वनाथ मन्दिर सिद्धराज जयसिंह (1094–1144 ई.) के शासनकाल का है। मन्दिर का मुख उत्तर दिशा में है और यह महावीर मन्दिर के पीछे की ओर बना है। मन्दिर में मुख्य रूप से गर्भगृह, सभामण्डप, रंगमण्डप, कलात्मक स्तम्भ, तथा देहरियां प्रमुख हैं।

✱ **नेमिनाथ मन्दिर** : यह विशाल चतुर्विंशति जिनालय है। इसका समय बारहवी शतीं हैं। इस मन्दिर में मण्डप गूढमण्डप शिखर, त्रिकमण्डप विशेष उल्लेखनीय है।

✱ **सम्भवनाथ जी का मन्दिर** : इस मन्दिर का निर्माण 13 वीं शती ई में हुआ। यह मन्दिर कुम्भारिया के अन्य मन्दिरों की अपेक्षा साधारण एवं अलंकृत कम है। इस मन्दिर में एक गर्भगृह, पार्श्विक प्रवेशमार्ग युक्त गूढमण्डप और एक सभामण्डप है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

❋ तारंगा – गुजरात का जैन मन्दिर : तारंगा उत्तर गुजरात के मेहसाणा जिले में स्थित है। यहां पर 1165 ई. में कुमारपाल चौलुक्य द्वारा बनवाया गया ''अजितनाथ भगवान'' का विशाल मन्दिर है। आज इस नगर को तारागढ़, तारानगर, तारापुर के नाम से भी जाना जाता है।

❋ गिरनार का जैन मन्दिर : अहमदाबाद से राजकोट होते हुये जूनागढ पडता है। जूनागढ में ही गिरनार पर्वत है जो कि जैन धर्म का प्राचीन और प्रमुख तीर्थ स्थान है। इसी पर्वत पर 22 वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण तीन कल्याणक हुये थे। अतः गिरनार पवित्र तीर्थक्षेत्र कहलाने लगा। यहां पर ही भगवान नेमिनाथ जी का निर्वाण भी हुआ अतः यह निर्वाण क्षेत्र या सिद्धक्षेत्र भी है। तीन कल्याणक, सिद्धक्षेत्र होने के कारण यह तीर्थराज भी है।

❋ देलवाड़ा का जैन मन्दिर : आबू से 1 कि.मी. की दूरी पर दिलवाड़ा ग्राम है जो कि पहाड़ की चोटी पर है। आबू रोड़ से 10 कि.मी. आबू पर्वत की तलहटी है और फिर 19 कि.मी. पहाड़ पर पक्की सड़क पर चलना पड़ता है।

इसी आबू पर्वत पर दिलवाड़ा में विश्वविख्यात जैन मन्दिर है जो कि लूणवसहि (नेमिनाथ मन्दिर) तथा विमलवसहि (आदिनाथ मन्दिर) नाम से प्रसिद्ध है इसके अलावा भी यहां वास्तुपाल तेजपाल की पत्नियों द्वारा बनवाये गये जैन मन्दिर है जिन्हे देवरानी और जैठानी के गोखड़े (मन्दिर) कहते है अपनी कला एवं सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध है। कुमारपाल चौलुक्य द्वारा निर्मित महावीर जिनालय भी है।

❋ ऐहोल का मेगुटि जैन मन्दिर : विंध्याचल से दक्षिणवर्ती भारत के इतिहास में छठी शताब्दी के उत्तरार्ध से ग्यारहवी शती तक कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। मन्दिर–स्थापत्य चित्रकला मूर्तिकला आदि कलाओं का उद्भव और विकास अपने चरमोत्कर्ष पर था। कर्नाटक प्रान्त में मैसूर के बादामी, बीजापुर में यहोआल या ऐहोल तथा पट्टडकल नामक प्राचीन नगरों में चालुक्यकालीन अनेक मन्दिरों के अवशेष मिले हैं जो कला के अद्वितीय उदाहरण है। ऐहोल में लगभग 70 मन्दिरों के अवशेष मिले हैं।

मेगुटी मन्दिर अपनी उत्कृष्टता एवं आधारशिला के पुरालेखीय साक्ष्य की पुष्टि से महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत में लिखे इस लेख में पुलकेशी द्वितीय के शासनकाल में सन् 634 ई. में इस मन्दिर के निर्माण होने का, उल्लेख है। इसकी रचना रविकीर्ति ने की जो कि पुलकेशी द्वितीय का दरबारी था इस अभिलेख में राजा का विजय अभियान तथा रविकीर्ति की तुलना कालिदास एवं भारवि से की है, का उल्लेख है।

20.13.3 जैन मूर्तिकला

जैन कला अवशेषों में अनेक प्राचीन मूर्तियां भी मिली है जो कलात्मकता लिये है। तीर्थंकर अर्थात् राग–द्वेष तथा मोह पर विजय पाने के कारण जिन कहलाते है। जैन धर्म में तीर्थंकरों को सर्वोच्च स्थान एवं देवाधिदेव कहा है। तीर्थंकर जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त होते है।

जिन प्रतिमाओं का विकास काफी प्राचीन हैं। इसके विकास की विभिन्न अवस्थाएँ है जिनमें प्रथम अवस्था में उन्हे आयागपटों पर किसी मांगलिक चिन्ह द्वारा सम्बोधित किया गया है। इन मांगलिक चिन्हों में मंगलघट, स्वस्तिक, श्रीवत्स, चरणपादुका आदि प्रमुख है। दूसरी अवस्था में मंगल प्रतीकों के साथ तीर्थंकर पद्मासनास्थ है। दूसरे चरण में भी प्रतिमा आयागपटों पर ही मिली है।

तीसरे चरण में स्वतन्त्र रूप से प्रतिमाओं का निर्माण होने लगा था। प्रारम्भिक यह मूर्तियां पूर्णत, विवस्त्र होती थी अतः इन्हे पहचानना मुश्किल हो जाता है कि ये श्वेताम्बर जिन प्रतिमा है या दिगम्बर जिन प्रतिमा। जिन प्रतिमा के वक्षस्थल पर श्रीवत्स होता था तथा प्रतिमा के दाये या बायी ओर स्त्री या पुरुष गणधर का अंकन होता था तथा जिनके हाथ में चौरी रहती थी ये प्रतिमाएं दिगम्बर जिन प्रतिमा न होकर श्वेताम्बर प्रतिमा होती क्योकि दिगम्बर सम्प्रदाय में किसी भी ऐसे स्त्री को एवं पुरुष को प्रवेश नहीं दिया गया। कुषाणकाल तक की तो प्रतिमा का भेद करना मुश्किल था लेकिन अब लांछन से प्रतिमा की पहचान होने लगी जैसे –आदिनाथ का लांछन वृषभ, महावीर का लांछन सिंह आदि होने लगा। ये लांछन, आधार स्तम्भ, जिसके ऊपर जिन प्रतिमा बनाई जाती भी, के ठीक मध्य में बनाया जाता था।

जिन प्रतिमा के विकास के अगले चरण में मूल प्रतिमा के साथ यक्ष–यक्षिणी, सेवक–सेविका का अंकन होने लगा। इन प्रतिमा में दाहिनी ओर यक्ष तथा बाई ओर यक्षिणी का अंकन होने लगा। प्रत्येक तीर्थंकर (24) की यक्ष एवं यक्षिणिया भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भिन्न–भिन्न है जैसे – 24 वे तीर्थंकर महावीर का यक्ष मातंग एवं यक्षिणी सिद्धायिका है। गुप्तकाल तक इन यक्ष यक्षिणियों का विकास काफी हो चुका था। इन यक्ष यक्षिणियों के हाथों में फल, फूल, अस्त्र–शस्त्र आदि का अंकन भी प्रारम्भ हो गया।

अगले चरण में इन प्रतिमाओं को जटिलता प्रदान करने के लिये इनके चारों ओर अष्ट प्रातिहार्य बनाये जाने लगे जैसे – कैवल्य वृक्ष, नन्दीवर, चामर आसन आदि।

इस प्रकार प्रतिमा अपने प्रारम्भिक प्रतीक स्वरूप से प्रारम्भ होकर अन्त में स्वतन्त्र प्रतिमा के रूप में बनाई जाने लगी। जहां प्रारम्भिक प्रतिमाओं में कला एवं सुन्दरता का अभाव मिलता है वहीं धीरे–धीरे उसमें कला के विभिन्न आयाम देखने को मिलते है।

पाटलिपुत्र के (पटना) उपनगर लोहानीपुर से एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसका मस्तक एवं हाथ तथा जंघा तक के पैर खण्डित है। यह मूर्ति बलुआ पत्थर से निर्मित है। प्रतिमा का तंग वक्षस्थल जैन तीर्थंकरों के तपस्या–रत शरीर का नमूना है। इस प्रतिमा का शीर्ष भाग धड़ के अनुपात में बड़ा है। यह प्रतिमा कई शताब्दियों तक धरती के गर्भ में रहने के बावजूद चमकदार है। इसकी पॉलिश से यह मौर्यकालीन प्रतीत होती है।

इसी प्रकार की एक अन्य प्रतिमा बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम में है। यह पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है। इस प्रतिमा का दांया हाथ और शीष के ऊपर फणावली का भाग खण्डित है। यह प्रतिमा कांसे से बनी है। प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है और उसका दाहिना हाथ व नागफण खण्डित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड़ पृष्ठ भाग में पैरों से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते है।

कुषाणकाल में आयागपट्टों के मध्य में तीर्थंकर प्रतिमाओं को निर्मित किया गया। ये प्रतिमाए दो रूप में मिली हैं–

1. **एकाकी प्रतिमा :** वे प्रतिमा जो कि अकेली प्राप्त हुई है अर्थात केवल तीर्थंकर की।
2. **सर्वतोभद्रिका प्रतिमा :** जो प्रतिमा चारों दिशाओं में शुभ हो। इस प्रकार की प्रतिमा के चार कोणों पर चार 'जिन' उत्कीर्ण किये जाते है।[1]

कुषाणकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं के कई साक्ष्य मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।

✱ **आदिनाथ–ऋषभनाथ की प्रतिमा :** कुषाणकाल की ऋषभनाथ की एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में है जो कि महाराजा वासुदेव के समय की सम्वत्सर चौरासी की है।[2]

✱ **तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा :** एक अन्य प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है जिसे विभिन्न इतिहासकारों ने बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जी की बताई है। इस प्रतिमा के दोनों ओर बलराम तथा वासुदेव की मूर्तियों का अंकन हैं। प्रतिमा में मुख्य मूर्ति के एक ओर हल जो कि ऊपर की ओर दाहिने हाथ में है तथा दूसरी ओर शंख चक्र लिये हुये वासुदेव का अंकन है।

✱ **सरस्वती प्रतिमा :** मथुरा के कंकाली टीले से एक प्रतिमा की प्राप्ति हुई। जो अभी लखनऊ संग्रहालय में है यह प्रतिमा एक फुट साढे नौ इंच ऊंची है। यह चौकोर आसन पर विद्यमान है। इसके बाये हाथ में एक पुस्तक है तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है मगर खण्डित है। साड़ी के जैसा वस्त्र कन्धों पर आच्छादित है। दोनों हाथ में चूड़ी पहनी है तथा एक हाथ में जपमाला भी है। पार्श्व में उपासक है जिनके केश सुन्दरता से संवारे गये है एक के हाथ जोड़े हुये तथा एक के हाथ में कलश है इस मूर्ति के पादपीठ पर एक लेख है जिसकी लिपि के अनुसार यह कुषाणवंशीय हुविष्क के काल का है।

✱ **नेमिनाथ प्रतिमा :** राजगिर (राजगृह) के वैभार पर्वत पर ध्वस्त मन्दिर की दीवार में जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। काले पत्थर से निर्मित इस प्रतिमा पर गुप्त लिपि में एक अस्पष्ट अभिलेख पाया गया है। इसमें (महाराजाधिराज) श्री चन्द्रगुप्त–द्वितीय (विक्रमादित्य) के नाम का उल्लेख है।

✱ **चन्द्रप्रभु एवं पुष्पदत्त की प्रतिमा :** मध्यप्रदेश के विदिशा जिले में दुर्जनपुर नामक ग्राम से तीन प्रतिमाऐं प्राप्त हुई है जिनपर लेख अंकित हैं। एक चन्द्रप्रभु तथा दूसरी पुष्पदत्त की प्रतिमा पंखधारी बैठे हुये सिंहों का अंकन हैं।

✱ **गुल्लिकायिजी :** यह मूर्ति भक्तराज गुल्लिकायि की हें इसे चामुण्डराय ने स्थापित करवाया था। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग में तो यक्ष ब्रह्मदेव बैठे हैं, जिनकी बहुत ही चमकदार आँखें हैं।

✱ **गंगवंशीय जैन मूर्तिकला :** कर्नाटक में मैसूर के हासन शहर से 32 किमी. दूर श्रवणबेलगोल नामक एक ग्राम हैं यह ग्राम दो पहाड़ी से घिरा है चन्द्रगिरि एवं विन्ध्यगिरि। इन में से विन्ध्यगिरि पर भारत की अति विशाल मनुष्याकृति मूर्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विराजमान है, जो कि पर्वत पर एक बड़ी चट्टान को काटकर बनाई गई है। मूर्ति इतनी विशाल है कि श्रवणबेलगोला का कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जहां से मूर्ति को एक साथ एकरूप में देख सके। जिस किसी भी स्थान से मूर्ति को देखते है मूर्ति का कोई एक अंग ही देखने को मिलता है जैसे – मुख, बाँह, पैर इत्यादि। यह प्रतिमा 57 फुट ऊंची है।

✱ **चौलुक्यवंशीय जैन मूर्तिकला :** भारतीय कला में चौलुक्यकालीन मूर्तिकला का विशेष महत्त्व है इस काल में कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। जैन संरक्षण में कला और स्थापत्य की कुछ सर्वोत्कृष्ट एवं अनुपम कृतियों के निर्माण के लिये चौलुक्य राजा प्रसिद्ध हैं। इस काल में कला के मुख्य उदाहरणों में आबू, कुम्भारियां, तारंगा के मन्दिर विशेष महत्त्व रखते हैं।

चौलुक्यकालीन मूर्तिकला विशेष रूप से आबू एवं कुम्भारिया के मन्दिर में देखने को मिलती है। इन मन्दिरों में यक्ष यक्षिणियों, विद्यादेवियों का अंकन बहुत सुन्दरता से किया गया है।

20.13.4 जैन स्तम्भ कला

स्तम्भ, मानस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, ब्रह्मदेव स्तम्भ आदि सभी स्थापत्य कला के द्वितीय अंग माने जाते है। स्तम्भ मन्दिर का आधार होता है। जिस पर मन्दिर खड़ा होता है स्तम्भ मन्दिर का सम्पूर्ण अंग होता है लेकिन उसका अपना एक महत्त्व होता है। ये स्तम्भ मन्दिर के आधार के रूप में तथा स्वतंत्र रूप में स्थापित होते है।

मन्दिर में आधार प्रदान करने वाले स्तम्भ तो सभी मन्दिरों में होते हैं फर्क इतना है कही ये स्तम्भ एकदम साधारण है तो कहीं पर बारीक कटाव एवं विभिन्न प्रकार के कलात्मक अलंकरणों से सज्जित है। कहीं स्तम्भ पतले तो कही मोटे हैं इस प्रकार के कलात्मक स्तम्भों में एलोरा, बादामी, आबू, गिरनार के स्तम्भ विशेष है। ये स्तम्भ न केवल मन्दिर को आधार प्रदान किये हुये है बल्कि उनकी कलाकारी भी विशेष देखने योग्य है। कुम्भारिया तथा आबू के जैन मन्दिरों के स्तम्भ एक समानता लिये हुये है इन स्तम्भों के तीन भाग है जिनमें सबसे नीचे का भाग जो कि वर्गाकार या वृताकार होता है, इस पर आकृतिया बनी हुई हैं। मध्य का भाग थोड़ा पतला है, इस पर कुछ मानव आकृतियां, बेल, बूटे, लता आदि का अंकन किया हैं तथा स्तम्भ का शीर्ष भाग जिस पर गौमुख, देव आकृतिया, वाद्ययन्त्र, फूल, नाग तथा कीर्तिमुख अंकन हैं। इसी प्रकार एलोरा के मन्दिर के स्तम्भ ठोस, जंगी, मोटे है। यह दूर से देखने में ही बहुत ठोस महसूस होते है।

इन स्तम्भों के अलावा वे स्तम्भ होते है जो स्वतन्त्र रूप से स्थापित है जैसे मानस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, ब्रह्मदेवस्तम्भ आदि। यह स्तम्भ मन्दिर से स्वतन्त्र, उसके पास या उसके सामने स्थापित होते है। इस प्रकार के स्तम्भ मुख्यतः वेणूर, भंडकल, कार्कल, मूडबिद्री आदि स्थानों के जैन मन्दिर में सुरक्षित है। ये स्तम्भ कला एवं वास्तुकला दोनों दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते है।

मानस्तम्भ एक उत्तुंग स्तम्भ होता है, उसके शीर्ष पर एक लघु मण्डप होता है, जिसमें स्थापित एक चौमुख पर चारों ओर एक–एक तीर्थंकर मूर्ति उत्कीर्ण होती है। ब्रह्मदेव स्तम्भों के उक्त मण्डप सदृश शीर्ष भाग पर ब्रह्मदेव की मूर्ति होती है। ये स्तम्भ भारत में मुख्यतः दक्षिण के जैन मन्दिरों में स्थापित हैं।

✱ **कहौम स्तम्भ लेख :** यह लेख गोरखपुर जिले के देओरिया अथवा देवरिया तहसील में सलमपुर मझौली परगना के मुख्य नगर सलमपुर–मझौली से पश्चिम–दक्षिण के लगभग पांच मील की दूरी पर स्थित है। यह वह स्तम्भ है जिस पर स्कन्दगुप्त का लेख अंकित है।

इस स्तम्भ पर पांच तीर्थंकर की प्रतिमाएं अंकित हैं ये प्रतिमाएं नग्नावस्था में हैं। इनमें से चार एक साथ है लेकिन एक चौकोर निचले भाग के पश्चिमी मुख पर बने हुये आले में स्थापित है।

✱ **कूग्रे ब्रह्मदेव स्तम्भ :** चन्द्रगिरि घेरे के दक्षिणी द्वार पर यह स्तम्भ प्रतिष्ठित है जिसके शीर्ष पर पूर्वमुखी ब्रह्मदेव की प्रतिमा है, स्तम्भ की आठ पीठिका में आठ हाथी अंकित है जिनमें से कुछ ही शेष बचे हुये है। इस स्तम्भ के चारों ओर एक लेख है, जिसमें गंगराज मारसिंह के प्रताप का वर्णन हे।

✱ **त्यागद ब्रह्म स्तम्भ :** इसका दूसरा नाम चागद कंब भी है। इसी स्थान पर खड़े होकर चामुण्डराय ने दान दिया था और अपने उपकारियों का उपकार स्वीकार किया था। यह स्तम्भ तीन–चार वष पहले इस तरह अधर में लटका था कि हर कोई अपना रूमाल उसके नीचे से निकाल सकता था।

इसी प्रकार का चेत्रण्ण बसदी पर एक ओर मानस्तम्भ है जो कि मन्दिर के सामने बना है लेकिन इसके निर्माण कर्त्ता का पत्ता नहीं चला है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

✱ **चामुण्डराय की शिला** : चन्द्रगिरि के नीचे जो चट्टान है, जिसपर खड़े होकर चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि पर बाण चलाया तब गोम्मटेश्वर भगवान् की विशाल प्रतिमा प्रकट हुई थी वही चामुण्डराय शिला कहलाती है। इस शिला पर अनेक आचार्यों के चित्र अंकित है।

✱ **पार्श्वनाथ बसदि के सम्मुख का मानस्तम्भ** : चन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथ बसदि के सामने एक मानस्तम्भ स्थापित है। यह स्तम्भ अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल है। इस स्तम्भ के सबसे नीचे के भाग पर चारों ओर यक्ष–यक्षिणियों का अंकन हैं जिसमे चार हाथों का अंकन है। नीचे का भाग चोकोर है वही मध्य का भाग गोल है जिन पर लम्बी रेखाऐ बनी है छः गोलो के मध्य में पांच कलात्मक जोड़ है जिस पर बेल का अंकन है।

✱ **भण्डारी बसदि के सम्मुख का मानस्तम्भ** : भण्डरी बसदि के सामने भी एक मानस्तम्भ है जो कि पाषाण निर्मित है। यह मानस्तम्भ गोल है। सबसे नीचे तथा मध्य का भाग गोल है शीष भाग दो गोलार्ध के ऊपर एक चौकोर चोकी तथा उस पर छोटा सा मन्दिरनुमा शिखर है। यद्यपि यह स्तम्भ साधारण है लेकिन शिखर कलात्मक है। मन्दिर का निर्माण शक सं. 1081 में होय्यसल नरेश नरसिंह प्रथम के भण्डारी हुल्लने की। ये स्तम्भ विभिन्न मन्दिरों के सम्मुख स्वतन्त्र रूप से सुरक्षित स्थापित है। ये स्तम्भ जैन कला के अभिन्न अंग हैं।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – जैन मूर्तिकला पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

20.3 जैन कला को प्रश्रय देने वाले प्रमुख शासक

✱ **राजा चेटक** : यह राजा भगवान् महावीर का महान् उपासक था, राजा चेटक जैन श्रावक थे, उन्होंने प्रतिज्ञा ले रखी थी कि वे जैन के सिवाय किसी दूसरे से अपनी कन्याओं का विवाह नहीं करेंगे। इससे प्रतीत होता है कि उक्त सब राजघराने जैन धर्म को मानते थे। उदयन की रानी ने अपने महल में एक चैत्यालय बनवा लिया था और उसमें प्रतिदिन जिन भगवान की पूजा किया करती थी। पहले राजा उदयन तापस धर्मियों का भक्त था पीछे धीरे–धीरे जिन भगवान के ऊपर श्रद्धा करने लगा था।

✱ **राजा श्रेणिक** : भारत के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध मगधाधिपति राजा बिंबसार जैन साहित्य में श्रेणिक के नाम से अति प्रसिद्ध है। यह राजा पहले बुद्ध भगवान का अनुयायी था। चेलना के प्रयत्न से राजा श्रेणिक जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और भगवान महावीर का अनुयायी हो गया।

✱ **मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त** : मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त जैन थे। इनके समय में मगध में 12 वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय ये अपने पुत्र को राज्य सौंपकर अपने धर्मगुरु जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चले गये थे। अति प्राचीन जैन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में लिखा –

'मउडधरेंसु चरिमो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधारा दु प्पव्वज्जं णेव गेण्हंति।। 1481।।

'मुकुटधारी राजाओं में अन्तिम चन्द्रगुप्त ने जिणदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् किसी मुकुटधारी राजा ने जिन दीक्षा नहीं ली।'

✱ **सम्राट सम्प्रति** : सम्प्रति मौर्य सम्राट अशोक का पौत्र था। इससे जैनाचार्य सुहस्ती ने उज्जैन में जैन धर्मकी दीक्षा दी थी। उसके बाद सम्प्रति ने जैन धर्म के लिये वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया। उत्तर पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचारक भेजे और वहां जैन साधुओं के लिये अनेक विहार स्थापित किये।

✱ **कलिंग चक्रवर्ती खारवेल** : कलिंग चक्रवर्ती महाराजा खारवेल को उस युग की राजनीति में सबसे अधिक महत्त्व का व्यक्ति माना जाता हैं इनके हाथी गुम्फा में पाये गये शिलालेख का उल्लेख पहले किया गया है। उस लेख के अनुसार खारवेल जैन था। यह ड़ीसा (कलिंग) का शासक था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

20.4 जैन कला का योगदान

भारतीय कला में जैन धर्म की कला के विशेष अवदानात्मक योगदान से भारतीय कला विश्व की कला में महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकी है। जैन कला ने भारतीय कला को समृद्ध किया है।

जैन गुहाओं में एलोरा, अजन्ता की जैन गुहाएं महत्त्वपूर्ण हैं वहीं चेदिवंश के समय खोदी गई उदयगिरि खण्डगिरि की 33 जैन गुहाएं भारत में सबसे लम्बी गुहा श्रृंखला में आती है इन गुहाओं में एक मंजिली तथा दो मंजिली दोनों प्रकार की हैं जो कला की मूल्यपरक निधि हैं। मालादेवी का जैन मन्दिर (ग्यासपुर), मेगुटि जैन मन्दिर (एहोल), आबू का जैन मन्दिर, कुम्भारिया के जैन मन्दिर, बोधगया का महाबोधि मन्दिर भारतीय कला को जैन धर्म की कला की देन हैं।

20.4.1 जैन कला वर्तमान परिप्रेक्ष्य में– कला भारतीय संस्कृति का एक अविभाज्य अंग रही हैं प्राचीन काल से आधुनिक वैज्ञानिक युग तक कला का महत्त्व निर्विवाद रूप से सत्य है प्राचीन काल से ही कला का सम्बन्ध मनुष्य से रहा है इसका साक्ष्य चित्रकला एवं मूर्तिकला में देखने को मिलता है कला के माध्यम से सत्य, ज्ञान, भक्ति, प्रेम, धर्म, अहिंसा, शान्ति, कल्याण आदि भावनाओं को मूर्त रूप मिलता है इस प्रकार कला को यथार्थ रूप में प्रकट करने का प्रयास मनुष्य ने किया है मनुष्य ने आदि काल से ही कला के पथ का अनुसरण किया है, साथ–साथ उसने अपनी कला का भी विकास किया है जब–जब मनुष्य को राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थिति ने प्रभावित किया है तब–तब कला भी उससे प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकी है परिणामस्वरूप इतिहास मे राजनीति, धर्म, समाज, अर्थ के साथ–साथ कला भी संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है।

कला का धर्म से निकट का सम्बन्ध रहा है, वह न केवल इसलिये कि यह समाज में मनुष्य को सुखद ऐन्द्रिय अनुभूति प्रदान करती है, बल्कि इसलिये भी कि वह उसके सम्मुख उसी की जाति, समुदाय से सम्बन्धित बड़े स्पष्ट रूप में बिम्बों, प्रतीकों, रहस्यों और दंतकथाओं को प्रस्तुत करती है एक बार इस रहस्य को जान लेने के बाद सम्राटों, धार्मिक समुदायों आदि ने बिना समय नष्ट किये इसका उपयोग अपने–अपने सिद्धान्तों, विचारधाराओं, रहस्यों, दंतकथाओं, देवताओं का जनता में प्रचार करने के लिये कला–चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य तथा वास्तुकला को माध्यम बनाना प्रारम्भ कर दिया।

जैन सम्बन्धी कला विशेषतः वास्तुकला के क्षेत्र में सभी प्रमुख कार्य–अधिकाशतः स्थानीय सघो और उनके सामान्य सदस्यो अर्थात् व्यक्तिगत रूप से अथवा संस्था रूप में वैकटों, सौदागरों ने यदा–कदा राजपरिवार और सामन्त वर्ग के स्त्री–पुरुषों ने भी, शुरू किये थे और उन्हें संरक्षण दिया था।

कला के सन्दर्भ में जैन धर्म का भारतीय कला को विशेष अवदान रहा हैं। आयाग पट्ट तथा बड़ी–बड़ी तीर्थंकर मूर्तियां जैन धर्म की देन मानी जाती हैं।

इन कलाकृतियों ने न केवल प्राचीन भारतीय इतिहास को सुरक्षित रखा है बल्कि प्राचीनकालीन भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक आदि कलात्मक रूप, विभिन्न पहलुओं को भी अपने अन्दर सुरक्षित रखा हैं। इन कलाकृतियों में मुख्यतः मूर्तियों, अंकित चित्र, मन्दिर की दीवारों, स्तूप की वेदिका, स्तम्भों पर अंकित लेख में प्राचीन संस्कृति के अवशेष धरोहर के रूप में अंकित हैं जिनसे सम्बन्धित काल की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता हैं। इस तरह ये कलाकृतियां न केवल कलात्मक रूप में वरन् ऐतिहासिक रूप में भी इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं।

20.4.2 आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रेरणा के सन्दर्भ में– कोई भी कला संस्कृति के किसी न किसी तत्त्व से जुड़ी रहती हैं। जैन धर्म की कला जैन धर्म से जुड़ी है। उसके साथ ही यह धर्म के आधारभूत तत्त्वों को अपने में समेटे हुए है धर्म मानव के आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक साधन है।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकरों का विशेष धार्मिक महत्त्व रहा है तत्कालीन जैन समाज एवं आधुनिक जैन समाज में इन्हें पूजनीय माना जाता रहा है। जिस तरह आज इन तीर्थंकरों को पूजा जाता हैं इसका प्रचलन प्राचीनकाल से रहा है। इसका स्पष्ट उदाहरण लूणवसदि के गर्भगृह के रंगमण्डप के वितान पर बनी 72 जिनों की ध्यानस्थ मूर्तियां हैं। जिनसे वर्तमान, भूतकाल एवं भविष्यकाल तीनों जिन समूह का आभास होता है इस तरह जैन परम्परा में यह कल्पना की गई कि वर्तमान, भूत एवं भविष्य में यह जिन प्रतिमा अपने इसी पूजनीय स्वरूप में रहेगी और रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विमलवसहि की देवरियों की छतों पर तीर्थंकर की माता के 14 स्वप्न जहां तीर्थंकर के धरती पर अवतरण को प्रदर्शित करते है, उन्हें देव स्वरूप बताते है वहीं नेमिनाथ की बारात का अंकन से सांसारिक जीवन से वैराग्य की ओर आगमन को दर्शाता हैं। जैन धर्म में पंच महाव्रत का महत्त्व है। इसमें भी अहिंसा महाव्रत विशेष हैं। नेमिनाथ बारात के अंकन में पशु हिंसा का अंकन एवं भगवान् नेमिनाथ का वैराग्य जागना अहिंसा का पाठ पढ़ाता हैं, जिससे मनुष्य को अहिंसा का ज्ञान मिलता हैं।

प्राचीनकालीन इन्ही कलाकृतियों से उस काल की धार्मिक पूजा पद्धति का भी आभास होता हैं मंचपुरी स्वर्गपुरी (उदयगिरि खण्डगिरि, उड़ीसा) जैन गुहा में स्तम्भ वेदिका की भीतरी भित्ति पर पूजा का दृश्य है जिसमें ऊंचे चबूतरे पर कोई मांगलिक वस्तु छत्र से आच्छादित रखी है तथा चबूतरे के चारों तरफ आराधक बने है इस दृश्य से पता चलता है कि जैन परम्परा में भी पहले प्रतीक पूजा प्रचलित थी जिसे छत्र द्वारा आच्छादित किया जाता था।

जैन परम्परा में मूर्तियों की पहचान लांछन या अन्य कोई प्रतीक चिन्ह से की जाती है और वर्तमान में जितनी भी पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा प्राप्त हुई है उसकी पहचान सिर पर बने नागफण से ही हुई हैं।

इस प्रकार जैन कला से जहां एक ओर धर्म का पता चलता है वहीं दूसरी ओर इन कलाकृतियों में आध्यात्मिक एवं दर्शन की गहराई का भी पता चलता है।

श्रवणबेलगोला की गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा में सौम्य मुस्कान, अधखुले नेत्र, बड़े कान, लम्बी भुजाओं आदि के द्वारा दर्शन एवं अध्यात्म को बताने का प्रयास किया हैं भारतीय संस्कृति में बड़े कान, लम्बी भुजाओं वाले के लिये भाग्यशाली एवं योगी तपस्वी होना बताया है। इसका सम्बन्ध इन प्राचीन कला कृतियों में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इस प्रकार इन जैन धर्म की कला कृतियों से जैन धर्म के अस्तित्व का पता चलता है। वही इसमें छुपी गूढ़ बातों, आध्यात्म, भाव, दर्शन से इन धर्मों के सिद्धान्तों, शिक्षाओं, उद्देश्य, नियमों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता हैं।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – जैन कला के प्रश्रय में प्रमुख किन्ही दो राजाओं के योगदान को बताइए ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

20.4.3 सामाजिक पक्षों के चित्रण के सन्दर्भ में :– सामाजिक तत्त्व में समाज, संस्कृति, कला, रहन–सहन, खान–पान, मनोरंजन, आभूषण, परिवार, विवाह, मृत संस्कार, आदि सभी तत्त्वों का समावेश होता हैं, जिसमें व्यक्ति का शारीरिक, बौद्धिक एंव आत्मिक विकास होता है इन्हीं विभिन्न सांसारिक गतिविधियों के कारण और इसी के माध्यम से, सौन्दर्य चेतना कलाकृति के रूप में ठोस, दृश्य और मूर्त रूप धारण कर पाती है जिस वक्त ऐसा होता है, ये सामाजिक कलाकृतियां बन जाती है उन्ही सामाजिक नियम कायदों से बंध जाती है, यही कला एक विशिष्ट समय और स्थान के विशिष्ट जन समुदायों के सामाजिक उद्देश्यों और लक्ष्यों के वहन् और आंकलन का साधन बन जाती हैं। व्यक्ति की वह कला जिसमें तत्सम्बन्धी समाज एवं संस्कृति से सम्बन्धित पक्ष को उस कलाकृति में उजागर किया हो, वह कला सामाजिक पक्ष को बताती है। तारंगा के जैन मन्दिर (चौलुक्यकालीन) में मुख्य मूर्ति के चरणों के दोनों ओर नृत्यमुद्रा में इन्द्राणी व इन्द्र का अंकन है जो कि उस समय के समाज की नृत्यकला को न केवल उजागर करते हैं बल्कि इन्हे देवी–देवता से जोड़ते हुए भी दिखाया गया हैं।

भारतीय संस्कृति में आदर, सम्मान को विशेष महत्त्व दिया जाता है। जहां बड़ो के प्रति सम्मान एवं आदर का भाव मिलता है। वहीं छोटो के प्रति प्रेम भावना। इस प्रकार का चित्रण लूणवसदि के मन्दिर के गर्भगृह के दोनो पार्श्वो में बने गोखड़ों में अंकित प्रतिमाओं में किया है। इन गोखड़ों को देवरानी जेठानी के गोखड़े कहते हैं, दृश्य देखने पर स्पष्ट होता है कि निर्माण कार्य में देवरानी–जेठानी दोनों की भागीदारी बराबर की थी। गोखड़ो में भी एक समान कलाकृतियां अंकित है, लेकिन कलाकार ने संस्कृति को जीवन्त रखने के लिये तथा पदानुसार (जेठानी का पद थोड़ा ऊंचा होता है तथा देवरानी का थोड़ा नीचा) उसकी कलाकरी में कुछ बारीक अन्तर कर दिया यद्यपि देखने से दोनों में काफी समानता दिखाई देती है बारीकी से देखने पर लेकिन एक अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। इस अन्तर से जेठानी का थोड़ा अधिक सम्मान व देवरानी को उसके पदानुसार सम्मान मिलता है, प्रतीत होता है। इस अंकन में सब आकृतियां समान हैं लेकिन देवरानी की गर्दन को थोड़ा नीचे की ओर झुका हुआ तथा जेठानी की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गर्दन को एकदम सीधा दर्शाया गया है इसी प्रकार आधुनिक काल में विवाह प्रथा में जिस प्रकार बारात का प्रचलन चल रहा है उसका सम्बन्ध कहीं न कहीं प्राचीन काल से रहा है जिसका स्पष्ट अंकन विमलवसहि की देहरियों की छतों पर हुये अंकन से स्पष्ट होता है। इस अंकन में तीर्थकर नेमिनाथ की बारात का अंकन सुन्दरता से किया गया हैं

साहित्य में कालिदास का स्थान सर्वोपरी है। इसी तरह चालुक्यकाल में कवि भारवि का उल्लेख मिलता है। इन कवियों के साहित्यिक अवदान से आज भारतीय वाङ्मय सुसमृद्ध है। ऐहोल के मेगुटि मन्दिर से प्राप्त शिलालेख में पुल्केशी द्वितीय के दरबारी कवि रविकीर्ति की तुलना कालिदास एवं भारवि से की है इस तरह के लेख में एक ओर जहां कालिदास एवं भारवि को उच्च्य स्थान पर बिठाया है, वही रविकीर्ति की तुलना इन दोनों कवियों से की है जिसका अर्थ रविकीर्ति की सर्वोच्चता सिद्ध करना है। भारतीय संस्कृति के ब्राह्मण धर्म में श्रीकृष्ण को आदर्श मानकर मनुष्य के लक्ष्य को रखा है। इन कृष्ण की जीवन झांकी का दृश्य विमलवसहि की भ्रमतिका की छत पर अत्यन्त सुन्दरता से किया है।

20.4.4 जीवन के विविध पक्षों के चित्रण के सन्दर्भ में –इस तरह इन जैन कलावशेषों में सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक आदि अनेक पहलुओं का चित्रण अत्यन्त ही सुन्दरता से किया गया है। इसके अलावा भी जीवन के अनेक पक्षों का चित्रण इन कलाकृतियों में देखने को मिलता हैं।

इस प्रकार जैन धर्म की इन कलाकृतियों से प्राचीनकाल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, संस्कृति की विस्तृत जानकारी मिलती हैं और यह न केवल भारतीय कला वरन् विश्व के इतिहास में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इन जैन धर्म की कलाकृतियों से भारतीय कला और अधिक सुसमृद्ध हुई है।

20.5 सारांश

कला का उपयोग शक्तिशाली राजा अपने सामाजिक राजनैतिक विचारों व पूर्वाग्रहों को फैलाने के लिये करने लगे। ऐसे में विभिन्न धर्मों के साथ–साथ जैन धर्म का भी कला के साथ एक अलग सम्बन्ध स्थापित हुआ। कला के माध्यम से सीधे एवं साधारण रूप से वे अपनी भावना का समर्थन कर सकते हैं अतः समय के साथ–साथ जैन धर्म भी कला के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। इसप्रकार पारस्परिक कलाओं जैसे मूर्तिकला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीतकला आदि सभी कला धर्म से जुड़ने लगीं।

इन कलाकृतियों ने न केवल प्राचीन भारतीय इतिहास को सुरक्षित रखा है बल्कि प्राचीनकालीन भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक आदि कलात्मक रूप, विभिन्न पहलुओं को भी अपने अन्दर सुरक्षित रखा हैं। इन कलाकृतियों में मुख्यतः मूर्तियों, अंकित चित्र, मन्दिर की दीवारों, स्तूप की वेदिका, स्तम्भों पर अंकित लेख में प्राचीन संस्कृति के अवशेष धरोहर के रूप में अंकित हैं जिनसे सम्बन्धित काल की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता हैं। इस तरह ये कलाकृतियां न केवल कलात्मक रूप में वरन् ऐतिहासिक रूप में भी इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं।

20.6 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न– 1 कुम्भारिया में कितने जैन मन्दिर है ?

(अ) दो (ब) पांच (स) छह (द) आठ

प्रश्न– 2 जैन गुहा वास्तुकला पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 जैन कला पर निबन्धात्मक वर्णन किजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–21 : गुप्तकालीन मन्दिर

संरचना

21.0 प्रस्तावना

21.1 उद्देश्य

21.2 भूमिका

21.3 गुप्तकालीन मन्दिरों का उद्भव एंव विकास क्रम

21.3.1 प्रारम्भिक अवस्था

21.3.2 मध्य अवस्था

21.3.3 परवर्ती अवस्था

21.4 गुप्तकालीन प्रमुख मन्दिर

21.4.1 सांची का मन्दिर

21.4.2 उदयगिरि का गुहा–मन्दिर

21.4.3 तिगवा का मन्दिर

21.4.4 मुकुन्द दर्रा का मन्दिर

21.4.5 लाड़खान का मन्दिर

21.4.6 नचनाकुठारा का पार्वती मन्दिर

21.4.7 भुमरा का शिव मन्दिर

21.4.8 ऐहोल का मन्दिर

21.4.9 भीतर गांव का मन्दिर

21.4.10 खोह का मन्दिर

21.4.11 शंकरमढ़ का मन्दिर

21.4.12 देवगढ़ का दशावतार मन्दिर

21.5 गुप्तकालीन मन्दिरों की प्रमुख विशेषता

21.6 सारांश

21.7 अभ्यास प्रश्नावली

21.0 प्रस्तावना

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था इस काल में प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। कला के क्षेत्र में भी गुप्तकाल ने भारतीय कला को समृद्ध किया। मन्दिर निर्माण ने गुप्तकाल को विशेष ख्याति दिलाई। आज भी भारत की गुप्तकालीन मन्दिरों के अवशेष मिले है जो मन्दिर वास्तुकला के प्रारम्भिक उदाहरण है। गुप्तकालीन मन्दिर वास्तुकला की पृथक विशेषताएं रही है।

गुप्तकाल मे मन्दिर का निर्माण ऊंचे चबूतरे पर किया जाने लगा यह चबूतरा वर्गाकार होता था। गुप्तकालीन मन्दिरों के गर्भगृह के द्वार पर गंगा यमुना की मूर्तियों का अंकन इसकों गुप्तकालीन बताता है। इस काल में बने मन्दिर तीन अवस्थाओं में मिले और प्रथम अवस्था में मन्दिर साधारण और सपाट छत वाले थे इनमें उदयगिरि, सांची आदि के मन्दिर थे। दूसरी अवस्था में मन्दिरों में गर्भगृह, मण्डप, प्रदक्षिणा पथ का निर्माण किया जाने लगा इनमें नचना कुठारा, ऐहोल आदि का मन्दिर था। विकास के तीसरे चरण में शिखर मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ हुआ यद्यपि यह गुप्तकाल के अन्तिम समय में निर्मित होने लगे मगर अब शिखर निर्माण प्रारम्भ हो गया इस प्रकार के मन्दिरों मे देवगढ़ का दशावतार मन्दिर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार गुप्तकालीन मन्दिर, मन्दिर वास्तुकला के अद्वितीय उदाहरण है इनमें सांची, उदयगिरि, भूमरा, भीतरगांव का मन्दिर, तिगवा, ऐरण, ऐहोल, देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, लाड़खान का मन्दिर आदि महत्वपूर्ण है।

21.1 उद्देश्य

मन्दिर, वास्तुकला एक महत्व पूर्ण अंग है। मन्दिर का सम्बन्ध धर्म से है जहां हमारी आत्मिक भावना का विकास होता है। धार्मिक भावों से जुड़े होने के कारण जब मनुष्य ने देवता की कल्पना की तो उस देवकल्पना को मानवरूप देकर उसकी उपासना भी प्रारम्भ कर दी ऐसे में देवालयों की स्थापना हुई। प्राचीन काल में गुप्तकाल में अनेक मन्दिरों की स्थापना हुई जो प्राचीन ऐतिहासिक धरोहर के कारण तो प्रमुख है ही साथ ही कलात्मक दृष्टि से भी इनका विशेष महत्व है। आज भी गुप्तकालीन अनेक मन्दिर है जो प्राचीन धरोहर को सजोये हुए इस पाठ के द्वारा उन्ही गुप्तकालीन प्राचीन मन्दिरों से पाठकों को अवगत कराना है। इस पाठ में गुप्तकालीन मन्दिरों का वास्तुशिल्प एवं काल की दृष्टि से वैशिष्टय बताया जायेगा तथा वर्तमान समाज एंव भारतीय कला को उसके योगदान को स्पष्ट किया जायेगा। इसके अलावा गुप्तकालीन इन मन्दिरों में लगभग समान विशेषताओं को भी स्पष्ट किया जायेगा। इसके अलावा गुप्तकालीन मन्दिरों को जो आज सुरक्षित अवस्था में है उनको भी सविस्तार समझाया जायेगा।

21.2 भूमिका

गुप्तकाल प्रावीन भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है। तीसरी शती ई. के अन्त में उत्तरी भारत में गुप्तों का उत्कर्ष शुरू हुआ, जिन्होने छठी शती ई. तक शासन किया। गुप्तों के इस दीर्घकालीन शासनकाल में भारतीय कला का अद्भुत विकास हुआ यह भारतीय कला का स्वर्णिम काल था। इस काल में धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, कलात्मक एवं साहित्यिक क्षेत्रों मे अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस काल में मन्दिर वास्तु का उद्भव एंव विकास अपरिमित गति से हुआ। गुप्तकाल में शैव एवं वैष्णव धर्म के अनुयायियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई परिणामस्वरूप एक ओर गुप्तकाल में इन विभिन्न धर्मो में अनेक देव रूपों की सृष्टि हो कर उनकी पूजा की जाने लगी और दूसरी ओर देवमूर्तियों की स्थापना के लिये मन्दिरों का निर्माण किया जाने लगा।

प्राप्त गुप्तकालीन अभिलेखों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि गुप्त काल मे अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। मन्दिर निर्माण में गुप्त सम्राटों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन सम्राटों में कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त, पुरूगुप्त और उसके उत्तराधिकारी आदि थे जिनके अभिलेखों मे मन्दिर निर्माण की पुष्टि होती है। बिलसाड़ से प्राप्त कुमारगुप्त के गुप्तकालीन अभिलेख में ऐसे विष्णु मन्दिर की चर्चा हुई है। इन्दौर के ताम्रलेख से सूर्य मन्दिर की स्थापना का उल्लेख हुआ है। इन्दौर के ताम्रलेख से सूर्य मन्दिर तथा बिहार के स्तम्भ लेख्या (पुरूगुप्त के किसी उत्तराधिकारी का) से स्कन्द एवं मात्रिकाओं के मन्दिर के भौतिक अवशेष नहीं मिले है लेकिन इनमें से किसी भी मन्दिर मे भौतिक के भौतिक अवशेष नहीं मिले है

लेकिन भारत के कई स्थानो से गुप्तकालीन मन्दिरों के अवशेष मिले है जिनमें– उदयगिरि, सांची, शकरमढ़ा, तिगवा, ऐरण, नचनाकुठरा, भूमरा, देवगढ़, भीतरगांव, बिहार एवं परबतिया जैसे महत्वपूर्ण स्थान है।

21.3 गुप्तकालीन मन्दिरों का उद्भव एवं विकास क्रम

गुप्तकालीन मन्दिरों में तकनीकी व निर्माण सम्बन्धी अनेक विशेषताएं है। इन मन्दिरो का प्रारम्भ गर्भगृह के साथ हुआ जिसमें देवमूर्ति की स्थापना की जाती थी। यहां तक पहुंचने के लिये एक दालान होता था जिसमें एक सभाभवन से होकर प्रवेश किया जाता था। सभाभवन का द्वारा ड्योढ़ी में निकलता था। इस सभाभवन के चारों और एक प्राचीरयुक्त प्रांगण होता था जिसमें बाद में और अनेक पूजा स्थलों की स्थापना होने लगी। इस प्रकार गुप्तकालीन मन्दिरों का विकास उनके आरम्भ से ही प्रारम्भ हो गया। शैली एंव वास्तु विकास की दृष्टि से इस युग के मन्दिर वास्तु निर्माण को तीन अवस्थाओं मे विभिक्त किया जा सकता है–

21.3.1 प्रारम्भिक अवस्था – इस अवस्था में मन्दिर साधारण अवस्था में होते थे कलात्मक अभाव इस अवस्था के बने मन्दिरों में देखने को मिलता है। इस अवस्था के मन्दिरों में समतल छतो से आच्छादित गर्भग्रह, गर्भगृह आमुख से लगा छोटा खुला मण्डप, अलंकरणों का अभाव आदि होते थे। इस अवस्था के मन्दिरों में उदयगिरि, सांची, तिगवा एंव एरण आदि के मन्दिर महत्त्वपूर्ण है। इन मन्दिरों के अधिष्ठान में सोपान मार्ग नहीं है।

21.3.2 मध्य अवस्था– अपने प्रारम्भिक अवस्था से इस अवस्था में थोड़ा परिवर्तन एंव विकास दृष्टिपात होता है। इस अवस्था के मन्दिरों में समतल– द्वितल से आच्छादित गर्भगृह, गर्भगृह आमुख से लगा मण्डप और मण्डप से संलग्न प्रदक्षिणा पथ भी मिलता है। इस अवस्था के मन्दिरों में नचना–कुठरा, भुमरा एवं ऐहोल आदि के मन्दिर महत्वपूर्ण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.3.3 परवर्ती अवस्था – यह गुप्तकालीन मन्दिरों के सबसे उत्कर्ष का काल था इस समय मन्दिरों की वास्तु शैली के साथ–साथ उसमें कलात्मक विकास की ओर देखने को मिलता है इस काल के मन्दिरों में शिखर से आच्छादित, गर्भगृह, विकसित मण्डप व प्रदक्षिणा पथ के साथ ही उनमें अन्य कलात्मक विकास मिलते है। इस अवस्था में गर्भगृह के द्वार का अलंकरण भी अपनी अलग महन्ता प्रकट करता है। इस अवस्था मे छत पर शिखर निर्माण तथा देव प्रसाद कई तलों मे निर्मित होने लगा। यह तल लघु कक्ष के रूप में अर्थात् ऊपर घटते हुये रूप में हुआ परिणामस्वरूप शैलीगत शिखर का विकसित रूप इस अवस्था के मन्दिरों में देखने को मिलता है। इस अवस्था के मन्दिरों में देवगढ़ का मन्दिर, पठारी, भीतर गांव, दुर्ग अच्छी मल्लीगुढ़ी आदि के मन्दिरों को रखा जा सकता है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– गुप्तकालीन मन्दिरो के विकास क्रम पर विवेचन कीजिये? (30 शब्द सीमा)

उत्तर– ....

21.4 गुप्तकालीन प्रमुख मन्दिर

मन्दिर स्थापत्य के क्षेत्र मे गुप्तकाल में नवीन प्रेरणा, नवीन पद्धति और नवीन योजना का उन्मुलन हुआ। देवताओं की मानवरूप मे मूर्तियों का निर्माण एवं उन कृत्रिम देवताओं की पूजा और प्रतिष्ठा के लिये 'देवलाय', 'देवगृह' 'देवायतन' अथवा 'मन्दिर' निर्माण की परम्परा प्रारम्भ हुई। गुप्तकाल के मन्दिरों के उदाहरण उनकी निर्माण की परम्परा प्रारम्भ हुई। गुप्तकाल के मन्दिरों के उदाहरण उनकी निर्माण विधि और कलाकृति की विविधताओं के परिचायक है। सादगी, सन्तुलन और उपयोगिता उनकी विशेषताएं है। लगभग सभी गुप्तकाल के मन्दिर साधारण आकार, साधारण लम्बाई चौड़ाई के है। इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तयुगीन हिन्दू मन्दिर–स्थापत्य में बौद्ध स्थापत्य विशेषरूप से स्तूप और चैत्य गृह की परम्पराओं का प्रभाव पड़ा था। स्थापत्य तथा ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से कुछ मन्दिर महत्वपूर्ण है जो इस प्रकार है–

21.4.1 सांची का मन्दिर– यह प्रारम्भिक गुप्तकालीन मन्दिरों का आदर्श उदाहरण है। चपटी छत वाले वर्गाकार मन्दिरों में सबसे प्रथम मन्दिर है। यह सांची के महास्तूप के दाहिनी ओर स्थित है। यह प्रस्तर खण्ड का बना एक तले का चार स्तम्भों पर आधृत है। देखने मे साधारण मण्डप है। इसमें द्वार मग्डप है स्तम्भों के अतिरिक्त भवन में कही भी अलंकरण नहीं है। भीतर से वर्गाकार 8 फुट चौड़ा है 2इंच और बाहर से 20 फुट लम्बा और पौने तेरह फुट चौड़ा है मण्डप के चार स्तम्भों और भित्ति स्तम्भों में प्रत्येक मे एक दण्ड, धराकार कमल, केवल पट्टी युक्त गर्दन तथा शीर्ष फलक से ऊपर सिंह शीर्षक है। प्रवेश द्वार के तिरछे पाखे (धरन) में सड़ी फूल–पत्ती और गुलाबवत् डिजायन बनी हुई है। इस मन्दिर मे कोई मूर्ति नहीं है। गर्भगृह के प्रवेशद्वार पर ऊपर जट्टपल्लव शीर्ष से युक्त है। जिन पर सिंहाकृतियां बनी हुई है। यह गुप्तकालीन प्राचीन मन्दिरों में है।

21.4.2 उदयगिरि का गुहा मन्दिर – गुप्त मन्दिरों के अवशेषों में सबसे प्राचीन उदयगिरि का गुहा मन्दिर है। इसका वर्गाकार गर्भगृह पहाड़ी के अन्दर काट कर बनाया गया है। गर्भगृह के द्वार के सामने पत्थर की चिनाई और चार स्तम्भों पर आधारित छोटा सा मण्डप बनाया गया है। इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सेनापति वीरसेन ने बनवाया था। इसकी गुफाओं में अनेक देवी देवताओं की मूर्तियां है।

21.4.3 तिगवा का मन्दिर – यह मध्य प्रदेश के तिगवा नामक स्थान पर स्थित है। यह एक ऊँचे टीले पर बना एक सादा मन्दिर है। वर्तमान मन्दिर का गर्भगृह वर्गाकार आठ फुट है। इसके स्तम्भ कई कोनों से युक्त है। इसके स्तम्भों के ऊपर सिंह और कलश की आकृतियां है। गर्भग्रह के द्वार की बाजुओ पर कर्मवाहिनी यमुना और मकरवाहिनी गंगा बनी है। गर्भगृह के समक्ष एक मण्डप है, जिसकी लम्बाई सात फीट है। इस मन्दिर के गर्भगृह के द्वार पर गुप्तकालीन स्थापत्य की विशेषता दृष्टव्य है। इसके मण्डप के स्तम्भ विशिष्ट प्रकार के है ये नीचे से वर्गाकार उसके ऊपर क्रमशः अठपहल, सोलहपहल और गोल हो–होकर कुम्भाकृति ग्रहण करते है। इन स्तम्भों के शीर्ष तीन भागों में विभक्त पीठिका और गवाक्ष रूपों से अंलकृत है।

21.4.4 मुकुन्द दर्रा का मन्दिर – राजस्थान के कोटा में एक पहाड़ी, दर्रे के अन्दर मुकुन्द दर्रा नामक एक छोटा सा मन्दिर है। यह गुप्तकाल के प्रारम्भिक चरणों में निर्मित माना गया है। इसकी छत भी सपाट है इसका मण्डप भी स्तम्भों पर आधृत है। मण्डप से लगभग चार फुट हटकर तीन ओर दो–दो अर्धस्तम्भ है। उन पर शीर्ष, शीर्ष पर सिरदल पर कमल अंकित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चौकोर पत्थर रखे है। मन्दिर के चारों तरफ प्रदक्षिणा पथ है। यह मन्दिर एक ऊँचे आयताकार चबूतरे (44फीट X74 फीट) पर अवस्थित है। जगती के दो ओर सीढ़ियां बनी है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा कि ''जिस दर्रे के भीतर यह मन्दिर वर्तमान में है, उसे मुकुन्द–दर्रा कहा जाता है'' अतत्व यह देवालय मुकुन्द दर्रा के मन्दिर के नाम से विख्यात हुआ। इसे हम प्रारम्भिक गुप्त देवालय का एक अच्छा उदाहरण मान सकते है।

21.4.5 लाड़खान का मन्दिर– यह ऐहोल (महाराष्ट्र के बीजा फर) के समीप लाड़खान नामक स्थान पर विद्यमान है। कुमार स्वामी के अनुसार इसका निर्माण 450ई. के लगभग हुआ था इसकी दीवारों पर प्रस्तर खण्ड लगाये गये है। इसकी छत सपाट है। दीवारों में भी ताख बने है, जिनमें मूर्तियों का अंकन किया गया है। इसके गवाक्षों की बनावट काफी सुन्दर है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– सांची के मन्दिर पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये? (30 शब्द सीमा)

उतर–..

21.4.6 नचनाकुठारा का पार्वती मन्दिर – मध्य प्रदेश अजयगढ़ के निकट नचनाकुठरा में पार्वती मन्दिर का निर्माण गुप्तकालीन माना जाता है। इस मन्दिर की बनावट सादी है। यह मन्दिर 35फुट चौड़े वर्गाकार पादपीठ (चबूतरे) पर बना है। 15 फुट वर्गाकार भवन के भीतर 8–1/2 फुट व्यास का गर्भगृह बना है। चबूतरा सामने की ओर 12फुट बाहर को विस्तृत है जिसमें चढ़ने के लिये सीढ़ियां बनी है मन्दिर के गर्भगृह के चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ बना है। इसकी दीवारों पर विभिन्न आकृतियों का अंकन हुआ है। इसके गर्भगृह के ऊपर, सम्भवत:, दूसरी मंजिल के रूप में एक लघु निर्मित किया गया था।

21.4.7 भूमरा का शिवमन्दिर – मध्य प्रदेश के नागोद क्षेत्र में भूमरा नामक स्थान पर गुप्तकालीन एक शिव मन्दिर है। यद्यपि यह भग्नावस्था में है। इसका केवल चबूतरा और गर्भगृह ही अब सुरक्षित दशा में है। इसके निर्माण में प्रस्तर खण्डों का उपयोग किय गया हैं। इसमें गुप्तकालीन लगभग सभी विशेषताएं है। इसमें एकमुखी शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है इसके गर्भगृह का प्रवेश द्वार और मण्डप अपेक्षाकृत अधिक अंलकृत है। प्रवेश द्वार पर सजावट का काम किया गया है। इसके पार्श्वो पर मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना की आकृतियां अंकित की गई है। मन्दिर में खिड़कियां (गवाक्ष) बनी हुई है। इस मन्दिर में प्रवेश की सीढ़ियों के समीप दोनों कोनो पर मुख्य गर्भगृह की शैली में दो लघु कक्ष बनाये गये है। इसी परम्परा का विकास होकर बाद में पंचायतन मन्दिरों का निर्माण हुआ।

21.4.8 ऐहोल का मन्दिर – महाराष्ट्र के बीजापुर जिले के ऐहोल में गुप्तकालीन एक मन्दिर है। इसकी बनावट अन्य गुप्त मन्दिरों के सादृश्य है। इस मन्दिर के प्रमुख द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियां है और इसकी खिड़कियां नक्कशीदार पत्थर की बनी है।

21.4.9 भीतरगांव का मन्दिर – कानपुर के समीप भीतर गांव में गुप्तकालीन एक विशाल मन्दिर अस्तित्व में आया है। यह मन्दिर ईंटों का बना है, शेष सभी प्रस्तर–शिलाओं द्वारा निर्मित मन्दिर है। इसकी दीवारों का बाहरी अंश मिट्टी पकाये हुये फलकों से बनाया गया है इन फलकों पर तरह–तरह की चित्रकारी व मूर्तियां अंकित की हुई है। इन फलकों पर तरह–तरह की चित्रकारी व मूर्तियां अंकित की हुई है। इस मन्दिर का शिखर प्रभावोत्पादक है। इस मन्दिर की कला में मेहराव (आर्च–डिजाइन) बड़ी ही सफलता के साथ शिल्पियों द्वारा तराशे गये है। इस मन्दिर के उत्कीर्ण भास्कर एंव उच्चित्र हिन्दू पौराणिक दृश्यों से सम्बन्धित है। यह एक ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। इसके तीन ओर की बाहरी दीवारें बीच में आगे की ओर निकली हुई है पूर्व में चबूतरे पर सीढ़ियां और द्वार है द्वार के भीतर मण्डप है और फिर गर्भगृह के ऊपर एक कमरा है। इसकी छत पिरामिड की भांति है। इसकी बाहरी दीवारों में बने आलों (ताखों) में पौराणिक देवी देवताओं की मृण्मूर्तियां रखी हुई है।

21.4.10 खोह का मन्दिर – नागौद रियासत में स्थित इस मन्दिर में एक मुखलिंग शिव की मूर्ति स्थापित है। यह अपने समय का एक भव्य देवालय प्रतीत होता है। इसमें शंभुगणों की भी कुछ मूर्तियां रखी हुई थी जो प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित है।

21.4.11 शंकरमढ़ का मन्दिर – यह मन्दिर जिले में कूड़ा में बना हुआ है– स्थापत्य की दृष्टि से यह तिगवा मन्दिर के समान बना है। यह लघ्य पत्थर से निर्मित शिव मन्दिर है। यह लम्बे पत्थर से निर्मित है जिसमें चूने या गारे का प्रयोग नही किया गया है। इसके द्वार स्तम्भ तीन शाखाओं में विभाजित पूर्णतः अलंकृत है। इसके गर्भगृह के आगे मण्डप नहीं बनाया गया है।

21.4.12 देवगढ़ का दशावतार मन्दिर–यह मन्दिर झांसी जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर स्थित है। विद्वानों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मानना है कि यह सम्भवतः गुप्तकाल के अन्तिम चरणों में बना होगा। यह गुप्तकालीन मन्दिरों में सबसे सुन्दर कलात्मक है। इसमें अनन्तशायी विष्णु की प्रतिमा है। यह मन्दिर ऊँचे चबूतरे पर बना है। इस चबूतरे के चारों ओर मध्य मे सीढ़ियां बनी हुई है। यह मन्दिर लगभग साढ़े पैंतालिस फुट वर्गाकार भूमि के मध्य मे बना है। गर्भगृह बाहर से 18 फुट ओर भीतर से 9–3/4 फुट है। गर्भगृह मोटी दीवारों से निर्मित अलंकृत द्वार से युक्त हैं। गर्भगृह के चारों और छज्जा निकला हुआ था। इस मन्दिर की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता उसका ध्वासोन्मुखी ऊपरी शरीर है जिससे शिखर का प्रारम्भ माना जा सकता है। मन्दिर का ऊपरी हिस्सा अब नष्ट हो गया है। मन्दिर की तीनों ओर की बाहरी दीवारों में गवाक्ष बनाकर गजेन्द्र मोक्ष, नरनारायण और शेषशायी विष्णु की मूर्तियां लगाई गई थी। इसी प्रकार जगति की दीवारों पर चारों ओर कृष्ण लीला और राम कथा के चित्रों से उत्कीर्ण शिलापट्ट लगे हुये थे। इस मन्दिर में विकसित शिखर के दर्शन होते है। इस मन्दिर के गर्भगृह पर तीन मूर्तियों, गवक्षों, कर्ण अण्डकों, आमलक और कलश के योग से शिखर का निर्माण हुआ था। इसके गर्भगृह के चारों दिशाओं मे चार मण्डप है। इसके द्वार को गंगा यमुना की मूर्तियों के साथ ही द्वार रक्षकों की मूर्तियों से अंलकृत किया गया है।

गुप्तकालीन मन्दिर के निर्माण में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। जहां अन्य मन्दिरों की छत सपाट है वहीं इसमें एक शिखर मिलता है। अन्य मन्दिरों की अपेक्षा इसमें चार मण्डप बने है। इसमे पौराणिक कथाओं का निरूपण मूर्तियों के द्वारा किया गया है। इसमें पौराणिक कथाओं का निरूपण मूर्तियों के द्वारा किया गया है। इसमें पौराणिक कथाओं का निरूपण मूर्तियों के द्वारा किया गया है। इसमें पौराणिक कथाओं का निरूपण मूर्तियों के द्वारा किया गया है। इसमें एक स्थान पर गजेन्द्र मोक्ष तथा दूसरे स्थान पर शेषशायी विष्णु का दृश्य प्रदर्शित किया गया है। इसमें रामावतार एंव कृष्णावतार दोनों से सम्बन्धित दृश्य अंकित है। मन्दिर की निर्माण शैली गुप्त वास्तुकला का अन्यतम उदाहरण है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– गुप्तकालीन ईंटों से निर्मित–मन्दिर का वर्णन करिये (30 शब्द सीमा)

उतर–...

21.5 गुप्तकालीन मन्दिरों की प्रमुख विशेषता

उपरोक्त मन्दिरों के अतिरिक्त गुप्तकाल के अन्य अनेक मन्दिर प्रकाश में आ चुके है और भी शोधकार्य चल रहा है। इनमें सतना जिले का अचहेरा (उच्चकल्प) से कुछ दूर पिपरिया, जबलपुर के मढ़ी नामक स्थान का मन्दिर, गढवा, भीतरी आदि स्थानों पर भी गुप्तकालीन मन्दिर होने का संकेत मिलता है। इन गुप्तकालीन मन्दिरों की भी कुछ विशेषता है जो लगभग सभी मन्दिरों में देखने को मिलती है। गुप्तकालीन कला का वैशिष्ट्य इन मन्दिरों मे देखने को मिलती है। गुप्तकालीन कला का वैशिष्ट्य इन मन्दिरों में भी है जो इस प्रकार कहा जा सकता है–

(1) मन्दिरों का निर्माण ऊँची जगति (चबूतरे) पर हुआ है। इस चूबतरे पर चढने के लिये चारों ओर मध्य में सीढिया हैं

(2) प्रारम्भ में मन्दिर की छत चपटी होती थी किन्तु बाद में शिखरो का निर्माण किया जाने लगा।

(3) इन मन्दिरों के भीतरी भाग में सादगी और बाह्मय भाग अंलकृत और सुसज्जित मिलता है।

(4) गर्भगृह के आगे चार स्तम्भों पर आधारित मण्डप का निर्माण होता था।

(5) गर्भगृह का द्वार अंलकृत होता था तथा द्वार स्तम्भ अनेक शाखाओं मे विभाजित होते थे।

(6) गर्भगृह का द्वार के दोनों ओर गंगा और यमुना की मूर्ति उत्कीर्ण की जाती थी। इसके अलावा उड़ते हुये हंसो के जोड़े,शुभ वृक्ष (श्री वृक्ष) स्वस्तिक, कलश (पूर्ण घट), मिथुन, पत्रकली आदि शुभ मांगलिक अंकन भी इनकी विशेषता रहीं है।

(7) प्रारम्भिक मन्दिरों में अलग से प्रदक्षिणा–पथ नहीं होता था, परन्तु इसी युग में गर्भगृह की दोहरी दीवारों के प्रयोग से संधार (ढका हुआ) प्रदक्षिणा पथ बनाया जाने लगा।

(8) मन्दिरों की छत चार अंलकृत स्तम्भों पर टिकी होती थी। स्तम्भों के शीर्ष भाग पर एक एक वर्गाकार पाषाण खण्ड रखा जाता था। प्रत्येक पाषाण खण्ड पर चार–चार सिंह एक दूसरे से पीठ सटाये हुये आगे बैठे दिखाये जाते थे।

(9) मन्दिर के आगे बहुधा दक द्वार मण्डप होता था, जो स्तम्भों पर आधारित रहता था। ये स्तम्भ नीचे से वर्गाकार, मध्य में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अठपहल और घटपल्लवनुमा, गुप्तकालीन स्तम्भों का निश्चित प्रतीक बन चुके थे।

(10) भीतरगांव का मन्दिर और सिरपुर का लक्ष्मण मन्दिर के अलावा अन्य सभी प्रस्तर निर्मित है। वे प्रस्तर निर्मित ब्राह्मण मन्दिरों के सबसे प्राचीन उदाहरण है। ये दोनो ईंटो से निर्मित है।

(11) गुप्त मन्दिरों में लघु कक्ष बनाने की परम्परा ने आगे चलकर पंचायतन शैली को जन्म दिया।

(12) सिंह मुख, पुष्पपत्र, गंगा–यमुना की मूर्तियां, झरोखों आदि अंलकरणों ने गुप्त मन्दिरों के आकर्षण को ओर अधिक बढ़ा दिया।

(13) विकास क्रम मे गर्भगृह के निर्माण मे उसकी दीवारें रथ पद्धति पर बनाई जाने लगी।

21.6 सारांश

इस प्रकार गुप्त मन्दिरों की रचना ने मन्दिर वास्तुकला को अलग और विस्तृत आयाम दिया। इन मन्दिरों की रचना के तीन सौ वर्षो में दो प्रकार का विकास दिखाई देता है एक तरफ तलविन्यास में भूमि पर विस्तार की दृष्टि से इसके अवयवों की संख्या बढ़ती है तो दूसरी तरफ गर्भगृह पर शिखर निर्माण के द्वारा इनकी ऊँचाई और तकनीक में विकास हुआ। इसके अलावा पंचायतन शैली के मन्दिरों में वर्गाकार या आयताकार चबूतरे पर पांच गर्भगृह बनाये जाते थे। गुप्तकाल में शिखर के शैलीगत रूप का जन्म हुआ जिसमें मन्जिलों को रथ–पद्धति पर क्रमशः घटते हुये पीठाओं पर गवाक्ष और अण्डकों के प्रतीको के माध्यम से कोणाकार शिखर का निर्माण हुआ। इसके साथ ही शीर्ष पर आमलक और कलश भी प्रतिष्ठित किये जाने लगे। इस प्रकार शिखर का विकास पर्याप्त अनुभव और निर्माण में तकनीक के विकास के बाद हुआ था। इस प्रकार गुप्तकालीन ये मन्दिर प्राचीन कला को सजोये हुये है।

21.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 गुप्तकालीन किस मन्दिर में प्रथम बार शिखर का प्रयोग हुआ?

(अ)तिगवा मन्दिर (ब) खोह का मन्दिर

(स) देवगढ़ का दशावतार मन्दिर (द) लाड़खान का मन्दिर

प्रश्न–2 गुप्तकालीन देवगढ़ का दशावतार मन्दिर को विस्तार से बताईये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न–3 गुप्तकालीन मन्दिरों का वैशिष्ट्य बताते हुये उनका वर्णन करिये? (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–22 : मुगलकालीन स्थापत्य कला

संरचना

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 भूमिका

22.3 विभिन्न अवस्थाएं

22.4 बाबरकालीन स्थापत्य कला

22.5 हुँमायूकालीन स्थापत्य कला

22.6 अकबरकालीन स्थापत्य कला

22.6.1 हुँमायु का मकबरा

22.6.2 अकबर का मकबरा

22.6.3 आगरे का किला

22.6.4 बुलन्द दरवाजा

22.6.5 दीवान–ए–खास

22.6.6 दीवान–ए– आम

22.6.7 पंचमहल

22.6.8 तुर्की सुल्ताना का महल

22.6.9 जोधा बाई का महल

22.6.10 मरियम उज्जमानी का महल

22.6.11 बीरमल का महल

22.6.12 जामा मस्जिद

22.6.13 सलीम चिश्ती की दरगाह

22.7 जंहागीरकालीन स्थापत्य कला

22.7.1 ऐत्मात्दुदौला का मकबरा

22.8 शाहजहां कालीन स्थापत्यकला

22.8.1 दीवान–ए–आम

22.8.2 मच्छी भवन

22.8.3 दीवान–ए–खास

22.8.4 शीश महल

22.8.5 खास महल

22.8.6 मुसम्मन बुर्ज

22.8.7 नगीना मस्जिद

22.8.8 जामा मस्जिद

22.8.9 ताज महल

22.8.10 शाहजानाबाद नगर की स्थापना

22.9 औरंगजेबकालीन स्थापत्य कला

22.10 शेरशाहकालीन स्थापत्य कला

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

22.11 मुगल स्थापत्यकला की विशेषता

22.12 सारांश

22.13 अभ्यास प्रश्नावली

22.0 प्रस्तावना

मुगलकाल भारतीय इतिहास में अलग स्थान रखता है। मुगलवंश के संस्थापक बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव ही नहीं रखी बल्कि ऐसे सम्राट दिये जिन्होने साम्राज्य विस्तार के साथ–साथ अन्य क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। मुगल शासकों को कला से विशेष अनुराग था अकबर, शाहजहां को जहां स्थापत्यकला से प्रेम था वहीं जहांगीर को चित्रकला से। मुगलकाल में स्थापत्य कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इन मुगलकाल में स्थापत्य कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इन मुगलशासकों ने कला को पूरा प्रश्रय दिया। मुगलकालीन स्थापत्य कला को तीन भागों में–प्रारम्भ से अकबर तक की लाल पत्थर से निर्मित इमारते, शाहजहांकालीन, श्वेत संगमरमर की भव्य इमारते एवं सूरयवंशीय शेरशाह सूरी के काल की इमारतों में विभाजित किया जा सकता है।

मुगलकालीन स्थापत्य कला के उदाहरण मुख्यतः आगरा, फतेहपुर सीकरी, दिल्ली आदि मे मिले है। मुगलकालीन इमारतों में ताजमहल, लाल किला, दिल्ली, आगरा के किले, दिवान–ए–आम, दिवान–ए–खास, खास महल, बीरबल का महल, टोडरमल का महल, सलीम चिश्ती की दरगाह, बुलन्द दरवाजा, पंचमहल, अकबर और हुमायु का मकबरा आदि महत्वपूर्ण है।

22.1 उद्देश्य

मुगलकाल मध्य भारत प्राचीनकालीन भारत का महत्वपूर्ण काल था इस समय मुगल शासकों ने न केवल अपने साम्राज्य का विस्तार किया बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति की। इस पाठ का मुख्य उद्देश्य भारतीय कला को मुगलकाल की देन बताना है। आज विश्व के आश्चर्यों में ताजमहल प्रथम स्थान पर है और इस ताजमहल का निर्माण मुगल सम्राट शाहजहां के समय में हुआ। इस प्रकार प्रस्तुत पाठ को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जायेगा–

- मुगलकाल में कला का विकसित रूप विशेषतः बाबर, हुमायुँ एवं अकबर के समय तक बनी लाल पत्थर की इमारतों के रूप में तत्पश्चात् शाहजहां के समय में बनी श्वेत संगमरमर से निर्मित इमारते।
- महत्त्वपूर्ण इमारतों की वास्तुगत विशेषताएं
- शेरशाह सूरी के समय की महत्वपूर्ण इमारतें
- मुगलकालीन स्थापत्य कला की महत्वपूर्ण विशेषताएं आदि

22.2 भूमिका

मध्यकालीन भारत में मुगल शासकों ने कला के क्षेत्र में विशेष रूचि का प्रदर्शन किया। मुगल काल में ललित कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई प्रायः मुगल शासकों को स्थापत्य कला से अनुराग था। मुगलकाल में आवासनीय इमारतों का निर्माण अधिक संख्या में हुआ। इन इमारतों से मुगल शासकों की स्थापत्य कला के प्रति अभिरूचि का पता चलता है। मुगलकाल सम्पन्नता और विलासिता का युग था। लगभग सभी मुगल शासकों ने कला में अपन योगदान दिया। मुगल स्थापत्य कला में विभिन्न शैलियों का सम्मिश्रण है। मुगल स्थापत्य कला पर फारसी और हिन्दु बौधिक शैलियों का विशेष प्रभाव मुगलकाल में ईरानी और हिन्दू स्थापत्य शैली के समन्वय द्वारा मुगल इतिहासकार हावेल के अनुसार मुगल शैली का उद्‌भव व विकास हुआ है लेकिन हावेल का यह भी मानना है कि विदेशी कला ने भारतीय कला को प्रभावित किया था। ईरानी एंव हिन्दू स्थापत्य शैली के समिश्रण से मुगल कला का उद्‌भव हुआ। मुगल इमारतों को देखने से स्पष्ट होता है कि फारसी शैली का प्रभाव मुगल इमारतों को देखने से स्पष्ट होता है कि फारसी शैली का प्रभाव मुगल इमारतों की सजावट, उच्च कोटि की नक्काशी और सुन्दर बेलबूटों के काम में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, जबकि हिन्दू स्थापत्य शैली इन इमारतों की दृढ़ता और भव्यता से स्पष्ट हैं। बाबर से लेकर अकबर तक ईरानी शैली का प्रभाव कला पर रहा और अकबर के बाद इसमें परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया। मुगलकालीन स्थापत्य कला को भी दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है– प्रथम चरण 1526ई. से लेकर 1605 ई. तक। प्रथम चरण में बाबर हुमायु और विशेषतः अकबर द्वारा बनवाई गई लाल बालुकाश्म (रेड सेंड स्टोन) की इमारते तथा द्वितीय चरण 1606 ई. से 1707 ई. जिसमें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जहांगीर औरंगजेब एंव विशेषतः शाहजहां द्वारा बनवाई गई शाही श्वेत संगमरमर की इमारतों का निर्माण किया गया। यद्यपि प्रथम चरण में भी मुगल स्थापत्य कला की उन्नति हुई लेकिन द्वितीय चरण के मुगल स्थापत्य कला का स्वर्ण युग कहा जाता है क्योंकि शाहजहां ने स्थापत्य कला में अपनी रूचि दिखाते हुये सम्पूर्ण भारत में अनेकों स्थानों पर सफेद सगमरमर की अनेक इमारतों का निर्माण करवाया। इन्ही दो चरणों के अन्तर्गत मुगल स्थापत्य कला का एक अलग–चरण भी आता है वह चरण है शेरशाह सूरी के शासनकाल में निर्मित इमारतों का काल यद्यपि यह इमारते सूर वंश से सम्बन्धित है लेकिन सूरवंश का शासनकाल मुगलवंश के दौरान आता है अतः इन स्थापत्यकला का भी विवेचन मुगल स्थापत्य कला के दौरान करना आवश्यक है।

22.3 विभिन्न अवस्थाएँ

मुगल स्थापत्य कला के प्रथम चरण में बाबर, हुमायु और अकबर के समय बनी ईमारतों का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि वास्तुकला की दृष्टि से मुगल शैली का जन्म अकबर के शासन काल से प्रारम्भ माना जाता है लेकिन फिर भी बाबर एंव हुमायूं को वास्तु सम्बन्धी कलात्मक गतिविधि प्रारम्भ करने का श्रेय दिया जा सकता है। द्वितीय चरण की स्थापत्य कला में शाहजंहा कालीन इमारतों का उल्लेख किया जा सकता है। जहां अकबरकालीन इमारतों में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया वहीं शाहजंहा ने अपने समय में श्वेत संगमरमर का प्रयोग करके मुगलकालीन स्थापत्य कला को एक अलग मोड़ प्रदान किया। शाहजहां के काल में बनी ये इमारतें आज भी मुगलकालीन स्थापत्य की बेजोड़ कला इमारतों के रूप में सुरक्षित हैं। मुगल स्थापत्य कला के इस द्वितीय चरण के अलावा भी एक अन्य चरण स्थापत्य कला के अन्तर्गत आता जो शेरशाह सूरी के समय की स्थापत्य कला से गिना जाता है। मुगल काल में हुमायु के पश्चात् कुछ समय के लिये सूर वंश का साम्राज्य स्थापित हुआ परिणामस्वरूप इस काल का सभी क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा। स्थापत्य कला पर भी इसका प्रभाव पड़ा। यद्यपि स्थापत्य कला में अत्यधिक विकास तो नहीं हुआ लेकिन फिर भी शेरशाह के समय की दो इमारते महत्वपूर्ण है। शेरशाह सूरी कुशल प्रशासक के साथ–साथ महान् निर्माता भी था ये मुगलकालीन स्थापत्य कला की इमारतें इस प्रकार कही जा सकती है–

22.4. बाबरकालीन स्थापत्यकला

यद्यपि बाबरकालीन स्थापत्यकला के उदाहरण बहुत कम उपलब्ध है क्योंकि बाबर ने भारत में शासनकाल के दौरान चार महत्वपूर्ण युद्ध किये परिणामतः उसका पूरा समय युद्ध में व्यतीत हुआ लेकिन फिर भी बाबर को भारतीय स्थापत्य कला के अनुसार बनी इमारतों से सन्तोष नहीं हुआ। अपनी पसन्द के अनुसार भवन निर्माण करने के लिये उसने कुस्तुनतुनिया से शिल्पकारों को बुलाया लेकिन आज ऐसी कोई भी इमारत देखने को नहीं मिलती। विद्वानों का मानना है कि या तो उसने कारीगीरों को बुलाया ही नहीं या बुलाने पर केवल विचार ही किया होगा या इन कारीगरों की कला उच्च कोटि की नहीं रहीं होगी। यद्यपि बाबर का भारतीय वास्तुकला पसन्द नहीं आदि 'बाबरनामा' से ज्ञात होता है कि उसने आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और अलीगढ़ की इमारतों के अस्तित्व के विषय में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। 'बाबरनामा' के ही अनुसार उसने भारतीय कारीगरों से निर्माण कार्य करवाया। केवल आगरा में 680 कारीगर उसके महलों में काम करते थे। बाबर के युग में बनी दो मस्जिदें शेष है– पानीपत की काबुली बाग मस्जिद और रूहेलखण्ड में सम्भल की मस्जिद। बाबर के समय मे बनी तीसरी मस्जिद अयोध्या में थी। वर्तमान में यह नष्ट हो गई है। ये तीनों इमारते साधारण है इनमें कला का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता।

22.5 हुमायुँकालीन स्थापत्य कला

ऐसा माना जाता है कि हुमायुँ भी कला प्रेमी था लेकिन उसकी कोई कलात्मक इमारतें नहीं बची है। उसने दिल्ली में 'दीनपनाह' नामक एक सुदृढ़ एवं सुन्दर महल बनवाया मगर ये भवन अब अस्तित्व में नहीं है। उसके समय में आगरा और हिसार में दो मस्जिदें निर्मित हुई थी। फतेहाबाद की मस्जिद ईरानी शैली में बनी हुई है जिसमें ईटों पर पच्चीकारी की गई है। इस प्रकार पहली बात तो यह थी कि हुमायुं को इमारतें बनवाने का समय ही नहीं मिला क्योंकि शेरशाह द्वारा सत्ता हथियाने पर 15वर्ष का निर्वासित जीवन जीना पड़ा और जब वह वापिस भारत आया तो इमारते बनाने जितना समय उसकी जिन्दगी में नहीं था और दूसरी बात जो इमारते उसने बनवाई उनमें न ही सुन्दरता थी न ही मजबूती परिणामस्वरूप समय के साथ नष्ट हो गई या खण्डित।

22.6 अकबरकालीन स्थापत्य कला

अकबर के समय मुगल स्थापना कला का विकास हुआ। उसे भवन निर्माण का शौक था और उसी के शासनकाल में वास्तुकला का वास्तविक विकास प्रारम्भ हुआ। उसने भवन निर्माण कला को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। भवन निर्माण कला के प्रति अकबर की रूचि को प्रकट करते हुये अबुल फजल ने लिखा है कि ''अकबर ने कई भव्य इमारतों की योजना बनाई और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अपने ह्रदय तथा मस्तिष्क की रचना को पाषाण एंव मिट्टी की वेशभूषा पहनाई।" उसने तकनीक से समस्त कला शैलियों को आत्मसात करके नये प्रकार के भवनों का निर्माण कराया। अकबर के काल में जिस नई शैली का विकास हुआ वह वास्तव में हिन्दू, मुस्लिम शैली का समन्वय थी। (यही कारण है उसे राष्ट्रीय शैली भी कहते है।) अकबर ने आगरा, दिल्ली, फतेहपुर सीकरी आदि स्थानों पर अनेक भवनों का निर्माण करवाया।

इन इमारतो में किले, महल, मकबरे, भवन आदि प्रमुख है। ये इमारतें इस प्रकार है–

22.6.1 हुमायु का मकबरा – अकबर के समय की यह सबसे पहली इमारत है। इसका निर्माण अकबर की सौतेली मां हाजी बेगम के द्वारा करवाया गया। हाजी बेगम ईरानी वास्तुकला से प्रभावित थी तथा इसका प्रधान कारीगर मिर्जा गियास था जो ईरान का रहने वाला था अतः इस मकबरे पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यह मुगलकाल की पहली इमारत है जिस में संगमरमर का प्रयोग किया गया। बाग में नालियों, झरनों और क्यारियों की संयुक्त योजना मकबरे को प्राकृतिक परिवेश में प्रस्तुत करती है। मुख्य मकबरा 22फीट ऊँची मेहराबदार चौकी पर है। इस के चारों ओर चार विशाल मेहराब हैं जिनके दोनों ओर वर्गाकार छत्रियां और मीनार है। अन्दर मध्य में अठपहलू विशाल कक्ष है। मध्य कक्ष के ऊपर दोहरा गुम्बद, चारों ओर चार छत्रियां है। हुमायु का मकबरा प्रत्येक दृष्टि से मुगल वास्तुकला की उत्कृष्ट कृति है।

22.6.2 अकबर का मकबरा – सिकन्दरा में स्थित यह दूसरी भव्य इमारत है जो अकबर के समय बनी हुई है एशिया मे इसका स्थान अद्वितीय है। इसका निर्माण कार्य अकबर के समय में प्रारम्भ हुआ और जहांगीर ने इसे पूरा कराया। यह मकबरा प्राचीन बौद्ध विहार शैली पर आधारित है। मकबरे के मेहराब और बुर्ज उसकी भव्यता तथा सौन्दर्य में वृद्धि करते है। मकबरे के उद्यान का प्रवेश द्वार भी बहुत ही भव्य है और मकबरे के अनुरूप है।

22.6.3 आगरे का किला – आगरे का किला भी अकबरकालीन वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण है। इसमें हिन्दू कला शैली ओर ईरानी कला शैली का सम्मिलित काम किया गया है। इसका निर्माण 1565 ई. में अकबर के प्रधान वास्तुकार कासिम खां के निर्देशन में हुआ। इसे बनाने में 15 वर्ष का समय लगा यह पूरा किला लाल पत्थर से बनावाया गया लेकिन बाद में कुछ भाग में सफेद पत्थर भी लगा दिये गये। इसमें चार दरवाजे थे जिनमें से दो को बन्द करवा दिया गयां अब इसमें दिल्ली दरवाजा और अमरसिंह दरवाजा है। दिल्ली दरवाजा भारत के प्रभावशाली द्वारों में से एक है। इसके ऊपरी भाग पर चूने मे बने रूप, रंगीन टाईल्स आदि सभी का प्रयोग प्रभावकारी है। इसमें बनाये गये भवनों में दीवान–ए–खास, दीवान–ए–आम, जहांगीरी महल और अकबर महल है। अकबर महल एवं जहांगीरी महल के अतिरिक्त सभी को तुड़वाकर शाहजहां ने सफेद संगमरमर की इमारतों का निर्माण करवा दिया। इन महलों पत्थर पर बने हंस, हाथी, तोते, मकर, कमल तथा श्रीवत्स के रूप हिन्दू परम्परा के संकेत देते है।

इन इमारतों के अतिरिक्त फतेहपुर सीकरी में अकबरकालीन अनेक इमारतें मिली है जो स्थापत्य कला के अद्वितीय उदाहरण है। फतेहपुर सीकरी नगर का निर्माण सम्राट ने अपने बड़े पुत्र सलीम के जन्म के उपलक्ष में किया था। यहां की सबसे भव्य इमारत बुलन्द दरवाजा तथा जामा मस्जिद है। इलाके अलावा दीवान–ए–आम, दीवान–ए–खास, पंचमहल, बीरबल का महल, टोडरमल का महल आदि भी है जो इस प्रकार है–

22.6.4 बुलन्द दरवाजा – बुलन्द दरवाजा अपने ढंग की आश्चर्यजनक वास्तुकृति है। यह भारत का सबसे बड़ा दरवाजा है। विश्व के सबसे बड़ें तोरणों में इसकी गणना की जा सकती है। इसका निर्माण 1601–02 में अकबर ने अपनी खानदेश की विजय के उपलक्ष में करवाया था। यह हिन्दू एवं मुस्लिम स्थापत्य कला का सुन्दर और बेजोड़ नमूना है। इस पर बहुत ही सुन्दर नक्काशी का काम हुआ है और पच्चीकारी संगमरमर की है जो बहुत ही सुन्दर व सजीव है।

22.6.5 दीवान–ए–खास – फतेहपुर सीकरी में अकबर का दीवान–ए–खास एकदम सादा है, फिर भी यह अत्यन्त प्रभावशाली है। यह दो मंजिला होने का आभास देता है। इसके मध्य का सतून अत्यन्त सुन्दर ढंग से बना है, जिसकी नक्काशी देखने योग्य है। इसी सतून के ऊपर शाही सिंहासन रखा जाता था, जिसको रोकने के लिये बहुत सी नक्काशीदार छतरियां बनी है। सिंहासन तक पहुंचने के लिये चारों कोनों से छज्जो के रूप में चार मार्ग बनाये गये है। इन छतरियों और स्तून के मिलाने के बाद देखने से ऐसा लगता है जैसे सूर्य की किरणें फूट रही है और यह स्तून न होकर सूरजमूखी का फूल हो।

22.6.6 दीवान–ए–आम – यह स्थापत्यकला की दृष्टि से साधारण इमारत है। यह शाही महत्व से बनी इमारत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यहां अकबर रका दरबार लगता था। इसी के पीछे एक दूसरा प्रांगण है जिसमें शाही महल, आवास गृह, विश्राम कक्ष तथा दीवान–ए–खास है।

22.6.7 पंचमहल – यह पांच मंजिल की इमारत है यह फतेहपुर सीकरी की भव्यतम इमारतों में एक है। प्रत्येक मंजिल ऊपर की ओर क्रमशः छोटी होती गई है। सबसे ऊपर एक छतरी है यहां से अकबर प्रतिदिन सूर्योदय एंव सूर्यास्त को देखता था। यह मुख्यतः 48 स्तम्भों पर खड़ी है। प्रत्येक तल के स्तम्भों के शीर्ष एक दूसरे से भिन्न है। स्तम्भों पर उत्कीर्ण वल्लरियां, फूल पत्तियां, कलश और मणिमाला जैसे भारतीय प्रतीक और रूप इस भवन की प्रसिद्धि का कारण है। इसमें हिन्दू, मुस्लिम एव जैन तीनो शैलियों की कला दिखाई देती है।

22.6.8 तुर्की सुल्ताना का महल– यहां पर बने महलों में यह सबसे सुन्दर महलो में एक है। इसकी निर्माण शैली तथा पत्थरों की बनावट सुन्दर और सजीव है। महल के आगे दालान बना है। इसके भीतरी भाग को अलंकृत किया गया है। दीवारों के निचले भाग पर हाथी, चीता जैसे पशुओं तथा पशु वल्लरियों और वृक्षों के चित्र उत्कीर्ण है। इसमें नीले चमकदार टाइल का भी प्रयोग किया गया है। सम्भवतः यह किसी राजकुमारी का महल रहा होगा।

22.6.9 जोधाबाई का महल – फतेहपुर सीकरी का सबसे कलात्मक भवन यही है। यह आयताकार है जो चारों तरफ 32 फीट ऊँची दीवार से आवृत्त है इसमें एक ही प्रवेश द्वार है। महल का पहला भाग खुला आंगन है जिसमें चारों ओर दुमंजिली इमारत बनी है। महल के चारों कानों पर नीचे चपटे गुम्बद है। पहली मंजिल के सामने का भाग स्तम्भों पर आधारित खुला कक्ष है। शेष तीन ओर अनेक कक्ष बने है। ऊपरी मंजिल के कक्ष बड़े है। जोधाबाई का यह महल बहुत महत्वपूर्ण इमारत है। इसे मध्यकालीन मुगलों के शाही आवासगृह का उदाहरण माना जाता है। स्मिथ ने इसे फतेहपुर सीकरी की सबसे प्राचीन इमारत बताया है। इसका निर्माण मिश्रित शैली में हुआ है इसकी बनावट जहांगीरी महल जैसी है।

22.6.10 मरियम उज्जमानी का महल – इसका वास्तविक नाम 'सुनहरी कोठी' या रंगीन महल' है। यह जहांगीर की माता का महल था। इसमें स्नानागार, आंगन या सेवक कक्ष कुछ भी नहीं है बल्कि एक छोटी सी इमारत है। इसकी प्रसिद्धि का कारण इसके स्तम्भों पर आधारित बरामदे और छज्जे है। इसके अन्दर दीवारों पर युद्ध के दृश्य, शिकार, खेल, हाथियों की लड़ाई, जुलूस तथा हिन्दू देवी देवताओं के चित्र बने हुये है। ईरानी चित्रों में लाल, नीला पीला एवं सुनहरी रंग किया गया है।

22.6.11 बीरबल का महल – यह दोमंजिली इमारत है। यह महल पत्थर की काफी ऊँची कुर्सी पर बना है तथा इसका गुम्बद काफी भव्य है। पहली मंजिल में चार कमरे है और ऊपरी मंजिल के कमरों के ऊपर सुन्दर चपटे ढोहरे गुम्बद है। पहली मंजिल के शेष भाग में एक खुला चबूतरा है जो चारों ओर पत्थर के जालीदार पर्दो से घिरा है। इस भवन में पत्थर की कलाकारी देखते ही बनती है। इराकी दीवारों पर अत्यन्त रान्दर चित्रकारी की हुई है जिरागें एक ब्राह्मण को रोते हुये दिखाया है। यह भवन कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है।

22.6.12 जामा मस्जिद – सीकरी की इमारतों में धार्मिक महत्व की इमारत विशाल जामा मस्जिद है, जिसका बुलन्द दरवाजा मध्यकालीन स्थापत्य की प्रसिद्ध कृति है। अकबर ने दीन–ए–इलाही के अनुयायियों के लिये इसका निर्माण करवाया था। इसके मध्य में एक विशाल सदन है जिसके तीन ओर स्तम्भों पर आधारित दालान है। तीन ओर दालानों के ठीक बीच में प्रवेश द्वार बने है। इस मस्जिद में सुन्दर चित्रकारी की गई है। इसमें भी ईरानी व भारतीय कला शैली के तत्व विद्यमान है। वास्तुकला में यह श्रेष्ठ कृति है।

22.6.13 सलीम चिश्ती की दरगाह – जामा मस्जिद के खुले आंगन में उत्तर की ओर शेख सलीम चिश्ती की दरगाह बनी है। छोटी सी एक मात्र इमारत है जिसे संगमरमर में बनाया गया है यद्यपि अकबरकालीन यह एकमात्र इमारत है जो संगमरमर द्वारा निर्मित है तो कई विद्वानों का मानना है पहले (अकबर ने) यह सम्भवतया पत्थर से बनी थी बाद में जहांगीर या शाहजहां ने इसे संगमरमर से बनवाया होगा। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता इसके अलंकृत स्तम्भ तथा चौड़े छज्जों को सहारा देने वाले आलम्ब या तोड़े है। ये तोड़े अनेक आकृतियों में है।इसके अलावा अकबरकालीन सीकरी में टकसाल, ज्योतिष भवन, खास महल भी वास्तुकला के अद्वितीय उदाहरण है।

22.7 जहांगीरकालीन स्थापत्य कला

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जहांगीर के समय स्थापत्य कला के क्षेत्र में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई क्यों कि जहांगीर को स्थापत्य कला से उतना प्रेम नहीं था जितना चित्रकला से था। फिर भी उसके शासन काल मे जो कार्य हुआ वह उच्च कोटि का था। उसने अपने पिता द्वारा बनवाये गये सिकन्दरा के मकबरे को पूर्ण करवाया था। इस मकबरे के मुख्य द्वार पर संगमरमर की पच्चीकारी का काम बहुत आकर्षक ढंग से किया गया है। इस मकबरे की दो मेहराबों के बीच की दूरी में फारसी पद्य खुदे हुये है, जिनमें अकबर की न्यायप्रियता की प्रशंसा की गई है। जहांगीर के समय की अन्य स्थापत्य कला इस प्रकार है–

22.7.1 ऐत्माद्दुदौला का मकबरा : – यह आगरा में यमुना नदी के दूसरे किनारे पर स्थित है। इसका निर्माण नूरजहां में अपने पिता आसफ खांकी कब्र पर कराया था। स्थापत्य की दृष्टि से इस मकबरे का बहुत महत्व है। अपनी विशिष्ट योजना, अलंकरण और प्रस्तुति मे यह अकबर से शाहजहां के काल तक विकसित वास्तुकला की मध्य कड़ी के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह वर्गाकार बना है। चारो तरफ चार द्वार बने है। यह दोमंजिली इमारत है। मुख्य पक्ष में ऐत्माद्दुदौला तथा उसकी पत्नी की कब्रे है। चारों कोनो पर बने अन्य कमरों में उसके परिवार के अन्य सदस्यों की कब्रे बनी है। इमारत के चारों कोनो पर चार मिनारे है। अपने सम्पूर्ण रूप में यह मकबरा स्वयं में विशिष्ट है। जहांगीर के युग की यह पहली रचना है जिसका निर्माण लाल पत्थर के स्थान पर सफेद संगमरमर से किया गया है। इसकी दीवारों, छतों और फर्शो पर आश्चर्यजनक रूपों का रंगबिरंगा जड़ाऊ सुन्दर काम करके इसके सुन्दरता में चार चांद लगाता है। संगमरमर में पुखराज, गौमेद, सर्यकान्त जैसे रत्नों को इस इमारत मे जड़ा गया है। इस इमारत में रंगीन पत्थरों की जड़ाई की दूसरी तकनीक पित्राड्यूरा का भी प्रयोग किया गया है।

अन्य महत्वपूर्ण इमारतों में लाहौर के समीप रावी नदी के तट पर नूरजहां द्वारा निर्मित जहांगीर का मकबरा है। जहांगीर द्वारा बनवाया गया इलाहबाद में खुसरों बाग भी एक उल्लेखनीय इमारत है। जहांगीर के शासनकाल की यह सभी इमारतें मुगल स्थापत्य के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखती है।

मरियम उज्जमानी का मकबरा सिकन्दर लोदी की बारहदरी के नाम से प्रसिद्व है यह भी जहांगीर के काल में बनी इमारत है। योजना मे वर्गाकार यह मकबरा ईटो तथा लाल पत्थर से बनाया गया है। यह समस्त जहांगीरकालीन भव्य इमारते है।

22.8 शाहजहांकालीन स्थापत्य कला

शाहजहां ने स्थापत्य कला में विशेष रूचि दिखाई। सम्भवतः शाहजहां समस्त मुगल शासकों में सबसे महान् था। शाहजहां के काल में नई तकनीक का विकास हुआ। इस युग की इमारते ईरानी शैली में बनी हल्की और अत्यन्त अलंकृत है। शाहजहां ने पुरानी पत्थरों से निर्मित इमारतों को तुड़वाकर उन्हे श्वेत संगमरमर में परिवर्तित कर दिया। पर्सी ब्राउन का कथन है कि, "शाहजहां ने मुगल नगरों को लाल पत्थरों का पाया और उन्हें सफेद संगमरमर मे परिवर्तित कर दिया।" शाहजहां कालीन इमारते अधिकांशतः दिल्ली औरा आगरा में है। शाहजहां द्वारा बनवाएं जाने के कारण आगरा व दिल्ली की इमारते, योजना एवं शैली मे लगभग एक जैसी है। शाहजहां की इमारत बड़े पैमाने पर रत्न जड़ित आभुषणों के समान है। शाहजहां ने लाल के स्थान पर सफेद संगमरमर से इमारतों का निर्माण करावाया। शाहजहां के काल में बनी इमारते इस प्रकार है–

22.8.1 दिवान–ए–आम – शाहजहां ने आगरे के किले को पुनर्निमित करवाया। इसी किले में 1628ई. में शाहजहां ने सबसे पहले दिवान–ए–आम की स्थापना करवाई। इसका भवन खुला बनाया गया जो स्तम्भों और मेहराबो पर आधारित था। इसमें दोहरे स्तम्भों की 40कतारे है। यह विशाल कक्ष तीन ओर से खुला हुआ है जबकि चौथी ओर दीवार से लगा हुआ ऊँचा सा लम्बा दालान है। इसी दालान के मध्य सम्राट सिंहासन पर बैठता था। इमारत की रचना लाल पत्थर से तथा ऊपर से श्वेत चूने का पलस्तर किया गया है।

22.8.2 मच्छी भवन – लाल पत्थर की बनी यह आयताकार इमारत दिवान–ए–आम के पीछे स्थित है। इसके बीच में एक विशाल सहन है जिसमें संगमरमर के कई सरोवर बने हुये थे। इन सरोवरों की मछलियों का शिकार शाही परिवार के सदस्य करते थे।

22.8.3 दीवान–ए–खास : – मच्छी भवन के पश्चिम में ऊँची पीठिका पर निर्मित स्तम्भों पर बनी यह एक महत्वपूर्ण इमारत है। सफेद संगमरमर से बनी इस आयताकार इमारत में विशेष दरबार लगता था। दीवारों पर फूलदान, फूल व पत्तियां अंकित है। इस पर सोने का मुलम्मा चढ़ा रहता था तथा उसमें रत्न लगे हुये थे इसके आगे एक खुला शहन है जिसमें पश्चिमी किनारे पर एक संगमरमर का चबूतरा है।

22.8.4 शीशमहल : – दीवान–ए–खास के नीचे बना शीश महल है स्थापत्य की दृष्टि से इस महल का कोई विशिष्ट

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

महत्व नहीं है परन्तु इसकी प्रसिद्धि का कारण दरवाजों तथा दीवारों पर लगे शीशे है जिनके चारों ओर सुनहरी और रंगीन काम किया गया है।

22.8.5 खास महल – यह दीवान–ए–खास से लगा हुआ है तथा इसके नीचे के भाग लाल पत्थर से बने हुये है। यह सम्राट का निजी आवास था इसके ऊपरी भग के कक्ष, मण्डप, दालान, शयनागार संगमरमर के बने है। इसकी दीवारों पर उभरे हुये काम की अधिकता है। इसकी छत सुनहरी एंव और चमकीले रंगों से सज्जित है। इसके कक्षों में हीरे, पुखराज से अंलकरण किया गया है। इस महल के एक झरोखे में तैमूर से लेकर जहांगीर तक के चित्र लगे हुये थे। खास महल के आगे अंगूरी बाग है जिसे शाहजहां ने पुनर्निमित किया इसके तीन ओर कमरों की कतार तथा चौथी ओर मण्डप है इसके सहन के बाग में फव्वारे है।

22.8.6 मुसम्मन बुर्ज – यह खास महल के उत्तर में सफेद संगमरमर में बनी है। इसमें छह मन्जिल है। इसे शाह बुर्ज भी कहते है। इसकी सबसे ऊपर की मंजिल पर सुन्दर जडाई का काम किया गया है। यहां के हौज में सुन्दर फव्वारा और झरना है यहां से शाही परिवार की स्त्रियां पशु युद्ध देखती थी। मुसम्मन बुर्ज और खास महल के बीच में सफेद सगमरमर से बना झरोखा–ए–दर्शन है।

22.8.7 नगीना मस्जिद – यह इमारत आकार में छोटी है और संगमरमर से बनी है। इसके जैसी दूसरी इमारत दुर्लभ है। यह दीवान–ए–आम के उत्तर में एक विशाल उठे हुये सहन में बनी है। यहां मध्य में कुण्ड के स्थान पर फव्वारा लगा है। इसी के जैसी छोटी मस्जिद एंव मोती मस्जिद भी है जो स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

22.8.8 जामा मस्जिद – किले के मुख्य द्वार के बाहर जहांआरा बेगम द्वारा बनाई गई लाल पत्थर की यह इमारत अत्यन्त सुन्दर है। इसके तीन भागों पर अंलकृत गुम्बद है। यह अलंकरण लहरिया डिजाइन में लाल और सफेद रंग से किया हुआ है। मेहराव की दीवार पंक्ति में छोटी–छोटी छतरियां बनी है तथा बीच के कक्ष पर चारों कोनों पर चार छोटी मीनारे भी बनाई गई है। सहन के मध्य जलकुण्ड बना है।

22.8.9 ताजमहल – यह आगरा किले के यमुना तट पर बना है जो सफेद संगमरमर से निर्मित है। शाहजहां ने अपनी प्रिय पत्नि बेगम मुमताज महल की याद में बनवाया था। ताजमहल का निर्माण 22फुट ऊँचे चबूतरे पर किया गया है। इसकी योजना वर्गाकार है। इराके चारों कोने गे चार रतूपीयुक्त मीनारें है। प्रत्येक 137फुट ऊँची है। रापूर्ण योजना 1900 x 1000 फुट आयताकार क्षेत्र में विस्तृत है। ताजमहल के समीप दोनों ओर लाल पत्थर की मेहराबी इमारतों की लम्बी पक्तियां है। एक मेहराबी दरवाजे से प्रवेश करने पर चारों तरफ चार लाल पत्थर के दरवाजों के आयाताकार अहाते में पहुंचने पर वहां चार सहनों मे सुन्दर लॉन है। इसके उत्तर का दरवाजा इसका प्रवेश द्वार है। इसके सामने के भाग पर अरबी का लेख है तथा इसके ऊपर संगमरमर की 'छतरियां है। दक्षिण का प्रवेश द्वार भी एक समान है। मुख्य इमारत आयाताकार तथा इसकी चहारदीवारी चारों तरफ से ऊँची तथा चारों कोनो पर गेहराबदार गण्डप है। अहाते के भीतर वर्गाकार वाग के उत्तरी रिारे पर रांगगरगर का एक चबूतरा है तथा इसी चबूतरे पर मुमताज महल का मकबरा बना है। इसके पश्चिम मे मस्जिद और पूर्व में अतिथिशाला है। इस मकबरे की मुख्य इमारत के प्रत्येक कोने पर तिमंजिली मीनार बनाई गई है।

ताजमहल के भीतर एक अठपहला विशाल कक्ष है जिसके नीचे तहखाना और ऊपर मेहराबदार कक्ष है। जिसके बीच में मुमताज महल तथा शाहजहां की कब्र है। यह संगमरमर की तथा इन पर खुदाई तथा कीमती पत्थरों की धनी जड़ाई है। ताजमहल सफेद संगमरमर का बना है और यमुना नदी में जब इसकी परछाई पड़ती है तो बहुत सुन्दर लगता है। ताज व इसके साथ की इमारतों की समन्वयता और एकरूपता शोभनीय है। इस इमारत के मध्य का गुम्बद सबको प्रभावित करता है। हॉवेल के अनुसार , ''ताजमहल भारतीय स्त्री जाति का देवतुल्य स्मारक है। अतः यह मानवीय भावनाओं से ओत–प्रोत है। ''

ताजमहल विश्व के आश्चर्यो मे प्रथम स्थान पर है। अपनी इसी स्थापत्य कला एंव भव्यता के कारण

22.8.10 शाहजहांनाबाद नगर की स्थापना– 1683ई. में शाहजहां ने एक नये नगर की स्थापना की– शाहजहांनाबाद की। यद्यपि समस्त नगर नष्ट हो गया लेकिन अवशेष रूप में केवल लाल किला शेष बचा है। यह किला परकोटे के भीतर बना है। किले के तीन द्वार है किले में दीवान–ए–खास में चारों ओर कीमती पत्थर जड़े गये थे। किले के केन्द्र के आध े भाग में शाही महल व आधे भाग में सुन्दर बाग है। किले के मुख्य दरवाजों में दो बड़े रास्ते निकलते है इनसे एक कोण बनता है उसी में जमा मस्जिद बनाई गई व लाल पत्थर की इस भव्य इमारत में सीढ़ियों के ऊँचे सिलसिले ऊँचे सफेद गुम्बद है और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आन्तरिक भाग सादा है।

इस प्रकार शाहजहां ने दिल्ली व आगरा में उनके भव्य इमारतों का निर्माण करवाया इनके अलावा भी अन्य नगरों का निर्माण कार्य करवाया गया। इस तरह शाहजहां का शासनकाल स्थापत्यकला की दृष्टि से मुगल साम्राज्य का स्वर्णयुग था। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने शाहजहांकालीन स्थापत्य कला की प्रशंसा में लिखा है कि ''शाहजहां कालीन भवनों की कला में एक जौहरी और एक चित्रकार अथवा कलाकार का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

22.9 औरंगजेबकालीन स्थापत्य कला

औरंगजेब ने स्थापत्यकला को प्रोत्साहन देने के स्थान पर भवन निर्माण कार्य बन्द करवा दिया। वह निर्माण के स्थान पर विध्वंस में अधिक विश्वास रखता था। उसके शासनकाल में औरंगाबाद के निकट अपनी बेगम औरंगाबादी का मकबरा बनवाया। उसने लाहौर में बादशाही मस्जिद और विश्वनाथ मन्दिर के खण्डों पर मस्जिद बनवाई। उसने अपने प्रयोग के लिये दिल्ली के लाल किले में संगमरमर की एक छोटी सी मस्जिद बनवाई। इसके अलावा बनारस एवं मथुरा की मस्जिद का निर्माण करवाया। ये मस्जिदे विशाल होते हुये भी स्थापत्य की दृष्टि से हीन कोटि की है।

22.10 शेरशाहकालीन स्थापत्य कला

शेरशाह सूरी कुशल प्रशासक के साथ–साथ महान् निर्माता भी था ये दो इमारते है–

(1) दिल्ली के पास पुराने किले की मस्जिद।

(2) सहसराम का मकबरा।

दिल्ली के पास बनाई गई मस्जिद अपनी वास्तुकला के लिये उत्तरी भारत की महत्वपूर्ण इमारतों में से एक है। इसके प्रवेश द्वार तथा गुम्बद के चारो ओर की छोटी–छोटी मीनारो पर ईरानी प्रभाव दिखाई देता है तथा शेष भाग में भारतीय स्थापत्य कला दृष्टिगोचर होती है। यह मस्जिद हिन्दू एंव मुस्लिम शैली दोनों का समन्वय है।

शेरशाह की इमारतों में सहसराम का मकबरा सर्वश्रेष्ठ है। इतिहासकारों की मान्यता है कि तुगलक कालीन भद्दी इमारतों व शाहजहां कालीन भव्य इमारतों के बीच की कड़ी यह मकबरा है।

22.11 मुगल स्थापत्यकला की विशेषता

मुगल शासकों ने कला के प्रति अपनी रूचि को प्रदर्शित किया परिणामस्वरूप मुगल काल में स्थापत्यकला, चित्रकला, संगीत कला, साहित्य सभी की अभूतपूर्व उन्नति हुई। स्थापत्य के क्षेत्र में जहां अकबर के काल में लाल पत्थर का प्रयोग अधिक हुआ वहीं शाहजहां के काल में सफेद संगमरमर का। इस प्रकार मुगल स्थापत्य कला की भी कुछ महत्वपूर्ण विशेषता रही जो इस प्रकार है–

(1) मुगल स्थापत्य कला में ईरानी व हिन्दू शैलियों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

(2) मुगलकाल के प्रथम चरण के भवनों, इमारतों, मस्जिदों और मकबरो में लाल पत्थर का प्रयोग बहुतायत में हुआ वही द्वितीय चरण में सफेद संगमरमर का।

(3) मुगलकाल मे बने भवनों का अलंकरण, रंगो का बाहुल्य और पच्चीकारी की प्रधानता देखने को मिलती है।

(4) विशाल गोल गुम्बद, पतले स्तम्भ, अलंकृत तोड़े, विशाल द्वार और भवनों के चारों तरफ चार बाग पद्धति में उद्यान मुगल स्थापत्य कला की विशेषता रहीं है।

(5) मुगलकालीन गुम्बदों की मेहरावे नुकीली और गुम्बद बाहर की ओर अभरे हुये है।

(6) लालित्य कोमलता एवं सुन्दरता मुगल इमारतों में दिखाई देता है।

22.12 सारांश

मुगल कला पर मुगल शासकों के व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। जहां अकबर, शाहजहां एव जहांगीर कालीन इमारतों पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा वही औरंगजैब की विध्वंशात्मक नीति ने निर्माण कार्य को खत्म करवा दिया। इतना होते हुये भी आज मुगल स्थापत्य की जो इमारते विश्व की कला को भी समृद्ध करते है और इसका जीता जागता उदाहरण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ताजमहल है जो विश्व के आश्चर्यों में प्रथम स्थान पर है। औरंगजेब के पश्चात् मुगल स्थापत्य कला और पनप नहीं सकी लेकिन यदि सही अर्थो में मुगल स्थापत्य कला का अध्ययन करे तो इसकी शुरूआत अकबर से प्रारम्भ होकर, शाहजहां के शासनकाल में अपने चरमोत्कर्ष तक पहुंचती है। स्थापत्यकला की दृष्टि से मुगलकाल को स्वर्णयुग की संज्ञा दी जा सकती है।

22.13 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 किस मुगल सम्राट के शासनकाल में पहली बार संगम्रमर पर रंगीन पत्थरों से पच्चीकारी की गई है?

(अ) अकबर (ब) जहांगीर

(स) शाहजहां (द) औरंगजेब

प्रश्न–2 मुगलकालीन स्थापत्यकला की मुख्य विशेषताओं को बताइये (30शब्द सीमा)

प्रश्न–3 मुगलकालीन स्थापत्य कला पर निबन्ध लिखिये (निबन्धात्मक)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–23 : राजपूत चित्रकला की शाखाएं

संरचना

23.0 प्रस्तावना

23.1 उद्देश्य

23.2 भूमिका

23.3 राजपूत चित्रकला की उत्पति एंव प्राचीनता

23.4 राजपूत चित्रकला का विकास

23.5 राजपूत चित्रकला की प्रमुख शाखाएं एवं शैलियां

- 23.5.1 मेंवाड़ चित्रकला शैली
- 23.5.2 मारवाड़ चित्रकला शैली
- 23.5.3 बीकानेर चित्रकला शैली
- 23.5.4 किशनगढ़ चित्रकला शैली
- 23.5.5 जयपुर चित्रकला शैली
- 23.5.6 बून्दी चित्रकला शैली
- 23.5.7 कोटा चित्रकला शैली
- 23.5.8 अलवर चित्रकला शैली
- 23.5.9 नाथद्वारा चित्रकला शैली

23.6 राजपूत चित्रकला शैली की विशेषताएं

23.7 सारांश

23.8 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.0 प्रस्तावना

भारतीय चित्रकला में राजपूत चित्रकला अलग और महत्वपूर्ण स्थान रखती है। राजपूत चित्रकला की पृष्ठभूमि में गुजराती शैली की चित्रकला को रखा जा सकता है। इसे विद्वानों ने गूर्जर शैली, जैन शैली, पश्चिमी हिन्द शैली तथा अपभ्रंश शैली अनेको सम्बोधनो से पुकारा है।

राजपूत चित्रकला शैली के चित्रों का अस्तित्वराजपूत महलों मे देखा जा सकता है। इन प्राचीन चित्रकला में मुख्यतः कृष्ण लीला का चित्रांकन उल्लेखनीय है। राजपूत चित्रकला अपनी विशेषता के साथ विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय विशेषता के साथ विकसित होती गई परिणामस्वरूप अनेक शाखायें बन गयी जैसे मरवाड़ चित्रकला शैली, मेवाड़ चित्र शैली, बून्दी–कोटा चित्र शैली, किशनगढ़ चित्र शैली, आदि। इन सभी प्रान्तों के राजाओं ने चित्रकला को प्रश्रय दिया। समय–समय पर राजपूत चित्रकला पर मुगल शैली, विदेशी शैली, यूरोपीय शैली का प्रभाव पड़ता रहा है परिणामस्वरूप विभिन्न प्रान्तो की चित्रकला मे स्थानीय शैली के साथ मुगल या योरोपीय प्रभाव का समन्वय देखने को मिलता है।

23.1 उद्देश्य

राजपूत चित्रकला अपनी एक अलग पहचान लिये है। 16वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक इसका पूर्ण विकास हुआ। मुगलों से सम्पर्क होने पर इस शैली का प्रभाव और बढ़ गया प्रारम्भ में इसे जैन शैली या गुजरात शैली के नाम से भी जाना जाता था। धीरे–धीरे जैसे–जैसे राजपूत राजाओं पर मुगल प्रभाव बढने लगा वैसे–वैसे चित्रकला में भी परिवर्तन आने लगा। इस इकाई में राजस्थान में चित्रकला के विकास को विस्तार पूर्वक समझाया जायेगा जिसमें निम्न बिन्दुओं पर विशेष प्रकाश डाला जायेगा।

* राजस्थान मे चित्रकला का विकास एंव प्राचीनता
* राजस्थान के अलग अलग प्रान्तों में चित्रकला का स्वरूप, स्थान विशेषता की विशेष और चित्रकला।
* प्रत्येक प्रान्त में वहां के राजपूत राजाओं, महाराजों का चित्रकला को योगदान एवं उनके समय उनके प्रान्तों में चित्रकला का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य
* चित्रकला की विभिन्न शाखाओं– मेवाड़, मारवाड़, बीकानेर, बून्दी, कोटा, किशनगढ़, नाथद्वारा आदि की शैलीगत विशेषताओं को इस पाठ के द्वारा विस्तृत किया जोयगा।

23.2 भूमिका

राजपूताना के शासकों में जितनी खीरराता विधमान थी उनका हृदय भी कोमलता और मधुरता से उतना ही परिपूर्ण था। परम्परागत रूप से वे काव्य और कला के संरक्षक थे, कला के प्रति रूचि उन्हे विरासत में मिली थी। आहड़, बैराठ तथा रंगमहल आदि स्थानों पर की गुइ खुदाई से प्राप्त सामग्री से यह प्रमाणित होता है कि राजस्थान में चित्रकला की वैभवशाली परम्परा विधमान थी। सातवीं और आठवीं सदी के चित्रकारों ने अजन्ता चित्रकला शैली में स्थानीय मौलिक शैलियों को सम्मिलित कर राजस्थानी चित्रकला में एक नवीन परिवर्तन ला दिया। परन्तु दुर्भाग्यवश इस नवीन शैली के अधिकांश नमूने नष्ट हो चुके है। कुछ विद्वान इस नवीन शैली को 'जैन शैली' कहते है क्योंकि अनेक जैनग्रन्थ इसी शैली में चित्रित किये गये थे। परन्तु आजकल इस शैली के नामकरण को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है–कुछ इसे गुजरात शैली' तो कुछ इसे 'पश्चिम भारतीय शैली कुछ 'अपभ्रंश शैली' कहकर भी पुकारते है। राजस्थान के प्रागैतिहासिक स्थलों, चम्बल, लूनी व सरस्वती नदियों की घाटी से प्राप्त कला सामग्री तथा आहड़, गिलूण्ड, बैराठ, बागौर आदि से प्राप्त अवशेषों से लेकर नागदा, ओसिया, रणकपुर, चित्तौड़, कुम्भलगढ़, जैसलमेर आदि स्थानों पर बिखरी हुई कला सम्पदा इसके ज्वलंत प्रमाण है। राजस्थानी चित्रकला मुख्यत राजस्थान की विभिन्न शैलियों जैसे– किशनगढ़ शैली, मारवाड़ चित्रकला शैली, मेवाड़ चित्रकला शैली, मेवाड़ चित्रकला शैली, बीकानेर चित्र शैली, बून्दी चित्र शैली, कोटा चित्र शैली, जयपुर चित्र शैली, अलवर चित्र शैली और नाथद्वारा चित्र शैली आदि के चित्रों में देखने को मिलती है। प्रत्येक शैली मे स्थान की प्रमुख विशेषता दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान मे प्रत्येक क्षेत्र की शैलीगत चित्रकला की प्रमुख विशेषताएं है।

23.3 राजपूत चित्रकला की उत्पति एंव प्राचीनता

राजस्थानी चित्रकला की प्राचीनता के सम्बन्ध मे प्रायः अलग–अलग धारणाएं व्यक्त की गयी है। इस शैली का आंशिक निर्माण गुजरात और मेवाड़ के क्षेत्रों में 15वीं शताब्दी के लगभग हुआ। कुछ विद्वान इसे जहांगीर कालीन मुगल शैली की शाखा मानते है लेकिन इसे पूर्णतया सही मानना असम्भव है क्योंकि जो समानता मुगल और राजपूत शैलियों के चित्रों में दिखाई देती है वह अकबर के काल के सम्बन्ध रखने वाली चित्रकला में पायी जाती है उसके पूर्व की कला में नहीं। वस्तुतः अधिकांश राजपूत शैली के चित्र अब नष्ट हो चुके है। राजपूत चित्रकला के संदर्भ मे नये शोधो के अनुसार यह कला शैली 16वीं शताब्दी से भी प्राचीन है। दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पहले ही यहां राजपूत वंशों के प्रभुत्वकाल मे चित्रकला का विकास प्रारम्भ हो चुका था। इस समय की कला दरबारी की कला थी जो अब नष्ट हो गई है।

काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार परमार राजा उदयादित्य के शासन काल में 11वीं शताब्दी में कुछ चित्र बने थे जिनमें से दक्षिणापथ की विजयाक्षवक्ष में एलोरा की गुफाओं में चित्रित चित्र थे। इस युद्ध विषयक चित्रों पर 'प्रमार' लिखा हुआ है। इन चित्रों में अंकित बड़ी–बड़ी मूछें और ऊपर कपोलों की ओर चढ़ी हुई दाढ़ी राजपूती वेशभूषा की नकल है। यह चित्र रंगीन है और राजपूत मुगलशैली से पहले के है। चित्रों में (स्वस्ती स्ति प्रमारराज) प्रयुक्त नागरी अक्षर उदयादित्य के समय की लिपि से मिलते है। इन चित्रों पर मुगल शैली के चित्रों का कोई प्रभाव नहीं है।

प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित 'गीतगोविन्द' की सचित्र प्रति (17वीं शती का मध्य), चावन्दा (मेवाड़ में प्रताप की नयी राजधानी) में 1604ई. में चित्रित रागरागिनी के चित्र, नेशनल म्यूजियम में सुरक्षित नायक–नायिकाओं के 1640ई. मे निर्मित चित्र और जगतसिंह प्रथम (मेवाड़ नरेश) के समय मे चित्रित अनेक पाण्डुलिपियां एंव बहुत से स्फुट चित्र राजपूत शैली के प्राचीन अस्तित्व का प्रमाण प्रस्तुत करते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.4 राजपूत चित्रकला का विकास

7वीं एंव 8वीं शताब्दी में राजपूताना में अजन्ता चित्रकला शैली का प्रचलन था। अरबों के आक्रमण के कारण पश्चिमी क्षेत्र के कलाकार गुजरात से राजपूताना की ओर आये जिन्होंने स्थानीय शैली को अपनाकर एक नई शैली की शुरूआत की। इस शैली में प्रमुखतया जैन ग्रन्थों को चित्रित किये जाने के कारण इसे जैन शैली की संज्ञा दी गई लेकिन इस शैली का विकास गुजरात में हुआ था इसलिये इसे गुजरात शैली के नाम से भी जाना जाता है। इस काल में राजस्थान चित्रकला के केन्द्र के रूप में उभर रहा था। जैसे–जैसे राजपूत शासको ने मुगल सम्राट अकबर से राजनैतिक एंव वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये और मुगल दरबार में उनका आना–जाना बढ़ा वैसे ही राजपूत चित्रकला पर मुगल प्रभाव धीरे–धीरे बढने लगा। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि राजपूत का जन्म मुगल चित्रकला से हुआ था लेकिन यह बात पूर्णतया स्पष्ट नहीं होती है। 17वीं और 18वीं शताब्दियों को राजपूत चित्रकला का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

23.5 राजपूत चित्रकला की प्रमुख शाखाएं एवं शैलियां

राजपूती चित्रकला का अस्तित्व मुख्यतः प्राचीन राजपूत महलों में सुरक्षित है। प्रत्येक राजघराने की चित्रकला पर उस राजघराने की संस्कृति एवं भौगोलिक स्थिति का प्रभाव पड़ा परिणामस्वरूप प्रत्येक राजपूत चित्रकला शैली के कई उदाहरण देखने को मिलते है जो प्राचीन काल में तो अपने चरमोत्कर्ष पर थे आज भी उनका थोड़ा बहुत अस्तित्व सुरक्षित है। इस प्रकार प्राचीन चित्रकला की शैलियां निम्नलिखित कही जा सकती है–

23.5.1 मेवाड़ चित्रकला शैली – राजस्थान मे मेवाड़ का इतिहास अपने शौर्य, स्वतंत्रता और संस्कृति की रक्षा के लिये प्रसिद्ध रहा है। राजस्थानी चित्रकला शैली के उद्‌भव और विकास मे मेवाड़ शैली का प्रमुख स्थान रहा है। महाराणा कुम्भा, महाराणा सांगा, उदयसिंह एंव महाराणा प्रताप के समय मेवाड़ी चित्रकला का विकास होता रहा धीरे–धीरे इस पर मुगलों का प्रभाव होने लगा। मेवाड़ चित्रकला की प्राचीनतम उपलब्ध कलाकृति 'रूपासना चर्यम्' (1423ई.) है। इसका उल्लेख विजयवल्लभ सूरी स्मारक ग्रन्थ मे हुआ है। इस शैली के मुख्य केन्द्र– चित्तौड़, मेवाड़, नाथद्वारा तथा उदयपुर थे। उदयपुर की सचित्र प्रति ''कृष्ण द्वारा राधा की प्रतीक्षा'' (17वीं शती) तथा ''भागवत'' में, मेवाड़ शैली के सर्वोच्च रूप के दर्शन होते है?

1260 ई. का ''श्रावकप्रतिक्रगण सूत्रचूर्णि'' और 1423 ई. का ''सुपासनाचार्यम्'' ग्रन्थों के चित्र तत्कालीन चित्रशैली पर पर्याप्त प्रकाश डालते है। इस शैली की मुख्य विशेषता थी– गरूड़ जैसी लम्बी नाक, कौड़ी सी फटी आंखे, जिसमें एक आंख चेहरे की सीमा से बाहर अधर मे लटकी हुई, घुमावदार लम्बी अंगुलियां, चटकदार सीमित (लाल, पीला, काला) रंग, छाया और प्रकाश का नितान्त अभाव आदि। पुरूष आकार में विशाल वक्ष व शेर के समान कटि बनाई गई है और स्त्री आकृतियों में उसकी उभरी हुई गोल छातियां, तीखी नाक व छोटी ठुड्डी दिखाई गई है। मगर 16वीं सदी में इस शैली में परिवर्तन के साथ अब चेहरे में सुघड़ता आने लगी। रंगों में विविधता आंखे मछली के समान तथा अंगुलियां नेत्रों के समान वाचाल हो गई। 17वीं सदी तक आते आते इस शैली का पूर्ण विकास हो चुका था। महाराणा अमरसिंह द्वारा 1605 ई. में चावण्ड में तैयार करवाया गया ''रागमाला'' इसका प्रमाण है। 1615 ई. में मेवाड़ द्वारा मुगलों के सम्बन्ध के साथ ही इस शैली पर मुगल प्रभाव दिखाई देने लगा। 1628–52 ई. तक महाराणा जगत सिंह के काल में राधा–कृष्ण के चित्रों को अंकित किया। साहेबदीन द्वारा चित्रित भागवत पुराण, मनोहर द्वारा रामायण का चित्रण (1649), 1651 की 'आर्य रामायण'' आदि मेवाड़ शैली के प्रसिद्ध चित्र है। 1652 ई. में राजसिंह एवं 1680–98 ई. में जयसिंह के काल में मेंवाड़ शैली अपनी उन्नति के शिखर पर पहुंच गई।

17वी शती के अन्त तक मेवाड़ शैली में परम्परागत सौन्दर्य की कमी, कलाध्येयों की कमी तथा व्यापार भावना की वृद्धि हो चली। अब इस कला का विस्तार राजाओं के अतिरिक्त सामन्तों, धनिकों और आचार्यों तक हो गया। ''भक्तिरत्नावली', 'पृथ्वीराजरासो', 'दुर्गामहात्म्य'' और ''पंचतंत्र'' पर आधारित चित्रों के अतिरिक्त यूरोपीय शैली पर आधारित चित्र भी बनने लगे है। 'नायिकाभेद', 'बारहमासा' तथा 'रागमाला' के चित्र भी निर्मित होते रहे।

मेंवाड़ शैली में पुरूष एंव नारी चित्रण के साथ–साथ पशु पक्षियों को विशेष स्नेह के साथ चित्रित किया जाता था। मेवाड़ शैली में आलेख्य स्थान को घटना के अनुरूप कई खण्डों में बांटकर, प्रत्येक खण्ड स्वयं में एक स्वतन्त्र संयोजन होता था किन्तु सभी खण्ड मिलकर चित्र को पूर्ण संयोजन प्रदान करते थे। 18वी शताब्दी में व्यक्ति चित्र दरबारी दृश्य, हरम की झांकियां, सवारी, आखेट आदि दृश्य बहुलता से चित्रित किये जाने लगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.5.2 मारवाड़ चित्रकला शैली – मारवाड़ चित्रकला शैली भी बहुत प्राचीन है। जोधपुर मारवाड़ी चित्र संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। मारवाड़ी चित्र शैली पर जैन चित्र कला का पर्याप्त प्रभाव था। मारवाड़ चित्रकला शैली का वास्तविक विकास राव मालदेव (1531–62ई.) के समय में हुआ। उसके समय में जोधपुर दुर्ग में चोकोलाव महलों को राम–रावण युद्ध तथा सप्तशती के चित्रों से चित्रित किया गया। इन चित्रों में भावों की अभिव्यक्ति तना हुआ दृढ़ चेहरा, मछली की सी आंखे तथा गोलाकृति मे पेड़ पौधों का चित्रण आदि प्रमुख विशेषता थी। 1583–95ई में इस शैली पर मुगल प्रभाव पड़ने लगा। 1610ई. का भागवत पुराण का चित्र, गोपिकाओं के चित्र आदि पर मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। "ढोला मारू" के चित्रों मे ढोला की पगड़ी जहांगीरी शैली की तथा सम्पूर्ण चित्र स्थानीय शैली में बनने लगा। 1616–20ई. में बना 'बिलाबल रागिनी' इस शैली का चित्र है। जसवन्त सिंह के काल में बने चित्रों में तत्कालीन प्रचलित प्रेम कथाओं का चित्रण, रागमालों का चित्रण धार्मिक चित्रण आदि महत्वपूर्ण थे यद्यपि इन चित्रों पर मुगल प्रभाव स्पष्टतः था। इन चित्रों में लाल, पीले, काले, नीले, और सुनहरे रंगों को विशेष प्रधानता दी गई। महाराजा अजीत सिंह (1708–24ई.) के काल के बने चित्रो मे तो स्पष्ट मुगल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मुगल हरम, फव्वारा, तुर्की स्नानागार आदि का चित्रण बहुलता से होने लगा। अभयसिंह (1724–50ई.) के समय मारवाड़ में नवीन राजपूत शैली का विकास हुआ। विनयसिंह व मानसिंह के काल में यह शैली श्रृंगार प्रधान हो गई। अभयसिंह और भीमसिंह तक के शासनकाल तक इस शैली का विकास अनवरत चलता रहा। इस समय बने चित्रों मे परिपक्वता और विषय की विविधता भी देखने को मिलती है। मारवाड़ चित्रकला शैली की प्रमुख विशेषताएं है– लम्बी आकृतियां, मुगलई वेशभूषा आदि। पुरूष आकृतियों में मुखमण्डल शौर्य छटा से ओत–प्रोत दिखाई देता था। आगे को निकली हुई नासिका, चमकदार आंखे, घनी दाढ़ी कान तक खिंची हुई बड़ी–बड़ी मुंछे व शिखराकार अलंकृत पगड़ियां इन चित्रों की प्रमुख विशेषता है। मारवाड़ शैली की आकृतियां कद में छोटी और बहुधा स्थूलकाय है सिर नीचे और गोल है तथा मस्तक पीछे की ओर झुके हुये है। नारी आकृतियां आभुषणों से सुसज्जित दर्शाई गई है। भवनो की शोभा के लिये मयूर एंव कुरजा पक्षियों को चित्रित किया गया है। मारवाड़ चित्र शैली के विषयों में ढोलामारू, रामकृष्ण की कथा, शिव पुराण तथा सामाजिक जन जीवन से सम्बन्धित चित्रों को दर्शाया गया है।

जोधपुर चित्र शैली के चित्रकारों में भाटी किशनदास, भाटी शिवदास, भाटी देवदास, कुम्हार गोपी, फतेहमुहम्मद आदि प्रमुख थे। इस शैली के चित्रों में शौर्य, त्याग, और प्रेम की छटा देखने को मिलती है।

23.5.3 बीकानेर चित्रकला शैली – राजपूत चित्र शैली की एक शाखा बीकानेर में उदित हुई। रायसिंह(1571–1611ई) के समय की मेघदूत की एक सचित्र पाण्डुलिपि मात्र मिलती है। यह प्रति बीकानेर शैली की कला की आरम्भिक अवस्था की द्योतक है। बीकानेर शैली के चित्रों का प्रौढ़रूप अनूपमहल तथ फूलमहल की सज्जा मे तथा चन्द्रमहल और सुजानमहल के द्वारों की चित्रकारी में दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त रागमाला और बारहमासा के दृष्टान्त भी उल्लेखनीय है। महाभारत, रामायण तथा कृष्ण लीला से सम्बन्धित विषयों को भी चित्रित किया गया। इस शैली की मुख्य विशेषताएं– स्त्री और पुरूष की वेशभूषा, मारवाड़, चित्र शैली जैसी ही है। केवल जोधपुर वाली दाढ़ी नहीं है। बीकानेर शैली पर प्रारम्भ में मुगल शैली और दक्षिण शैली का प्रभाव था लेकिन धीरे–धीरे इस पर जयपुर शैली और जोधपुर शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। यहां के अधिकांश चितेरे मुसलमान थे। राजपूत चित्रकला पहले रनिवासों, फिर सामन्तों और वहां से छोटे–छोटे स्थानीय केन्द्रों में पहुंची। मुगलों के प्रभुत्व की वृद्धि के साथ राजपूत दरबारों में मुगल शैली का प्रचलन हुआ। राजनीतिक परिवर्तनों ने कला के विकास को प्रभावित किया। 19वीं शती में अंग्रेजों के आगमन के समय राजाओं का जीवन विलासमय, युद्ध साहस और रूचियां क्षीण हो गई।

23.5.4 किशनगढ़ चित्रकला शैली – राजस्थान में किशनगढ़ चित्रकला शैली का एक विशेष स्थान है। किशनगढ़ चित्रशैली की बनी "बणीठणी" नारी आकृति विश्व में 'इण्डियन मोनालिसा' के नाम से विख्यात है। किशनगढ़ एक समय वल्लभ सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। राधाकृष्ण एंव कृष्णलीला सम्बन्धी अनेक चित्रों का निर्माण इसी भावना से होता रहा है। इस शैली के प्राचीन चित्रों में वल्लभाचार्य के चित्र है। राजा सहस्त्रमल (1616ई.) का चित्र कलात्मकता एंव प्राचीनता की दृष्टि से उल्लेखनीय इस शैली मे नारी सौन्दर्य का चित्रण एंव राधा का चित्रण अपनी मोहनी छवि के कारण समस्त राजस्थानी शैली के उत्कृष्ट चित्रों में माना जाता है। शुक नासिका, कमान की तरह भवे, मत्स्याकार आंखे आदि सभी श्रृंगार इस पूर्ण चित्र के पूरक अंग है।

किशनगढ़ शैली का उत्कर्ष राजा सांवतसिंह (1699–1764ई.) के काल में था। वह स्वयं भी चित्रकार थे तथा नागरीदास के नाम से विख्यात थे। इन्ही के शासनकाल में निहालचन्द नामक श्रेष्ठ चित्रकार ने राधा के रूप में बणी ठणी को चित्रित किया। पारदर्शी रंग, पक्का रेखण और श्रेष्ठ वर्गीकरण के माध्यम से निहालचन्द ने राजस्थानी चित्रकला को मोहक कला के शिखर तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पहुंचा दिया तथा अन्य चित्रों में कृष्णलीला के चित्र मुख्य है। निहालचन्द के अन्य चित्रों में दिपावली का चित्रण भी महत्वपूर्ण हें गीत गोविन्द का चित्रण भी इसी काल में हुआ! निहालचन्द के बाद नेगराम और रामलाल नामक चित्रकारों ने इस शैली को आगे बढ़ाया। इस शैली के अन्तर्गत राजा, महाराजाओं सामन्तों, संन्तों, गायकों, नायक–नायिकाओं आदि के छवि चित्रों का मुख्यतः अंकन हुआ है। इसके साथ ही प्रकृति चित्रण, उत्सव नौका–विहार आदि का भी अंकन समुचित मात्रा में किया गया है। इस शैली की प्रमुख विशेषताएं है– पुरुष की आकृति लम्बी, लम्बी नासिका, पतले अधर, श्वेत ऊँची पगड़ी आदि है तथा नारी आकृति में गौर वर्ण, खन्जनाकृति वाले नयन, पतले अधर, धनुषाकार भू रेखा तथा अंलकारों से सजी काया तथा परिधानों के ऊपर लम्बी लटकती मोतियों की लड़ों का चित्रण महत्वपूर्ण है।

23.5.5 जयपुर चित्रकला शैली – यह चित्रकला शैली– ''ढूंढार चित्र शैली'',''कच्छवाहा चित्रशैली'', ''आमेर चित्रशैली आदि विभिन्न नामों से जानी जाती है। मुगलों से सम्बन्ध होने के कारण हर क्षेत्र की तरह चित्रकला पर भी मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्रारम्भ में जयपुर चित्रकला पर भी मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्रारम्भ में जयपुर चित्रकला में हिन्दू धर्म से सम्बन्धित चित्र होते थे लेकिन धीरे–धीरे मुगल शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। 17वीं सदी में बने 'रसिकप्रिया' के चित्र में मुगल व स्थानीय शैली का प्रभाव दिखाई देता है। 17वीं सदी के अन्त में तथा 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कृष्ण उपासना से सम्बन्धित चित्रों का अंकन अधिक हुआ। इस काल के चित्रों में कृष्ण लीला, गोवर्धन धारण, गोवर्धन पूजा, रागमाला, बारहमासा आदि के चित्र उल्लेखनीय है। आसावरी रांगिनी के चित्र में शबरी की वेशभूषा व आभूषण आदि में जयपुर चित्रशैली की प्राचीनता देखी जा सकती है। सवाई जयसिंह (1700–43ई.) के काल के चित्रो में हिन्दू शैली की चमक पुनः दिखाई देने लगती है। इस शैली के चित्र जयपुर के महलों की भित्तियों पर स्पष्ट देखे जा सकते है। इस काल में बने चित्रों में आंखे बादाम की तरह तथा मोटे ओठ का अंकन अधिक मिलता है। सवाई रामसिंह के काल में पुनः मुगल प्रभाव दिखाई देता है इनके काल मे चित्रित सरस्वती देवी के चित्र मे हिन्दू देवी को मुगलों के सदृश्य दिखाया गया है।

मिर्जाजयासिंह, सवाई जयसिंह, सवाई प्रतापसिंह, रामसिंह आदि राजपूत राजाओं के शासनकाल मे जयपुर चित्रशैली का पर्याप्त विकास हुआ। जयपुर चित्रकला शैली की प्रमुख विशेषताओं में –पुरूष आकृतियों में पगड़ी, घेरदार चुन्नटी पायजामा, कमर पर पटका कसा हुआ दर्शाया गया है। गोल चेहरा, ऊँचा ललाट, गोलनाक, अधर मोटे, मीनाकृत आंखें, केश कन्धों तक लटकते हुये, पांवो मे पायल तथा जयपुरी जुतियों का चित्रण मिलता है। आसमानी आकाश में सफेद रूईदार बादल तैरते हुये बतलाए है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जयपुर की चित्रकला का युरोपीयकरण होने लगा था, परिणामस्वरूप जयपुरी कलम की आत्मा ही समाप्त हो गई।

23.5.6 बून्दी चित्रकला शैली– राजस्थान की चित्रकला में बून्दी चित्रकला शैली का महत्वपूर्ण स्थान है। बून्दी चित्रकला शैली का विकासक्रम 16वीं शताब्दी के उत्तराद्ध में राव सुर्जन के शासन काल मे प्रारम्भ होता है। 1625ई. में इस शैली पर मेवाड़ी प्रभाव पड़ा जिसका चित्रण 'रागमाला' एंव 'रागिनीभैरव' नामक दो चित्रों में स्पष्ट दिखाई देता है। रागिनी भैरव मे तीन शैलियों (मेवाड़ी, स्थानीय एंव माण्डू (मध्य भारत)) का सामन्जस्य अंकित है।

'बसन्त रागिनी' में बूंदी शैली के साथ मुगल शैली की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इसी प्रकार 'वासुकसज्जा नायिका' में भी बगीचे का सौन्दर्य बूंदी शैली पर तथा चित्र की बनावट एंव डिजाइन मुगल शैली पर आधारित है। महाराव उम्मेदसिंह के काल में बूंदी चित्रशैली अपने समृद्धि के शिखर पर पहुंच गई थी। इस काल मे बने चित्रों के काले बादल, झूमते हाथी, नाचते मोर बहते हुए झरने तथा पहाड़ों पर घूमते शेरों का अंकन बड़ी सुन्दरता से किया है। काले तथा नीले रंग की अधिकता देखने को मिलती है। महाराव विशनसिंह के काल में शिकार के दृश्य, रामसिंह के काल में विष्णु पूजा का अंकन अधिकता में मिलता है। बूंदी शैली के चित्रों में 'गजलक्ष्मी' महत्वपूर्ण है, बूंदी शैली के अंतिम चित्रों पर कम्पनी शैली का प्रभाव देखने को मिलता है

बूंदी चित्रकला शैली के चित्रकारों में सुरजन, अहमद अली, रामलाल, श्री किशन, साधुराम आदि के नाम ख्याति प्राप्त है। बून्दी चित्रकला शैली की प्रमुख विशेषता है– संघन प्राकृतिक सुन्दरता। लाल, सफेद एवं पीला, हरे रंगों का संयोजन बहुत ही आकर्षक दिखाया गया है। मानव आकृतियों में कद लम्बा और बदन स्फूर्तिमय दर्शाया गया है स्त्रियों के गोल चेहरे, आम्रपत्राकृति आंखे, पतले होठ, छोटी नासिका काले रंग के लहंगे तथा लाल चुनरी महत्वपूर्ण रूप से अंकित है। रागरागिनी नायक, नायिका, बारहमासा, ऋतु चित्रण, दरबार दृश्य, होली, तीज त्यौहार, शिकार आदि को यहां के चित्रकारों ने अपनी विषय वस्तु बनाया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.5.7 कोटा चित्रकला शैली – कोटा राज्य की स्थापना बूंदी के राव रत्नसिंह के द्वितीय पुत्र माधोसिंह ने किया परिणामस्वरूप कोटा चित्रशैली पर बूंदी चित्रशैली एवं मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इस शैली में स्त्रियों के चित्र प्रतिमा के समान दिखाई देते है जो या तो शीशे में अपना मुंह देख रही है या वृक्ष की डाली पकड़े हुये है, सिर के बाल काफी ऊँचाई से आरम्भ होते है तथा अस्वाभाविक रूप से लम्बे दिखाये गये है, जिससे उनका ललाट काफी चौड़ा दिखाई देता है। आंखों का चित्रण खन्जनाकृति के समान तथा नाक छोटी बनी मिलती है। वक्ष स्थल काफी ऊँचा उठा हुआ, कमर अत्यधिक पतली तथा ठुड्डी गोल एवं अत्यधिक आभूषणों का अंकन मिलता है।

कोटा नरेश उम्मेद सिंह के समय कोटा शैली की उन्नति हुई। व्यक्ति चित्रों के अतिरिक्त पशु एवं प्रकृति दृश्यों का भी अंकन किया गया है। हरे रंग की पृष्ठभूमि मे गुलाबी और भूरे रंगों का समन्वय कोटा शैली की नवीनता को व्यक्त करता है। इसी काल में बने एक चित्र में शिकार का दृश्य है जो अत्यन्त सजीवता लिये हुये है। यह चित्र विक्टोरिया एवं एल्बर्ट म्यूजियम, लन्दन में सुरक्षित है। इस चित्र मे वृक्ष, शेर, बन्दूक लिये दो दरबारी का अंकन है

कोटा चित्रशैली मे श्री नाथ जी की पूजा के भी चित्र मिले है। कोटा चित्रों मे हाथियों की लड़ाई, स्वस्तिक, मंगलकलश,, तोते एवं मोर के चित्र विशेष उल्लेखनीय है। नारी चित्रण मे तीखे रंगों का प्रयोग अधिक किया गया है। चित्रों के किनारे लाल रंग, काले रंग और सुनहरे रंगो से बनाये जाते थे गहरे नीले रंग व हरे रंग का प्रयोग भी अधिकता से मिलता है।

महाराव रावसिंह के काल में कोटा शैली पर विदेशी प्रभाव पड़ने लगा इसी प्रकार महाराव छत्रसिंह के काल में भी यद्यपि सुन्दर चित्र बने लेकिन इन में यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा।

कोटा चित्र शैली के उदाहरणों में उत्कृष्ट भित्ति चित्र, देवता जी की हवेली, झल्ला जी की हवेली और राजमहल आज भी महत्वपूर्ण है।

23.5.8 अलवर चित्रकला शैली – अलवर म्युजियम की कला दीर्घा में मुगल सम्राटों व उनके अधिकारियों के चित्र और राग–रागिनी के चित्र अलवर शैली में देखें जा सकते है। अलवर शैली पर भी मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इस शैली में गणिकाओं के चित्र अत्यन्त आकर्षक बनाये जाते थे। बैल–बून्टो का प्रयोग करने में यहां के चित्रकार निपुण थे। हाथी दान्त पर राजा–रानी के मुखों की सुन्दर आकृतियां बनाई जाती थी। अलवर चित्र शैली के विकास मे राव, राजा बख्तावर सिंह, विजयसिंह, शिवदान सिंह, आदि का योगदान उल्लेखनीय है। बलदेव, शालीगराम, डालचन्द आदि यहां के प्रसिद्ध चित्रकार थे।

23.5.9 नाथद्वारा चित्रकला शैली – नाथद्वारा मेवाड राज्य से सम्बन्धित होते हुये भी नाथद्वारा के चित्र मेवाड़ शैली से भिन्न अपनी विलक्षणता लिये हुये है 1671ई. जब ब्रज से श्रीनाथ जी की मूर्ति यहां लाई गई तब ब्रज के अनेक चित्रकार यहां आकर बस गये। इन्होंने आजीविका चलाने के लिये श्रीनाथ जी की छवि के चित्र एवं कृष्ण लीला के चित्र बनाने लगे। ऐसे में उत्तरी भारत से भी चित्रकार यहां आने लगे परिणामस्वरूप एक नई शैली नाथद्वारा शैली का प्रादुर्भाव हुआ। 18वीं शताब्दी में बने चित्रों में श्रीनाथ जी यमुना स्नान, हिन्डौला (कृष्ण के बाल स्वरूप को झुले में दिखाना), जन्माष्टमी, अन्नकुट आदि उत्सवों के चित्र उल्लेखनीय है। 19वीं शताब्दी के अन्त में नाथद्वारा शैली व्यवसायिक चित्र कला की ओर उन्मुख हो गई फलस्वरूप उन चित्रों में मौलिकता होते हुये भी, वह रोचकता नहीं रही जो हमें 18वीं शताब्दी के चित्रों में दिखाई देती है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– मेवाड़ चित्रकला शैली पर संक्षिप्त में अपने विचार व्यक्त कीजिये? (30 शब्द सीमा)

उतर–...

23.6 राजपूत चित्रकला शैली की विशेषताएं

राजस्थान के शूरवीरों ने जहां एक ओर अपनी वीरता का परिचय दिया वहीं दूसरी संस्कृति को जीवित रखने हेतु अन्य महत्वपूर्ण कार्य किये इनमें कला को प्रश्रय भी दिया। राजपूत राजाओं ने कला में रूचि दिखाते हुये चित्रकला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। परिणामस्वरूप राजपूताना के अधिकांश क्षेत्रों में चित्रकला का पूर्ण विकास हुआ और प्रत्येक स्थान की शैलीगत विशेषता उस स्थान विशेष चित्रकला शैली में परिलक्षित होती है जैसे– मेवाड़ शैली, मारवाड़ शैली, कोटा बून्दी शैली,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किशनगढ़ शैली, बीकानेर शैली आदि। फिर भी राजपूत चित्रकला शैली की कुछ अलग विशेषताएं रही है जो इस प्रकार है–

(1) राजपूत चित्रकला शैली भारतीय मूल की है और उसका प्रारम्भ भित्ति चित्रों से हुआ। उसके प्रतिमान और तकनीक भी भारतीयता से ओत–प्रोत है।

(2) प्रत्येक राजपूत शैली का प्रारम्भ लगभग 15वीं शती के उत्तरार्ध से 16वीं शती के पूर्वार्ध में तथा 18वीं शताब्दी तक पूर्ण विकास हो चुका था।

(3) राजपूत चित्रकला के कलाकारों ने अपने चित्रों का विषय जन साधारण को माना। उनके चित्रित विषय होते थे– शिकार, छपाई करता रंगसाज, जुलाहा, कृषक, प्रेमी प्रेमिका, दरबार, युद्ध, जंगल, प्रकृति आदि।

(4) इस शैली के चित्रों में काव्यमयी कल्पना की अभिव्यक्तियों का आधिक्य है। कृष्ण के लीलामय रूपों एवं ब्रजभूमि के सुन्दर दृश्यों से धार्मिक निष्ठा तथा सौन्दर्य बोध झलकता है।

(5) नारी का चित्रण राजपूत चित्रकारों ने आदर्श रूप– ममतामयी ममता, श्रृंगार रूप में किया है।

(6) राजपूत चित्रकला शैली में वैष्णव व शैव दोनों सम्प्रदायों से सम्बन्धित चित्रों का अंकन मिलता है इसके अलावा पौराणिक कथाएं, महाकाव्यों के भी चित्र अंकित मिले है।

(7) चित्रों की वर्ण योजना एंव अलंकरण यार्थवादी नहीं है बल्कि राजस्थानी घाघरे, ओढ़नी, लहंगे को चित्रकार ने रूचि से प्रदर्शित किया है।

(8) राजपूत चित्रशैली में आदर्शमय हिन्दू जीवन की पौराणिक परम्पराओं के साथ ही सौन्द्रर्य का भी समावेश था। इस शैली में सूर, तुलसी, मीरा की वाणियों का प्रभाव होने के साथ ही ऐहिक प्रेम वर्णन में भी पारलौकिक प्रणय की छाप है।

(9) राजपूत चित्रकारों ने आध्यात्मिक प्रेम भावना के साथ राधा कृष्ण एवं गोपियों का चित्रण किया है।

(10) इस शैली के चित्रों में चितेरों का नाम नहीं मिलता है।

(11) राजपूत चित्रकला शैली के चित्रों का विस्तार कुछ नगरों तक नहीं होकर विस्तृत भूभाग में था जिसमें राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश व हिमाचल प्रदेश सम्मिलित थे।

(12) इस शैली के चित्रों में विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

(13) इस शैली के चित्र प्रायः दीवार पर अंकित है किन्तु कागज पर वह छोटे आकार के होते है।

23.7 सारांश

इस तरह राजस्थान की समस्त शैलियों में विभिन्नता होते हुये भी सभी में मौलिक एकता दिखाई देती है। प्रारम्भ के चित्रों में सभी शैलियों में अजन्ता परम्परा शैली के दर्शन किये जा सकते है। विषयों के चयन में राग रागिनी, बारहमासा, भागवत पुराण, रामायण, गीतगोविन्द राधाकृष्ण रासलीला आदि सभी शैलियों में पाये जाते है। श्रृंगारी चित्र भी सभी शैलियों के प्रमुख विषय रहे है। सभी राज्यों की शैली मुगल शैली से प्रभावित रही है। कुछ विद्वान तो राजस्थानी चित्रकला शैली की उत्पति ही मुगल कला से मानते है। लेकिन इसमें पूर्णतया सत्य नहीं है। राजस्थान के चित्रकारों ने सदैव प्रसिद्धि की भावना से कला की सेवा की है और यही उनकी मौलिकता और सम्पन्नता का प्रमुख कारण है इसलिये राजस्थानी, चित्रकला के नमूने आज भी कला प्रेमियों के आकर्षण का केन्द्र है।

23.8 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न– 1 'निहालचन्द' नामक चित्रकार किस प्रसिद्ध राजपूत चित्रकला शैली से सम्बन्धित था।

(अ) मेवाड़ शैली (ब) कोटा शैली

(स) बीकानेर शैली (द) किशनगढ़ शैली

प्रश्न– 2 राजपूत चित्रकला के वैशिष्ट्य को समझाइये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 राजपूत चित्रकला की विभिन्न शाखाओं तथा शैलियों का निबन्धात्मक वर्णन करिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–5

इकाई–24 : भक्ति आन्दोलन एवं उसका भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

संरचना

24.0 प्रस्तावना
24.1 उद्देश्य
24.2 भूमिका
24.3 'भक्ति 'की परिभाषा
24.4 'भक्ति ' का उद्भव
24.5 'भक्ति आन्दोलन' की पृष्ठभूमि
24.6 भक्ति आन्दोलन के उदय के कारण
 24.6.1 सामाजिक कारण
 24.6.2 धार्मिक कारण
 24.6.3 सूफी मत का प्रभाव
24.7 भक्ति आन्दोलन के उद्देश्य
24.8 भक्ति आन्दोलन के सिद्धांत
24.9 भक्ति आन्दोलन का प्रसार
 24.9.1 शंकराचार्य
 24.9.2 रामानुजार्य
 24.9.3 माध्वाचार्य
 24.9.4 वल्लभाचार्य
 24.9.5 निम्बार्काचार्य
 24.9.6 नामदेव
 24.9.7 रामानन्द
 24.9.8 कबीर
 24.9.9 गुरूनानक
 24.9.10 चैतन्य महाप्रभु
 24.9.11 मीरा
 24.9.12 तुलसीदास
 24.9.13 रैदास
 24.9.14 पीपा
24.10 भक्ति आन्दोलन का प्रभाव
24.11 भक्ति आन्दोलन का महत्व
24.12 भक्ति आन्दोलन की विशेषताएं
24.13 सारांश
24.14 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

24.0 प्रस्तावना

मध्यकालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने भारतीय जन जीवन में एक नवीन चेतना का बीजारोपण किया इस समय समाज में अनेक कुरीतियां तथा धर्म में बाहृय आडम्बर भरा था समाज में ऊच–नीच की भावना विद्यमान थी ऐसे में विभिन्न धार्मिक सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने मुस्लिम प्रभाव के कारण तथा भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों तथा धर्म में आये आडम्बरों को अपने उपदेशों से दूर करने का प्रयास किया इन सन्तों में शंकराचार्य, रामानुज, निम्बकाचार्य, माधवाचार्य, तुलसीदास, मीरा, दादू, पीपा, रेदास आदि प्रमुख थे इन्होंने एक ईश्वर पर अपना विश्वास प्रतिपादित किया तथा कर्म, आत्मा, वचन से शुद्ध एवं पवित्र आचरण पर बल दिया। इन सन्तों ने समाज सुधार के भी अनेक प्रयास किये और मध्यकाल की यह घटना 'भक्ति आन्दोलन' के नाम से विख्यात हुई।

24.1 उद्देश्य

भारत में मुसलमानों की विजय के बाद हिन्दूओं का अस्तित्व ही संकट मे पड़ गया और निराशा और पलायनवाद की जो भावना हिन्दूओं में घर कर गई थी वह भक्ति भावना के प्रसार में सहायक हुई। मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन लगभग समस्त उत्तरी भारत मे गूंज उठा। इस पाठ का मुख्य उद्देश्य पाठकों को भक्ति आन्दोलन के बारे में जानकारी विशेष रूप से इन बिन्दुओं के आधार पर देना है –

- भक्ति आन्दोलन के विभिन्न सन्तों का महत्व
- विभिन्न सन्तों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तान एंव विचार तथा सामाजिक सुधार
- भक्ति आन्दोलन के सिद्धान्त, उद्देश्य, महत्व, प्रभाव आदि।

24.2 भूमिका

मध्यकालीन भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक देन भक्ति आन्दोलन है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार भारत में मुसलमानों के प्रवेश के बाद शताब्दियों के अनुसार भारत में मुसलमानों के प्रवेश के बाद शताब्दियों तक इस्लाम और हिन्दू धर्म के पारस्परिक सम्पर्क के महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इस्लाम के आगमन पर हिन्दुओं की बौद्धिकता और आध्यात्मिकता प्रतिक्रिया 'भक्ति आन्दोलन' के रूप में प्रकट हुई। भक्ति आन्दोलन एक देश व्यापी आन्दोलन था। मध्यकाल में यह भक्ति आन्दोलन बहुत ही व्यापक हो गया और लगभग समस्त उत्तरी भारत में भक्ति का स्वर गूंज उठा। प्रारम्भ में इस आन्दोलन का नाम एकान्तिक धर्म था बाद में यह भक्ति आन्दोलन के नाम से विख्यात हो गया।

24.3 'भक्ति 'की परिभाषा

'भक्ति' शब्द संस्कृत की ''भज सेवा याम'' धातु से बिना है। भक्ति का अर्थ है भगवान की सेवा करना। ''सा परानुरक्तिरीश्रे शाण्डिल्य भक्तिकूल।'' अर्थात् ईश्वर में अतिशय अनुराग ही का नाम 'भक्ति' है। देवर्षि नारद ने भक्ति का लक्षण यह बतलाया है कि ''अपने सब कर्मो को भगवान को अर्पण करना और भगवान का थोड़ा सा विस्मरण होने से परम् व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति है।'' नारद भक्ति सूत्र में भगवान में अनन्य प्रेम को ही भक्ति कहा है और ईश्वर का परम् प्रेम ही भक्ति है। आचार्यो ने भक्ति के दो प्रकार– गौणी भक्ति और पराभक्ति बताये है। भक्ति साधनों में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन।

24.4 भक्ति का उद्‌भव

भक्ति का उद्‌भव किस प्रकार हुआ विभिन्न विद्वानों में विभिन्न मत है। पाश्चात्य विद्वान वेबर के अनुसार मोक्ष का साधन भक्ति विदेशी प्रभाव की एक देन है। भारतवर्ष में इसका प्रवेश ईसाई धर्म के साथ हुआ क्योंकि ईसाई धर्म का स्पष्ट प्रभाव पुराणों तथा महाकाव्यों पर दिखाई देता है। डॉ. ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में लिखा है कि ''बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दु यह नहीं जानता कि यह बात कहां से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता।

बेवर तथा ग्रियर्सन के विपरित सेनार्ट ने कहा कि भक्ति का प्राुदर्भाव भारतवर्ष में हुआ। वैदिक साहित्य में इसकी पुष्टि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के अनेक प्रमाण उपलब्ध है। आर्य लोग शिव, विष्णु की उपासना करते थे। डॉ. युसुफ हुसेन ने भी भक्ति को भारतीय उपज स्वीकार किया है उन्होंने कहा भक्ति आन्दोलन रूढिवादी सामाजिक तथा धार्मिक विचारों के विरूद्ध हृदय की प्रतिक्रिया तथा भावों का उद्‌गार है।

इस तरह अलग–अलग विद्वानों ने अलग–अलग मत व्यक्त किये है। संक्षिप्त में कह सकते थे हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों की खुदाई में कुछ मूर्तियों के अवशेष मिले है, जिस से इस बात की पुष्टि होती है कि उस युग में शिव तथा देवी की आराधना की जाती थी। इस प्रकार भक्ति का उद्‌भव स्थल सिन्धु का होना नितांत सत्य है। इस प्रकार विष्णु की भक्ति भावना का विकास उत्तर तथा दक्षिण भारत में आर्यो तथा द्रविड़ों ने समाज रूप से अपनाया।

इस प्रकार भक्ति आन्दोलन को दो चरणों में– पहला भगवद्‌गीता काल से तेरहवीं सदी तक तथा दूसरा तेरहवीं सदी से सोलहवीं सदी तक, विभक्त कर सकते है। द्वितीय चरण में इस्लाम तथा हिन्दू धर्म का पारस्परिक सम्बन्धों के फलस्वरूप नवीन विचारों का उद्‌गार हुआ। इस इकाई में इसी भक्ति आन्दोलन पर विस्तार से विवेचन की जायेगी।

24.5 भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि भक्ति के अंकुर सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध हो जाते है। सिन्धु सभ्यता के प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि उस युग के लोग मूर्तिपूजक थे। वैदिक युग के आर्य विविध प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करते थे पौराणिक युग से लेकर गुप्त काल तक भक्ति का अलग रूप सामने आने लगो। महान धर्म सुधारक शंकराचार्य ने तर्क और बुद्धि के आधार पर हिन्दू अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित की और बौद्ध धर्म का विरोध किया इन्होंने ज्ञान मार्ग को प्राथमिकता दी रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन कर एक नया मत विशिष्टाद्वैत प्रतिपादित किया। इसी समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ और मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई जो भारतीय धर्म और संस्कृति के बहुत से मूल्यों और मान्यताओं के लिये बड़ी चूनौति सिद्ध हुआ। भक्ति आन्दोलन का जन्म इस्लाम के आगमन या मध्ययुगीन निराशाजनक वातावरण का परिणाम भी हो सकता हैं लेकिन कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि यह तो प्राचीनकाल से चली आ रहीं भक्ति का नया रूप है। केवल तत्कालीन परिस्थितियों ने इसे व्यापक आधार प्रदान करने में अवश्य सहयोग दिया। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "हिन्दुओं में व्याप्त प्रबल असन्तोष भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति का कारण बना।

24.6 भक्ति आन्दोलन के उदय के कारण

भक्ति आन्दोलन भारतीय इतिहास की एक क्रान्तिकारी घटना कही जा सकती है। यह आन्दोलन कई कारणों का परिणाम था जो इस प्रकार है–

24.6.1 सामाजिक कारण – भारत में इस्लाम के आगमन के साथ ही यहां हर क्षेत्र में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। ये मुस्लिम शासक निरंकुश थे अतः इन्होंने हिन्दूओं को राजनीति धार्मिक एवं सामाजिक प्रत्येक सुविधाओ से वंचित कर दिया बाद में भक्ति आन्दोलन का कारण बना। हिन्दूओ के साथ बदस्लूकी का व्यवहार किया जाता और वे अपने ही देश में विदेशी बनकर रह गये। इधर समाज में भी जातिय कट्टरता थी ऊचनीच की भावना ने निम्न वर्ग की स्थिति को और अधिक दयनीय बना दिया था उनके लिये मन्दिर, शिक्षा, ऊँचे पद, सम्मान सभी की प्राप्ति के मार्ग बन्द थे ऐसे में ये पराधीन, निराश हिन्दू जनता ने सही मार्ग खोजने के लिये सर्वशक्तिमान ईश्वर की शरण लेना ही उचित समझा तथा भक्ति को इसका माध्यम बनाया।

24.6.2 धार्मिक कारण – भक्ति आन्दोलन के उदय के धार्मिक कारण के दो पहलू थे पहला था हिन्दू धर्म की जटिलता अर्थात् इस समय तक हिन्दू धर्म में बाहय आडम्बर, ब्राह्मणवाद का बोलबाला था। कर्मकाण्ड के लिये ब्राह्मण अत्यधिक धन की मांग करता ऐसे में गरीब जनता उस धर्म को निभाने में असमर्थ होती ऐसे में उन्हें एक अतः धर्म की आवश्यकता महसूस हुई जो सरल एंव स्वाभाविक और ऐसी परिस्थिति में प्रेम मिश्रित ईश्वर भजन आन्दोलन या भक्ति आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला।

धार्मिक कारण का दूसरा पहलू था मुस्लिम आक्रमणकारियों का हिन्दू जनता पर आत्याचार। इन मुस्लिम शासकों ने धार्मिक कट्टरता दिखाते हुये अनेक मन्दिरों एंव देव मूर्तियों को नष्ट किया। उस समय पूजा का प्रचलन था हिन्दू मान्यतानुसार देव मूर्ति पूजा करके व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर सकता लेकिन जब मुस्लिम शासकों ने उनके मन्दिरों और मूर्तियों को ही ध्वस्त कर दिया तो अब वे भक्ति एवं उपासना के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने के लिये बाध्य हो गये और भारत में इस्लाम धर्म के आगमन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से इस आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला।

24.6.3 सूफी मत का प्रभाव – सूफी मत ने भक्ति आन्दोलन की उत्पति में बहुत सहयोग दिया। उनके सूफी सन्तों ने उदारता तथा प्रेम के साथ एकेश्वरवादी इस्लाम का प्रचार किया तो हिन्दूओं पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। ये सूफी सन्त उदारता, सहिष्णुता तथा प्रेम से अपने धर्म का प्रचार करते थे। अतः हिन्दुओं में अपने धर्म में बाह्य आडम्बरों, कर्मकाण्डों को दूर करने की इच्छा जागृत हो गई।

बोध–प्रश्न

प्रश्न–भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (30 शब्द सीमा)

उत्तर...

24.7 भक्ति आन्दोलन के उद्देश्य

भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन भारत में एक परिवर्तन का आन्दोलन था इसके मुख्य उद्देश्य निम्न कहे जा सकते है।

(1) हिन्दू धर्म में व्याप्त दोषों को दूर करना

(2) हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति, धर्म, समाज में आपसी सामन्जस्य स्थापित करना।

24.8 भक्ति आन्दोलन के सिद्धान्त

भक्ति आन्दोलन का स्वरुप सरल एंव पवित्र था। ईश्वर के प्रति सच्चे हृदय से भक्ति ही इसका मुख्य आधार था। इस आन्दोलन ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद आदि का विरोध किया तथा ईश्वर की एकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया इस आन्दोलन ने ऊँच नीच छुआछुत की भावना का त्याग कर समानता के भाव का प्रतिपादन किया। भक्ति आन्दोलन के अनुयायियों ने राम, कृष्ण, शिव, रहीम, करीम, अल्लाह आदि को उस एक ईश्वर के ही विभिन्न नाम बताये। प्रत्येक धर्म ने अपना एक ईश्वर माना है लेकिन हकीकत में सभी ईश्वर अल्लाह एक है ऐसा भक्ति आन्दोलन के अनुयायियों का मानना था। इन अनुयायियों का एक अन्य सिद्धान्त आत्म समर्पण की भावना था उनका कहना था कि काम क्रोध, लोभ, माया आदि का त्याग करके ईश्वर ज्ञान तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। उनका सिद्धांत था कि बिना गुरू के ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है अतः गुरू के आशीर्वाद तथा शुभकर्मो से व्यक्ति ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। ये सब करने के लिये मनुष्य को प्राणी मात्र के प्रति भ्रातृत्व भाव एंव समानता का व्यवहार करना चाहिये। मनुष्य कर्म, वचन, मन की पवित्रता से ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। भक्तिमार्गी सन्तों ने लोकभाषा के माध्यम से भजन, गीत और दोहों के सहारे लोगो के उपदेश दिया।

24.9 भक्ति आन्दोलन का प्रसार

भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव मूलतः दक्षिण भारत में हुआ, किन्तु धीरे–धीरे यह आन्दोलन देश के अन्य भागों में भी फैल गया। बंगाल में इसके प्रवर्तक जयदेव, चैतन्य महाप्रभु, उतर प्रदेश में रामानन्द, कबीर, पंजाब में गुरूनानक तथा कश्मीर में नन्द बाबा थे। यह निर्विवाद सत्य है कि भक्ति आन्दोलन प्राचीन है किन्तु मध्यकाल में यह एक नये रूप मे प्रसारित हुआ। यह एक योजनाबद्ध तरीके से चलने वाला आन्दोलन नहीं था बल्कि समय–समय पर धर्म में व्याप्त बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया गया और इसी सामुहिक प्रयास को भक्ति आन्दोलन की संज्ञा दी गई। भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त निम्नलिखित है–

24.9.1 शंकराचार्य – भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि शंकराचार्य ने तैयार की थी। उन्होने वेदान्त सूत्र की व्याख्या करके सभी धार्मिक समस्याओं का समाधान तर्क के आधार पर किया। वे वेदान्त और उपनिषद् के प्रबल समर्थक थे। ब्रह्म के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद का था। अद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर अपरिवर्तनीय, निराकार तथा सत्य है।

शंकराचार्य दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के प्रथम प्रवर्तक थे। वे केवल दार्शनिक ही नहीं अपितु उच्च कोटि के सुधारक भी थे उन्होंने देश के विभिन्न भागों में चार मठ स्थापित किये ये मठ पूर्व में जगन्नाथपुरी, पश्चिम में द्वारिका, उत्तर में बद्रीनाथ तथा दक्षिण में श्रृंगेरी नामक स्थानों पर बनवाये गये। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरूध चार सम्प्रदायों का उदय हुआ जो है– श्री सम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रूद्र सम्प्रदाय, सनकादिक सम्प्रदाय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

24.9.2 रामानुजाचार्य – इन्हे मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का जन्मदाता कहा जाता है। इनका जन्म श्री रंगम के आचार्य परिवार में हुआ था। वे दक्षिण के वैष्णव आचार्य थे। ये शेषनाग के अवतार समझे जाते थे। इन्होने ईश्वर जगत तथा जीव को अनादि तथा ईश्वर पर आश्रित माना। इन्होने वेदान्त दर्शन नर अपना भाष्य लिखा जिसे 'श्री भाष्य' कहते है। इनके अनुसार ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जगत्) से विशिष्ट है इसलिये इनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता थी कि इन्होने शूद्रों को भी वैष्णव धर्म की दीक्षा लेने का अधिकार प्रदान किया। इस सम्प्रदाय में खान–पान, आचार–विचार पर बड़ा जोर दिया जाता है।

रामानुज ईश्वर की एकता में विश्वास रखते थे। वे आत्मा और प्रकृति को ईश्वर का अंग मानते थे। इन्होने ज्ञान मार्ग का खण्डन करते हुये भक्ति मार्ग के अनुसरण पर बल दिया।

24.9.3 माध्वाचार्य – इनका जन्म कन्नड़ जिले के उड़ीसी नगर में हुआ था। ये शारीरिक दृष्टि से बहुत शक्तिशाली थे तथा विष्णु के उपासक थे। इन्होने 25 वर्ष की आयु में सन्यास ले लिया। इनमें वाद–विवाद करने की अद्भुत क्षमता थी। इन्होने एक नवीन "द्वैतवाद" का प्रतिपादन किया और कहा कि जीव तथा जगत ईश्वर से सर्वथा भिन्न होते हुये भी उसी पर आश्रित है। उन्होने ईश्वर को सर्वगुण सम्पन्न एवं सर्वशक्तिमान माना। ईश्वर के प्रति समर्पण पर विशेष जोर दिया।

24.9.4 वल्लभाचार्य – ये रूद्र सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे जिसके प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे। इन्होने कृष्ण भक्ति पर बल दिया। इन्होने वेदान्त की व्याख्या की तथा इनकी मान्यता थी कि जीव ब्रह्म के समान सत्य है। उन्होने तत्कालीन समाज में कृष्ण भक्ति का उपदेश दिया तथा शान्ति प्राप्त करने के लिये ईश्वर की भक्ति में लीन होना आवश्यक बताया। इस सम्प्रदाय के अन्य सन्त थे – गोसाई विट्ठलनाथ, सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास आदि।

24.9.5 निम्बार्काचार्य – यह सम्प्रदाय (सनकादि सम्प्रदाय) अब केवल उत्तर भारत मे ही प्रचलित है। इस सम्प्रदाय की एक नाम मात्र की शाखा राधावल्लभ है जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हित हरिवंश ने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदाय में राधिका के माध्यम से ही भक्त अपने को भगवान के पास निवेदित करता है। ये मध्यकर्मी थे अर्थात् द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद दोनों को मानते थे इसलिये इनका सिद्धात 'द्वैताद्वैतवाद' कहलाया इनके अनुसार जीव तथा ईश्वर व्यवहार मे भिन्न है किन्तु सिद्धान्ततः अभिन्न (एक) है। सनकादि सम्प्रदाय में शरणागति का भाव तो स्वीकार्य था परन्तु ध्यान–योग को अधिक महत्व नहीं दिया गया।

24.9.6 नामदेव – नामदेव ने महाराष्ट्र में भक्ति मार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। इनका जन्म एक दर्जी परिवार में हुआ था। उन्होने अपने उपदेशो में मूर्तिपूजा तथा कई खोखले रीति रिवाजों का खण्डन किया। इन्होंने एकेश्वरवाद पर बल दिया इनकी मान्यता थी कि भक्ति के माध्यम से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। नामदेव ने जनसाधारण को प्रेम एंव भक्ति का पवित्र उपदेश दिया। उनके शिष्यों मे सभी जाति और वर्गो के लोग थे।

24.9.7 रामानन्द – इनका जन्म 1299 ई. मे प्रयाग के कान्यकुब्ज में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनकी शिक्षा प्रयाग तथा वाराणसी में हुई। इन्होने राघवानन्द को अपना गुरू बनाया। राघवानन्द श्री सम्प्रदाय के थे। इन्होने भक्ति को मोक्ष का एकमात्र साधन बताया। ये मर्यादा पुरूषोत्तम राम और सीता के उपासक थे। इनका मूल उद्देश्य धर्म तथा भक्ति के माध्यम से समाज सुधार करना था। रामानन्द धर्म के बाहय आडम्बर तथा संस्कार के विरोधी थे। समाज सुधार के क्षेत्र में रामानन्द क्रांतिकारी तथा रूढ़िवादी विचारों के समन्वयवादी थे। उन्होंने अपने उपदेश संस्कृत के स्थान पर जनभाषा हिन्दी में दिये। उन्होने खोखले रिति रिवाजों, मूर्तिपूजा तथा जाति विभेद का विरोध किया तथा स्त्रियों की दशा सुधारने एवं उन्हे ऊँचा उठाने के लिये महत्वपूर्ण कार्य किये। इनके शिष्यों में कबीर, रैदास, धन्ना, सेना, पीपा आदि थे।

24.9.8 कबीर – कबीर रामानन्द के शिष्य थे इनका आविर्भाव उस समय हुआ जब भारत में मुस्लिम प्रशासन की स्थापना हो चुकी थी। इनका जन्म 1425 से 1440 के मध्य (लगभग) माना जाता है। इनका पालन नीरू नामक एक जुलाहे के घर में हुआ ये अनपढ़ थे किन्तु इनमें ज्ञान प्राप्ति तथा सही मार्ग ढूंढने की तीव्र जिज्ञासा थी। इनके उपदेश बहुत प्रभावशाली थे। इन्होने हिन्दू–मुस्लिम एकता स्थापित करने पर विशेष बल दिया। कबीर ने मध्यकाल में प्रचलित वर्ण व्यवस्था के विकृत रूप तथा जाति–पांति के भेदभाव का प्रबल विरोध किया। कबीर ने शुभ कर्मो पर जोर देते हुये भक्ति को मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उन्होने गृहस्थ जीवन को सर्वश्रेष्ठ माना तथा मानवतावाद का प्रसार किया। कबीर सही अर्थो में समन्वयवादी थे। उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानो में एकता स्थापित करना था। कबीर ने अपनी भाषा में खड़ी बोली, पूर्वी, ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी आदि बोलियों तथा भाषाओं के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया। कबीर के धर्म में शील, क्षमा, दया, दान, धैर्य, सन्तोष, काम, क्रोध लोभ, निषेध आदि मानवीय गुणों का विशेष स्थान है। उनकी अंकित दर्शन अनुभूति पर आधारित है।

24.9.9 गुरूनानक – गुरूनानक निर्गुण विचार धारा के दूसरे प्रमुख सन्त थे। इनका जन्म 1469 ई. में पंजाब के खत्री परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम मेहता कालूचन्द था। बाल्यवस्था में पिता ने इन्हे हिन्दी संस्कृत तथा फारसी की शिक्षा दी क्योंकि कालूचन्द इन्हे सरकारी नौकरी दिलाना चाहते थे परन्तु नानक अध्ययन के प्रति उदासीन थे। अतः इन्हें कृषि, पुशपालन तथा व्यापार व कार्य सुपूर्द किया गया लेकिन इनका मन इन स्ब कार्यो में भी नहीं था। अतः 30 वर्ष की आयु में इन्होने सन्यास ग्रहण कर लिया। इन्होने चीन, ब्रह्मा, लंका, अरब, मिश्र, तुर्कीस्तान, रूस एंव अफगानिस्तान की यात्राएं की। गुरूनानक ने सिक्ख धर्म की स्थापना की थी। साधु सन्यासियों की संगति में रहते रहते वे स्वयं धर्म गुरू बन गये और लोंगों को उपदेश देने लगे। वे आडम्बरों के विरोधी थे। जीवन की पवित्रता, विचारों की उच्चता तथा नैतिकता की भवना में उनका विश्वास था। हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों के लोग इनके शिष्य थे। श्री अरतिन्द ने इन्हे ''क्रान्तिकारी विचारक'' की संज्ञा दी है। गुरूनानक ने समाज सुधार के साथ–साथ राजनीतिक चेतना को जागृत किया। नानक मूर्तिपूजा, बाह्य आडम्बर के विरोध मे थे। नानक ने निवृति मूलक नहीं बल्कि प्रवृति मूलक धर्म अपनाया। नानक एकेश्वरवादी थे उन्होने अवतारवाद का विरोध किया। इनका जातिवाद में विश्वास नहीं था। ये पहले भक्ति आन्दोलन के सन्त थे, जो राष्ट्रियता की भावना से प्रेरित थे। स्त्री और पुरूष में इन्होने समानता का सिद्धान्त रखा। नानक को मध्ययुगीन समाज धर्म सुधारने में उच्च स्थान प्राप्त है।

24.9.10 चैतन्य महाप्रभु – चैतन्य महाप्रभु भक्ति आन्दोलन के महानतम् सन्त थे। इनका जन्म बंगाल के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। चैतन्य ने प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने के बाद घर पर ही धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। ये कृष्ण भक्त थे तथा 24 वर्ष की आयु में ही सन्यास ले लिया। उन्होने जाति भेद का खण्डन किया तथा भ्रात भाव पर बल दिया भक्ति भावना को विकसित करने के लिये उन्होंने चित की एकाग्रता पर विशेष बल दिया। उन्होने भक्ति की विचार धारा को और भी अधिक सरल एंव लोकप्रिय बनाया। वे समाज मे हिन्दू मुसलमानों की ऊंचनीच की भावना को समाप्त कर समाज में सामन्जस्य स्थापित करना चाहते थे। चैतन्यप्रभु ने कृष्ण को अपना आराध्य देव बनाया। उन्होने एकेश्वरवाद, आत्मा, प्रकृति, भक्ति आदि में विश्वास था। इनके विचार सरल एंव स्पष्ट तथा मानवतावादी थे। इसी कारण वे एक लोकप्रिय सन्त बन गये। कबीर एंव नानक की भांति चैतन्य ने भी धार्मिक तथा समाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करके समय की आवश्यकता के अनुसार सुधार का नारा लगाया।

24.9.11 मीरा – राजस्थान में सगुण भक्ति की धारा प्रवाहित करने वालों में सन्त शिरोमणि मीरा का नाम सर्वोपरी है। ये कृष्ण भक्त थी। इनका जन्म मेड़ता में हुआ तथा चितौड़ के राणा सांगा के पुत्र भोजराज के साथ इनका विवाह हुआ लेकिन अपने पति की मृत्यु के बाद मीरा साधु सन्यासियों की संगत में रहने लगी तथा स्वयं को कृष्ण भक्ति में लीन कर दिया। मीरा के काव्यों मे सांसारिक बन्धनों को त्याग कर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव मिलता है। मध्ययुग में कृष्ण भक्ति का प्रचार करने वालों में मीरा का अति विशिष्ट स्थान है।

24.9.12 तुलसीदास – भक्ति आन्दोलन में तुलसीदास का अति महत्वपूर्ण स्थान है। 'रामचरित मानस' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वे रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। वे समाज सुधारक, धर्म सुधारक, समन्वयकारक, उच्च कोटि के कवि थे। उन्होंने सच्चे लोकनायक, हिन्दू जाति को समानता का अधिकार देकर उन्हे इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। मध्ययुगीन धर्म में तथा समाज सुधारकों में तुलसीदास जैसी सफलता किसी को प्राप्त न थी।

24.9.13 रेदास – इनका जन्म चमार परिवार में वाराणसी में हुआ था। इनके पिता का नाम रघ्घू तथा माता का नाम घुरबिनिया था। ये कबीर के समकालीन थे। ये निर्गुण उपासना में विश्वास रखते थे तथा रामानन्द के प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने बाहय आडम्बरों का विरोाध व मन की शुद्धता और भक्ति भावना पर विशेष बल दिया रेदास से 'रेदासी सम्प्रदाय' प्रारम्भ हुआ और आज भी अधिकांश हिन्दू चमार जाति के लोग इसके अनुयायी है।

24.9.14 पीपा–इनका जन्म 1425 ई. में राजस्थान के गागरौनगढ़ के राजवंश परिवार में हुआ था। वे ऐश्वर्य सम्पन्न थे बाद में साधु सेवा में लग गये। पहले भवानी के उपासक थे बद में रामानन्द के शिष्य हो गये। परम तत्व की अनुभूति के लिये सद्गुरू की सहायता को इन्होने आवश्यक बताया। इन सन्तो के अतिरिक्त सूरदास, तुकाराम, धन्ना, सेना, सुन्दरदास, मलुकदास,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञानेश्वर आदि के नाम भी भक्ति परम्परा में प्रमुख है। निसन्देह एक बड़ी सीमा तक हिन्दू मुस्लिम समन्वय भी भक्ति आन्दोलन का ही कार्य था।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सिद्धान्त बताईये (30 शब्द सीमा)

उत्तर–...

24.10 भक्ति आन्दोलन का प्रभाव

भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन भारतीय इतिहास की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। भक्ति आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया उसका प्रभाव कई सदियों तक कायम रहा। इसके निम्नलिखित प्रभाव पड़े–

(1) भक्ति सम्प्रदाय ने हिन्दू धर्म की कठोरता, विषमता, जटिलता और कर्मकाण्ड के महत्व को कम कर दिया।

(2) यह आन्दोलन जातपॉत के बन्धक से ऊपर था।इस धर्म ने मोक्ष प्राप्ति में सभी सम्प्रदाय, ऊँच नीय सभी जाति को समान हकदार माना।

(3) मुसलमान भी इस आन्दोलन से प्रभावित हुये वे अब हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का सम्मान एंव आदर करने लगे अनेक मुसलमान कवियों ने राम एव कृष्ण की भक्ति कविता की रचना की।

(4) भारत में ऐसे पन्थ भी निकले जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनो ही थे, जैसे सत्य पीर, सदनामी, नारायणी आदि। ये पन्थ हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेदभाव नहीं मानते थे।

(5) हिन्दूओं ने उदारता पूर्वक मुसलमान देवी देवताओं पीरों और कब्रों की पूजा आरम्भ की।

(6) राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू व मुसलमानों का वैभव कम होने लगा। मुसलमान शासकों ने हिन्दूओं को ऊँचे पदों पर नियुक्त करना आरम्भ किया। हिन्दू साम्राज्य विजय नगर की सैना में मुसलमान घुड़सवार थे और जब बाबर ने हिन्दूस्तान पर आक्रमण किया तो उसे हिन्दूस्तानी मुसलमानों का रहन–सहन देखकर आश्चर्य हुआ।

(7) हिन्दु और मुसलमानों का यह सम्मिश्रण धर्म और समाज तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि कला, संगीत और वास्तुकला पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

24.11 भक्ति आन्दोलन का महत्व

भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन भारत की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस आन्दोलन ने हिन्दू समाज मे एक प्रकार से नये प्राणों का संचार किया तथा उनमें आत्म विश्वास की भावना उत्पन्न की। इससे जनसाधारण का नैतिक स्तर ऊँचा उठा और लोगों में व्याप्त अंधविश्वास की भावना दूर होने लगी। हिन्दू धर्म में आई जटिलताओं को कम करते हुए सभी सन्तों ने जाति–पाति, वर्ग भेद और ऊँच–नीच की भावनाओं का खण्डन करते हुये सामाजिक समानता पर विशेष बल दिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता कि समूचे देश पर इस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा और यह प्रभाव शताब्दियों तक कायम रहा। भक्ति आन्दोलन में समूचे देश में एक नये वातावरण का सृजन किया। भक्ति आन्दोलन ने समाजिक, कुरीतियों का नाश कर समाज को संगठित और दृढ़ बनाया। इस आन्दोलन ने हिन्दू और मुसलमानों मे आपसी एकता सद्भावना एंव मैत्री को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस आन्दोलन ने राजनीतिक जागरण के भी बीज बो दिये।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– भक्ति आन्दोलन का भारतीय समाज एवं संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा बताइये? (30 शब्द सीमा)

उत्तर–..

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

24.12 भक्ति आन्दोलन की विशेषताएं

भक्ति आन्दोलन के सन्तो के उपदेशों में यद्यपि अलग–अलग मत और सिद्धान्त थे लेकिन फिर भी उनमें कुछ समान विशेषताएं थी जो इस प्रकार है–

(1) सभी सन्तों ने ऊँच नीच एवं जातिपाति की भावना का खण्डन करते हुये सामाजिक समानता पर बल दिया।

(2) मोक्ष प्राप्ति के लिये सभी ने बाह्य आडम्बरों एंव कर्मकाण्डों से दूर रहकर आत्मा एवं मन की पवित्रता पर बल दिया।

(3) सभी सन्तों ने बहुदेववाद का खण्डन करते हुये एकेश्वाद पर विश्वास जताया।

(4) अधिकांश सन्तो ने संस्कृत के स्थान पर लोक भाषा या जनभाषा को उपदेश का माध्यम बनाया।

(5) अधिकांश सन्तों ने प्रवृति मार्ग का समर्थन किया।

(6) इस आन्दोलन ने हिन्दू मुसलमान में एकता, सद्‌भाव की भावना का विकास किया।

(7) यह एक जन आन्दोलन था जो पूरी तरह सफल हुआ।

24.13 सारांश

इस प्रकार भक्ति आन्दोलन का जन्म उत्तर भारत में हुआ और दक्षिण भारत में यह भावना परिपुष्ट हुई। मध्यकाल में इसका प्रसार पुनः उत्तर भारत में हुआ। इस आन्दोलन ने हिन्दू और मुस्लिम के बीच में सद्‌भावना एंव एकता स्थापित करने का प्रयास किया और उसमें सफल भी हुआ। इससे हिन्दू धर्म को संरक्षण तो मिला ही उसके साथ उनकी उन्नति भी हुई।

24.14 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न– 1 'विशिष्टाद्वैतवाद' का सिद्धान्त किस सन्त से सम्बन्धित है।

(अ) माधवाचार्य (ब) रामानुजाचार्य

(स) निम्बकाचार्य (द) नामदेव

प्रश्न– 2 ''भक्ति आन्दोलन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करिये (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव को बताते हुये इसके विस्तार एंव विकास पर निबन्ध लिखिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–25 : सूफी धर्म एंव उसका भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

संरचना

25.0 प्रस्तावना
25.1 उद्देश्य
25.2 'सूफी' शब्द का अर्थ एंव उद्भव
25.3 'सूफी मत' का आविर्भाव
25.4 सूफीवाद का विकास
    25.4.1 प्रथम अवस्था
    25.4.2 द्वितीय अवस्था
    25.4.3 तृतीय अवस्था
    25.4.4 चतुर्थ अवस्था
25.5 भारत में सूफी सम्प्रदाय
25.6 सूफी मत के प्रमुख सिद्धान्त
    25.6.1 परमात्मा
    25.6.2 गुरू (मुर्शीद)
    25.6.3 प्रेम
    25.6.4 लक्ष्य
    25.6.5 आत्मा
    25.6.6 जगत
    25.6.7 मनुष्य
25.7 भारत में सूफी मत के प्रमुख सम्प्रदाय
    25.7.1 चिश्ती सम्प्रदाय
    25.7.2 सुहरावर्दी सम्प्रदाय
    25.7.3 कादिरी सम्प्रदाय
    25.7.4 नक्शबन्दी सम्प्रदाय
    25.7.5 अन्य सम्प्रदाय
25.8 सूफी धर्म का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव
    25.8.1 हिन्दु मुस्लिम सम्प्रदायों में सामन्जस्य करना
    25.8.2 पारस्परिक प्रेम और समाज सेवा की भावना पर बल
    25.8.3 राजनीति में जनकल्याण
    25.8.4 उपदेशों का माध्यम आमजन भाषा
    25.8.5 एकेश्वरवाद पर बल
    25.8.6 नैतिकता और आध्यात्मिकता पर बल
25.9 सारांश
25.10 अभ्यास प्रश्नावली

25.0 प्रस्तावना

सूफी धर्म का विकास ईसा की 9वीं शताब्दी में हुआ। यह दूनिया के प्राचीन धर्मो में यद्यपि नहीं गिना जाता लेकिन इस धर्म के अविर्भाव में इस्लाम ईसाई, जैन, बौद्ध आदि धर्मो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस्लाम धर्म और समाज को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिये सूफी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व में प्रचलित धर्म बाह्य आडम्बरों विभिन्न कर्मकाण्डों से परिपूर्ण थे और ऐसे में मुस्लिम शासकों के दुर्व्यवहार भी जनता में ऐसे ध र्म की इच्छा को बता रहा था जो उन्हे इन बुराईयों से तार सके। उन्हें समानता का अधिकार दिला सके और इस समय सूफी सन्तो ने अपने सरल एवं सीधे स्वभाव से जनता का ह्रदय जीत लिया। अनेक अलग–अलग सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। जिनके पृथक–पृथक सिद्धान्त और विशेषताएं थी और इन्ही सम्प्रदायों के उदय के कारण यह सूफी आन्दोलन कहलाया।

25.1 उद्देश्य

सूफी आन्दोलन मध्यकालीन भारत की एक महत्वपूर्ण घटना है। यद्यपि भारत में सूफी धर्म का प्रवेश 7वीं शताब्दी में हुआ लेकिन फिर भी मध्यकाल 12वीं 13वीं शताब्दी से लगभग भारत में इसका विकास प्रारम्भ हो गया। इस पाठ का उद्देश्य सूफी आन्दोलन के प्रमुख बिन्दूओं पर प्रकाश डालना है। ये प्रमुख बिन्दू है–

- चार प्रमुख सूफी सम्प्रदाय और उनका विकास एवं विशेषताएं
- चार सम्प्रदाय– चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी एवं नक्शबन्दी का वर्णन करना है।
- प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त एंव सिद्धान्तों का वर्णन।
- सूफी धर्म का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

25.2 'सूफी' शब्द का अर्थ एंव उद्भव

इस्लाम के रहस्यवाद को ही 'सूफी धर्म' कहा जाता है। इसके अर्थ एवं उत्पत्ति के विषय में अलग–अलग विद्वानों में अलग मत है। अबू नसर अल सराज ने 'सूफी' शब्द की उत्पत्ति 'सूफ' से बताई है जिसका अर्थ होता है ऊन। अरब देश में इस्लाम के अभ्यूदय के प्रारम्भ में 'सूफ' का अभिप्राय बिना रंगे हुये ऊन के उस लबादे से था जो इराक के वैरागी, साधक या तपस्वी धारण किया करते थे। इस मत पर ब्राउन ने अपनी सहमति प्रकट करते हुये कहा है कि ईरान में इन रहस्यवादी साधकों को पश्चिमनापूरा (ऊन पहनने वाला) कहा जाता था। कुछ विद्वानों ने 'सफा' शब्द से सूफी की उत्पत्ति मानी है लेकिन व्याकरण की दृष्टि से सफा से सफवी शब्द तो हो सकता है सूफी नहीं। कुछ विद्वान इसे ग्रीक शब्द 'सोफिया' का रूपान्तरण मानते है। कुछ लोगों का कहना है कि जो व्यक्ति पवित्र थे वे सूफी कहलाये। कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि मदिना में मोहम्मद शाह द्वारा बनवाई गई मस्जिद के बाहर 'सूफ' अर्थात् चबूतरे पर आकर शरण पाने वाले अनाथ व्यक्ति पवित्र जीवन बिताते हुये ईश्वर आराधना में लीन रहते हुए सूफी कहलाये।

इस प्रकार साधारणतः तथा व्याकरण की दृष्टि से यह 'सूफ' शब्द से उत्पन्न माना गया है। यह शब्द ठीक और शुद्ध है। सूफी वह धार्मिक साधक है जो ऊनी चोगे का व्यवहार करता है, परम प्रियतम के रूप में परमात्मा की उपासना करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। सभी मुस्लिम रहस्यवादी साधकों के लिये सूफी शब्द का प्रयोग किया जाता है।

25.3 सूफी मत का आविर्भाव

सूफी मत के आविर्भाव के सम्बन्ध में सभी विद्वान एकमत नहीं है। विचारों की विभिन्नता का कारण यह है कि सूफी मत विश्व के विभिन्न धर्मो– इसाई, इस्लाम, हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म की भांति प्राचीन नहीं है। निश्चित रूप से इसका धर्म के रूप में विकास ईसा की नवीं शताब्दी में हुआ माना जाता है। विभिन्न विद्वानो ने रहस्यवाद या सूफीवाद के आविर्भाव के लिये अलग–अलग मत दिये है–

इस्लाम के पवित्र कृत्यों–रोजो, नमाज हज के आधार पर डॉ. युसुफ हुसैन ने सूफीवाद की उत्पति इस्लाम धर्म से बताई है। प्रो. निजामी ने स्पष्ट कहा है कि सूफी मत का मूल स्त्रोत कुरान तथा पैगम्बर मत की उत्पत्ति यूनान से बताई है निकोल्सन ने भी इस मत का समर्थन किया है। ब्राउन महोदय ने सूफीमत पर बौद्ध एवं जैन धर्म का प्रभाव स्वीकार किया है।

इस प्रकार विभिन्न मतों के बीच में भी कहा जा सकता है कि सूफी मत पर ईसाई धर्म का भी प्रभाव पड़ा ईसाई विचारध ारा के प्रभाव में आकर सूफी साधक व्यक्तिगत स्वार्थ में रूचि नहीं रखते थे। इसी प्रकार सूफियों के यौगिक क्रियाओं में हिन्दू योगियों के क्रियाकलापों को भी देखा जा सकता है इनमें प्राणायाम आदि जैसी क्रियाएं हिंन्दूओं की देन ही है।

सक्षिप्त में कह सकते है सूफी मत का विकासकाल नवीं सदी से माना जाता है। सूफी धर्म विश्व के प्राचीन धर्मो की श्रेणी में नहीं है, बल्कि अनेक धर्मो के प्रभावों की उपज है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

25.4 सूफीवाद का विकास

इस्लाम धर्म और समाज को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिये सूफी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। जिस समय मुसलमानों की राजनैतिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी। चारों ओर अव्यवस्था, अराजकता एवं आतंक का वातावरण था, ऐसी परिस्थिति में मुस्लिम समाज नवजीवन की प्रेरणा देने के लिये सूफी सन्तों ने संगठित होकर प्रयास करने का निश्चय किया। यह नवी सदी में धर्म के रूप में उपस्थित हुआ। इसके विकास की अनेक अवस्थाएं थी–

25.4.1 प्रथम अवस्था

इस अवस्था में साधु (सन्यासी) फकीरी जीवन बिताते हुये पहाड़ो एंव जंगलो मे रहता। वे धन, स्त्री, संसार की सभी वस्तुओं का त्याग करके एक जगह से दूसरे स्थान भ्रमण करते रहते थे। इस समय सूफीमत का आधार व्यक्तिगत था इस समय के साधकों में इमाम हसन बसरी (728ई.), इब्राहिम बिन आधम (777ई.) रबिया बसरी (776ई.)के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस काल मे रिजा अथवा सन्तोष को प्रधानता देकर एकान्त जीवन पर विशेष जोर जाता था।

25.4.2 द्वितीय अवस्था

इस अवस्था में रहस्यवादी प्रवृत्तियो के उदार तथा उत्तरोतर विकास, सैद्धान्तिक और दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता रहीं है। इस समय सूफी साधकों ने परम सन्तों साधकों ने परम सत्ता को प्रियतम के रूप में देखना प्रारम्भ किया। उनका समस्त ध ार्मिक कृत्यों का उद्देश्य प्रियतम को प्राप्त करना हो गया।

25.4.3 तृतीय अवस्था

इस अवस्था में सूफी साधकों का सम्प्रदाय के रूप में संगठन प्रारम्भ हो गया। इस काल में सन्तों की पृथक–पृथक शिष्य परम्परा चल पड़ी। प्रारम्भ में दो सम्प्रदाय थे– इलहामिया और इत्तिहादिया। इस काल की मुख्य विशेषता थी–

(1) कुरान में पूर्ण विश्वास।
(2) हजरत मुहम्मद के जीवन को आदर्श बनाना।
(3) धर्म सम्मत भोज ग्रहण करना।
(4) हराम की वस्तुओं का त्याग करना।
(5) किसी भी प्रकार के कष्ट का अनुभव न करना।
(6) प्रत्येक नियम का निष्ठापूर्वक पालन करना।

25.4.4 चतुर्थ अवस्था

यद्यपि यह कोई विकास की अवस्था नहीं थी बल्कि इस समय सूफी सन्तों का पतन प्रारम्भ हो गया। ये सन्त अपने आदर्शो को भूलने लगे, अनाचार में वृद्धि, करामात दिखाने में वृद्धि हुई और इस प्रकार लोगों ने सूफी साधकों की बातो पर ध्यान देना छोड़ दिया इस प्रकार सूफी मत की शक्ति का हवास हुआ और आज की दूनिया में उसकी शक्ति नगण्य हो गई है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– 'सूफी' शब्द से आपका क्या अभिप्राय है सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये (30 शब्द सीमा)

उत्तर–..

25.5 भारत मे सूफी सम्प्रदाय

भारत में सूफी मत का प्रवेश 7वीं शताब्दी में हुआ। भारत में सूफी सन्तों का सिलसिला वास्तविक रूप से अबुल हसन हुज्विरी से शुरू हुआ। उन्होने 'कश्फल महजुब' नामक पुस्तक के माध्यम से अपने मत का प्रतिपादन किया। भारत में सूफी मत का स्थाई प्रभाव चिश्तियां, सुहराबर्दी, कादिरियां तथा नक्शबदियां से सम्बन्धित व्यक्तियों का पड़ा। इन प्रचारकों ने अपनी साधना और योग्यता के बल पर अपने सिद्धान्तों को प्रचारित किया। संगीत और नृत्य के माध्यम से भी लोगों को आकर्षित किया।

25.6 सूफीमत के प्रमुख सिद्धान्त

जिस समय सूफी मत का विकास हुआ उस समय भारत में वेदान्त धर्म एंव दर्शन तथा यूरोप में धार्मिक पुनर्जागरण की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लहर फैल रही थी। सूफी साधकों के निम्न सिद्धान्त थे–

25.6.1 परमात्मा – सूफी साधकों के अनुसार परमात्मा एक है। उसे काल और स्थान की परिधि में नहीं बांधा जा सकता है। पूर्ण मानव वह है जो परमात्मा के साथ एकत्व की पूर्ण अनुभूति प्राप्त कर चुका है। सूफी लोग ईश्वर की एकता में तथा उसकी सर्वव्यापी मानते थे। उनका मानना था कि परमात्मा मनुष्य के हृदय में निवास करता है।

25.6.2 गुरू – सूफी धर्म में गुरू की महत्ता पर अधिक बल दिया गया है क्योंकि पथ प्रदर्शक के रूप में गुरू अपने ज्ञान रूपी दीपक से मार्ग दिखाता है और शिष्य को अभिष्ट लक्ष्य तक पहुंचाता है। आध्यात्मिक गुरु पीर अथवा शेख पर ही सारा सूफी सिद्धान्त आधारित है। सूफीवाद ने मुर्शीद के समक्ष आत्मसमर्पण पर विशेष बल दिया।

25.6.3 प्रेम – सूफी सन्तों की साधना में प्रेम को अधिक महत्व दिया है। सूफी सन्तों के काव्य में प्रेम की गाथाएं मिलती है। प्रेम से ही मनुष्य के हृदय से श्रृद्धा और विश्वास उत्पन्न होता है। अबू तालिब ने कहा कि प्रेम से परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों का भेदन होता है। अलशिबली का कहना है कि प्रेम हृदय में अग्नि के समान है जो परमात्मा की इच्छा के सिवाय सभी वस्तुओं को जला कर भस्म कर देती है। सूफी परमात्मा को प्रियतम मानता है। परमात्मा उस साधक का प्रियपात्र अथवा माशूक है, जिसके प्रेम मे वह व्याकुल रहता है।

25.6.4 लक्ष्य – अल हक्क के साथ एकत्व प्राप्त करना सूफी साधना का चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में अनेक साधन है– जिक्र (जिक्र–ए–जली, जिक्र'–ए–खफी) अल्ला के नाम को जोर से तथा हृदय से स्मरण करना। भावाविष्ठावस्था के सम्बन्ध में सूफियों ने वज्द (भाव), सभा (संकीर्तन), जौक (स्वाद), शर्ब (पीना), गैबत (अलं से बेखर होना), जज्बात तथा हाल आदि साधनों का प्रतिपादन किया। सूफी साधक परमात्मा से पूर्ण लय हो जाने को फना की अवस्था मानते है। कुछ सन्तों के अनुसार सूफी साधना का यही चरम लक्ष्य था।

25.6.5 आत्मा– आत्मा को सूफी साधकों ने ईश्वरीय अंश स्वीकार किया है। मनुष्य के भीतर जो ईश्वरीय अंश है वही आत्मा है इसलिये उनका विश्वास है कि मृत्यु के द्वारा वे परमात्मा के पास फिर पहुंच सकते है अतः सूफी सन्तों ने मृत्यु का भी खुशी से स्वागत किया। सूफी साधकों की दृष्टि में आत्मा में दो गुण नफ्स तथा रूह प्रधान होते है इन्ही के कारण मनुष्य अच्छे तथा बुरे कर्मो की ओर अग्ररित होता है।

25.6.6 जगत – परमात्मा को जब सृष्टि द्वारा अभिव्यक्ति करने की इच्छा हुई तो उन्होने एक ज्योति का निर्माण किया। यह ज्योति नूरे मुहम्मद तथा नूरे अहमद कही जाती है। इस ज्योति के लिये परमात्मा ने सृष्टि की रचना की। सूफी सन्तों के अनुसार जगत का निर्माण परमात्मा ने सूर्य, चन्द्र, बुद्ध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि तथा नक्षत्र की तथा अग्नि, हवा, जल और पृथ्वी का निर्माण किया तथा उसके बाद वृक्ष, पशु, पक्षी, जीव जन्तु और मनुष्य का निर्माण किया।

25.6.7 मनुष्य – मनुष्य एक श्रेष्ठ प्राणी है, मनुष्य में ही वह क्षमता है कि वह पूर्णता के उच्चतम शिखर तक पहुंच सकता है। मनुष्य को अपनी आत्मा पर बुराइयों का प्रभाव नहीं होने देना चाहिये। सूफी साधकों के अनुसार मनुष्य परमात्मा की अनन्य तथा अभिव्यक्ति है। मनुष्य का चरमोत्कर्ष पूर्णमानव है।

इस प्रकार सूफीमत के अलग–अलग सिद्धान्त थे। सूफी साधकों ने कर्मफल में विश्वास रखने को कहा। सूफी धर्म–प्रभावशाली दर्शन एवं सिद्धान्तों की नींव पर आधारित है, जिसका भारत में अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ। यह धर्म हिन्दू और मुस्लिम विचारों का समिश्रण है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न–विशेषतः तृतीय अवस्था के सन्दर्भ में सूफी धर्म के विकासक्रम को सक्षिप्त मे बताइये (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

25.7 भारत में सूफीमत के प्रमुख सम्प्रदाय

सूफी धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की संख्या 175 तक मानी जाती है, किन्तु इनमें 11 सम्प्रदाय महत्वपूर्ण है, किन्तु अबुल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

फजल ने 'आइने अकबरी में उन 14 सम्प्रदायों का उल्लेख किया है जो उस समय प्रचलित थे। इनमें से भी कुछ शाखाएं प्रभावपूर्ण रही जैसे चिश्ती, सुहरावर्दी, कादरी, नक्शबन्दिया, शतारी आदि। सूफी धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय निम्नलिखित है–

25.7.1 चिश्ती सम्प्रदाय– सूफी मत के विभिन्न सम्प्रदायों में चिश्ती सम्प्रदाय सबसे प्रमुख है। सूफी मत के अन्य सम्प्रदायों मे से इसी सम्प्रदाय के अनुयायी भारत में सबसे अधिक है। इस सम्प्रदाय की स्थापना खुरासान निवासी अबु अब्दुला ने की थी। कुछ विद्वानों के अनुसार इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा इसहाक शामी चिश्ती थे। भारत में इस सिलसिला की स्थापना का श्रेय ख्वाजा मुइनुद्धीन चिश्ती को ही है।

शेख मुईनुद्धीन चिश्ती का जन्म 1141 ई. में ईरान के सिस्तान नामक नगर में हुआ था। इनके पिता सैयद ग्यासुद्धीन एक धार्मिक स्वभाव के व्यक्ति थे। इन्हे आध्यात्मिक दीक्षा शेख इब्राहीमकुंदुजी ने दी। बाद में ये ख्वाजा उस्मान हारून के शिष्य बन गये। वे 1192 ई. में शहाबुद्धीन गौरी के साथ भारत आये। पहले लाहौर में फिर अजमेर में स्थायी रूप से रहने लगे।

अपनी योग्यता और सादगी के कारण उन्हे भारत में बहुत सम्मान मिला तथा ''सुल्तान–उल–हिन्द'' (भारत का आधात्मिक बादशाह) की उपाधि से उन्हे सम्मानित किया गया। ख्वाजा मुईनुद्धीन चिश्ती ने अजमेर को चिश्ती सम्प्रदाय का केन्द्र बनाया। वे धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु और एकेश्वरवाद के समर्थक थे। 1234 ई. में उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यो ने चिश्ती सम्प्रदाय के प्रचार कार्य को जारी रखा। इनका मुख्य सिद्धान्त था कि संसार के समस्त धर्मो का मूल स्त्रोत एक ही है। भगवान एक है और समस्त धर्म उसकी प्राप्ति के केवल साधन मुक्त है।

इसके अलावा बाबा फरीद और शेख निजामुद्दीन ओलिया इस सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध सन्त हुये। निजामुद्दीन ओलिया की योग्यता, व्यक्तित्व एंव उच्च विचारों के कारण भारत में चिश्ती सम्प्रदाय ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की। चिश्ती सम्प्रदाय के अंतिम महान सूफी सन्तों में शेख सलीम चिश्ती का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह अकबर के समकालीन थे। कहा जाता है शहजादा सलीम का जन्म उनकी दुआओं की बदोलत हुआ। उनकी मृत्यु पर सम्राट अकबर ने फतेहपुर सीकरी में उनकी कब्र पर एक शानदार मकबरा बनवाया। चिश्ती सम्प्रदाय के लोग जीवन में प्रेम और संगीत को बहुत अधिक महत्व देते है और जाति–पाति तथा ऊच–नीच का भेदभाव नही रखते। इसकी सफलता के कारणों में सुल्तानों द्वारा प्रोत्साहन, प्रेम की शिक्षा और सन्तों के उज्जवल चरित्र का बड़ा हाथ रहा।

25.7.2 सुहरावदी सम्प्रदाय – यह सम्प्रदाय भी बहुत प्राचीन और महत्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक ''जियाउद्दीन–अबुल जीव'' थे। यह सम्प्रदाय मुख्य रूप से उत्तरी पश्चिमी भारत में स्थापित हुआ था। भारत में सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय का प्रचार कार्य शेख बहाउद्दीन जकारियां सुहरवर्दी ने किया। वे चिश्तियों की भांति निर्धनता, उपवास, आत्मदमन और शरीर को यातना देने में विश्वास नहीं करते थे बल्कि उन्होने शारीरिक उन्नति और सुविधा की और भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक बताया जितना ध्यान आत्मा के विकारा के लिये आवश्यक है। शेख बहाउद्दीन के बाद सुहरावर्दी सम्प्रदाय मे पैतृक आधार पर उत्तराधिकारी नियुक्त होने लगे। इस सम्प्रदाय में सईद जलालुद्धीन सुर्खपोश, सईद जलाल और बुरहार उल्दीन कुतुबे आलम आदि कुछ सन्त प्रसिद्ध हुये। अधिकांश सन्तों ने सम्पत्ति का संचय किया और तत्कालीन शासन एवं राजनीति में भी भाग लिया। इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव सिन्ध, गुजरात और पंजाब में था।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो में दीक्षित होने वाले मुरीद (शिष्य) को मुर्शीद के आदेश से अपने छोटे–छोटे पापो के लिये पश्चाताप करना पड़ता था। फिर पांच कलमा पढ़ना पड़ता था। इसके सन्त अपने को नाना प्रकार के वस्त्रों से ढके रखते थे। वे हाथ में सोंटा, सिर में काला तागा तथा हाथ में ताबीज धारण करते थे। इस सम्प्रदाय के सूफी साधक दाहिने हाथ के ऊपरी हिस्से मे जलते हुये कपड़े से छाप लगाते थे। अपना सर, मूछ तथा आंख की भ्रुवो को मुडवाते थे। सांप बिच्छु तथा भांग खाते थे। ये साधक फकीरी जीवन पर जोर देते थे। इस सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य हिन्दू–मुसलमानों के बीच सामंजस्य स्थापित करना तथा उदारवादी वातावरण का सृजन करना था।

भारतीय समाज में सुहरावर्दी सूफी संतो का महत्वपर्ण योगदान है। दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद उन्होने मुस्लिम समाज में आध्यात्मिकता तथा नैतिकता को सजीव रखा। उन्होने शासक व प्रजा के बीच की दूरी को कम करने का प्रयास किया।

25.7.3 कादिरी सम्प्रदाय – इसके प्रवर्तक अबुल कादिर अल जीलानी थे। ये इस्लामी जगत के सबसे अधिक ख्याति प्राप्त संत माने जाते है। भारत में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुहम्मद गौस थे। भारत में इनके शिष्यों की संख्या में वृद्धि के साथ

उनका खूब सम्मान बढ़ा। इनके पश्चात् अब्दुल कादिर द्वितीय, शेख दाउद किरमानी तथा शेख अबुल माअलि विशेष उल्लेखनीय है। इस सम्प्रदाय के साधक टोपी में गुलाब लगाते थे क्योंकि गुलाब का फूल पैगम्बर का प्रतीक माना जाता था। इस सम्प्रदाय में संगीत के लिये कोई स्थान नहीं था। इस सिलसिला में जिक्र–ए–जली तथा जिक्र–ए–खफी दोनों प्रकार के जिक्र प्रचलित थे। इसका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार करना था। ये लोग स्वयं को खलीफा का शिष्य बतलाते थे। सिन्ध प्रदेश इसका केन्द्र था किन्तु पंजाब, कश्मीर, बंगाल तथा बिहार में भी इसका काफी प्रभाव था।

25.7.4 नक्शबन्दी सम्प्रदाय – सूफीमत में इस सम्प्रदाय का भी प्रमुख स्थान रहा है। भारत में इसका प्रचार ख्वाजा बाकी बिल्लाह के शिष्य शेख अहमद फारूकी सरहिन्दी ने किया। शेख अहमद फारूकी सरहिन्दी का परिवार आध्यात्मिकता के लिये विख्यात था जो ईश्वर व मनुष्य के बीच प्रेमिका तथा प्रेमी का सम्बन्ध बताते है। इन्होने अकबर द्वारा चलाये गये दीन–ए–इलाही की भी कटु आलोचना की। मुहम्मद मासूम ख्वाजा नक्शबन्द हुजतुल्ला, कयूम जुबैर, ख्वाजा मीर दर्द आदि प्रमुख नक्शबन्द सम्प्रदाय के सूफी सन्त थे।

इस सम्प्रदाय के साधक वस्त्र धारण करते थे। जो लोग अपने बाल काट देते थे उन्हे मुल्हिनुना तथा जो केवल दाहिनी कनपटी के पास बालों को काटते उन्हे रसूलनुमा कहा जाता था। ये चमत्कारिक शक्ति की प्राप्ति के लिये साधना करते थे। इस्लाम में आई बुराईयों को इन लोगों ने दूर करने का प्रयास किया। इनके अनुसार परमात्मा इतना महान है कि उसके सामने सृष्टि के पदार्थ नहीं के बराबर है। इन्होने ईश्वर और मनुष्य का सम्बन्ध मालिक तथा गुलाम का बताया। इस सम्प्रदाय के सन्त न केवल राजनीति में भाग लेते थे बल्कि प्रशासनिक नीति को भी प्रभावित करने का प्रयास करते थे।

25.7.5 अन्य सम्प्रदाय – सूफी धर्म के चार प्रमुख सम्प्रदायों के अलावा भी अन्य कई छोटे–मोटे सम्प्रदाय थे जैसे कि सादविलिया सम्प्रदाय, निमातुलादिया सम्प्रदाय, तेजानिया सम्प्रदाय के अनुयायी उत्तरी अफ्रीकी, तुर्की, रूमानिया, ईराक, अल्जीरिया आदि देशों मे पाये जाते है इनके अलावा सतारियां सम्प्रदाय का प्रचार भारत में हुआ था इसका कार्य क्षेत्र गुजरात था, जहां इस सम्प्रदाय वालों ने मदरसा भी स्थापित किया था, जहां इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक शेख बदियुद्दीन शाह मदार थे। वे अध्ययन और आत्मा की शान्ति के लिये मक्का और मदिना गये और वहां से भारत आये।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– सुहरावर्दी सम्प्रदाय पर अपने विचार प्रकट करिये? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

25.8 सूफी धर्म का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

मध्यकाल मे हिन्दू धर्म से जिस प्रकार का महत्व भक्ति आन्दोलन का है ठीक उसी प्रकार इस्लाम मे सूफी आन्दोलन का है सूफियों ने इस्लाम को गतिशील एवं उदार बनाकर हिन्दू–मुस्लिम एकता को प्रोत्साहन किया। सूफी धर्म का भारतीय संस्कृति पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा जो इस प्रकार है–

25.8.1 हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों में सामन्जस्य करना – विभिन्न सूफी सम्प्रदायों के सन्तो ने हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायों मे समन्वय की भावना उत्पन्न की। उन्होने सामाजिक सेवा को परमात्मा की सेवा का एकमात्र साधन बताया। उन्होने अनेक हिन्दू सिद्धान्तों को अपनाया और यह सिद्ध किया कि सूफी मत केवल इस्लाम पर ही आधारित न होकर इसमें हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के भी कुछ सिद्धान्त दिखाई देते है।

25.8.2 पारस्परिक प्रेम और समाज सेवा की भावना पर बल – सूफी सन्तो ने समाज सेवा पर बल दिया। लोग एक दूसरे की भावनाओं का आदर करने लगे और मानव मात्र के कल्याण के लिये उद्धत हो गये। सूफी सन्तों ने अपने शिष्यों मे समाज सेवा, सद्व्यवहार और क्षमा आदि गुणों पर जोर दिया।

25.8.3 राजनीति में जनकल्याण – सूफी सन्त राजनीति से अलग रहे उन्होने स्पष्ट किया कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि उन गरीब लोगो की सेवा करे जो प्रशासकीय लोगें के अत्याचारों से पीड़ित है। इस प्रकार उन्होने शासकों के हृदय मे जनकल्याण की भावना उत्पन्न की। इन सन्तो ने शासकों को प्रजा की सेवा करने को कहा।

25.8.4 उपदेशों का माध्यम आमजन भाषा– सूफी सन्तो ने जन साधारण की भाषा खड़ी बोली के विकास मे योगदान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दिया। इन सन्तो ने पालकी, जोलाहा, चूना, सोपारी आदि हिन्दूस्तानी शब्दों का खूब प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त उन्होने पंजाबी, गुजराती और क्षेत्रीय भाषाओं के विकास मे भी योगदान दिया।

25.8.5 एकेश्वरवाद पर बल – सूफी सन्तो ने एकेश्वरवाद पर बल दिया। उन्होने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये। हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायों में एकता की भावना उत्पन्न की।

25.8.6 नैतिकता और अध्यात्मिकता पर बल – सूफी सन्तो ने ईश्वर प्राप्ति के लिये नैतिकता का मार्ग और आध्यात्मिक उन्नति आवश्यक बताई। इस कारण लोग ने धार्मिक आडम्बरों के बजाय अपने जीवन को शाश्वत सत्ता की ओर उन्मुख किया।

25.9 सारांश :

सूफी मत इस्लाम धर्म की तुलना में बहुत उदार था। सूफी सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओं ने अपने प्रचार से सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया। सूफी मत हिन्दू एंव मुसलमान, दोनों का लोकप्रिय धर्म था। सूफियों में अनेक ऐसे प्रचारक और व्यवहार कुशल व्यक्तित्व थे, जिन्होंने भारत में काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। यद्यपि सूफी मत का प्रभाव एक सीमित क्षेत्र में था, फिर भी निःसन्देह भारतीय संस्कृति को सम्पन्न बनाने में प्रंशसनीय योगदान रहा।

25.10 अभ्यास प्रश्नावली :

प्रश्न– 1 बहाउद्दीन जकारिया किस सूफी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे–

(अ) चिश्ती (ब) सुहरावर्दी

(स) कादिरी (द) नक्शबन्दी

प्ररन– 2 सूफी आन्दोलन का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव को बताइये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 सूफी आन्दोलन पर निबन्धात्मक विवेचन किजिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–26 : पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव

संरचना

26.0 प्रस्तावना

26.1 उद्देश्य

26.2 भूमिका

26.3 समाजिक प्रभाव

- 26.3.1 सामाजिक संगठन में जागृति
- 26.3.2 दैनिक जीवन मे प्रभाव
- 26.3.3 समानता पर बल
- 26.3.4 शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग का उदय
- 26.3.5 समाज सुधार
- 26.3.6 स्त्रियों की दशा में सुधार
- 26.3.7 दलित वर्ग का उद्धार

26.4 धार्मिक प्रभाव

- 26.4.1 ईसाई धर्म का प्रचार
- 26.4.2 धर्म सुधार आन्दोलन

26.5 आर्थिक प्रभाव

- 26.5.1 भारत का आर्थिक शोषण
- 26.5.2 ब्रिटिश सरकार का भूमि बन्दोबस्त
- 26.5.3 उद्योग धन्धों का विनाश
- 26.5.4 भारत का नव औधोगिकरण
- 26.5.5 कृषि का विकास
- 26.5.6 यातायात के साधनों का विकास

26.6 शिक्षा का प्रभाव

- 26.6.1 अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार
- 26.6.2 अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव

26.7 साहित्य पर प्रभाव

26.8 राजनीतिक प्रभाव

26.9 प्रान्तीय भाषाओं का उदय

26.10 चित्रकला पर पाश्चात्य प्रभाव

26.11 भारतीय वास्तुकला पर प्रभाव

26.12 विज्ञान पर प्रभाव

26.13 अन्य प्रभाव

26.14 सारांश

26.15 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

26.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में अन्य संस्कृतियों का समावेश देखने को मिलता है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में भारत में एक नई और भिन्न व्यवस्था का जन्म हुआ। पाश्चात्य राजनैतिक संस्थाओं तथा पाश्चात्य चिंतन ने भारत के राजनैतिक एंव प्रशासनिक स्वरूप और यहां के सामाजिक मूल्यों पर अपना प्रभाव स्थापित किया। पाश्चात्य सुधारवादी आन्दोलनों ने भारत में नवीन और प्रगतिशील सुधारो का सूत्रपात किया। पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव एक वर्ग विशिष्ट पर ही नहीं, अपितु सभी वर्गो पर पड़ा। सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एंव शिक्षा आदि प्रत्येक क्षेत्र पर इसका प्रभाव पड़ा। इस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा।

26.1 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य भारत का अंग्रेजी शासन से मुक्ति के पश्चात् भी भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव को स्पष्ट करना है। आज भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पहलू पर पाश्चात्य प्रभाव देखा जा सकता है। इस पाठ को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जायेगा।

- पाश्चात्य संस्कृति का भारत पर सामाजिक प्रभाव विशेषत : समानता, दैनिक जीवन में, पारिवारिक संगठन एवं समाज सुधार के रूप में
- भारत का आर्थिक शोषण अंग्रेंजों द्वारा किस प्रकार किया गया और उसका प्रभाव
- इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र, शिक्षा के क्षेत्र, राजनैतिक क्षेत्र, कला के क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ा यह स्पष्ट किया जायेगा।

26.2 भूमिका

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों मे से एक है। इसकी सबसे बड़ी बात यह है कि इसने अपने मौलिक स्वरूप को बनाये रखते हुये अन्य संस्कृतियों को आत्मसात कर लिया। भारत में शुंग, सातवाहन, कुषाण, मुस्लिम, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, तथा अन्त में अग्रेंजो ने आगमन किया जिसके परिणास्वरूप इन विदेशी संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति से न केवल ताल–मेल हुआ बल्कि इन्होने आपसी संस्कृतियों, राजनैतिक, धार्मिक, भाषा, साहित्य, कला आदि के क्षेत्र में स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। भारत का पश्चिम से सीधा सम्पर्क पन्द्रहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों के भारत आगमन के साथ हुआ। इनके पश्चात् डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी आये। 1600 ई. में भारत में अंग्रेजो ने आगमन किया तथा व्यापार के उद्देश्य से एक ईस्ट इण्डियां कम्पनी की स्थापना की। इस समय इग्लैण्ड की राजगद्दी पर महारानी ऐलिजाबेथ प्रथम तथा भारत पर मुगल सम्राट जहांगीर का शासन था। जहांगीर ने अंग्रेजों को कुछ व्यापारिक सुविधा दी। मुगलों के पतन के पश्चात् भारत में अव्यवस्था फैल गई। यहां के देशी राजाओं में पारस्परिक झगड़े और उत्तराधिकार के झगड़ें उठ खड़े हुये। ऐसे में अंग्रेजों व फ्रांसिसियों ने इसका लाभ उठाया। ये व्यापारी भारत में धीरे–धीरे राजनीतिक शक्ति बनने लग गये। राजनैतिक अव्यवस्था के कारण उनकी राजनैतिक महत्वकांक्षा जाग्रत हो उठी और राजनैतिक प्रभुत्व के लिये दोनों के बीच तीन युद्ध हुये और अंग्रेजों को निर्णायक विजय हासिल हई। धीरे–धीरे अंग्रेजों ने भारत की अन्य शक्तियों का भी दमन कर दिया तथा 18वीं शताब्दी के मध्य में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना होने के बाद धीरे–धीरे सारा देश अंग्रेजों के अधीन हो गया। ऐसे में भारतीय संस्कृति पर अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव बढ़ने लगा।

भारतीय संस्कृति का जब पश्चिमी विचारों से सम्पर्क हुआ जब भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण नहीं रह पाई क्योंकि आंग्ल विचारधारा ने संस्थागत परिवर्तन के साथ–साथ वैचारिक परिव्र्तन का भी प्रयास किया। अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव स्थापित करने के लिये ऐसे साधनों का सहारा लिया जो भारतीयों को अखरे भी नहीं और उनका प्रभाव भी स्थायी सिद्ध हो। लार्ड विलियम बैटिंक के काल में पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात हुआ। पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर भारतीयों के खान–पान, रहन–सहन, कपड़े आदि आदतों में पश्चात्य प्रभाव दिखाई देने लगा। इसी प्रकार ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारतीयों के धर्म को प्रभावित किया। 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित हो गयी थी। भारत का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य संस्कृति और ज्ञान को श्रेष्ठ मानने लगा था। ऐसे मे भारतीय सामाजिक एंव धार्मिक जगत में बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसे में राजाराममोहन राय, विवेकानन्द, रविन्द्रनाथ टैगोर, तिलक, महात्मा गांधी जैसी महान् विभूतियों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने भारतीय संस्कृति में पुनः एक नई चेतना शक्ति भर दी।

यद्यपि अंग्रेज भारत से चले गये लेकिन फिर भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भारतीय संस्कृति में आज भी देखने को मिलता है। पाश्चात्य संस्कृति ने अनेक क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ा। जो प्रकार है–

26.3 सामाजिक प्रभाव

भारतीय सामाजिक जीवन में पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव अधिक व्यापक है। इसने कला, स्थापत्य कला, चित्रकला, साहित्य, काव्य, नाटक तथा उपन्यास यहां तक कि भारतीय धर्मो तथा दर्शन को भी प्रभावित किया है। इन क्षेत्रों में मार्गदर्शक तो अंग्रेजी सार्वजनिक अधिकारी तथा साहित्यकार थे और यह भावना आगे ले जाने वाला मुख्यतः अंग्रेजी शिक्षित वर्ग था जिस में प्रायः पत्रकार, अध्यापक, वकील तथा डाक्टर थे। जो भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का सामाजिक प्रभाव निम्न रूप से रहा है–

26.3.1 सामाजिक संगठन में जागृति – पाश्चात्य सभ्यता का भारत के सामाजिक ढांचे पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा और समूचे भारतीय सामाजिक जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। पश्चात्य सभ्यता ने समाज की जाति प्रथा पर प्रहार किया लेकिन प्रत्यक्ष रूप से इस सम्बन्ध में कोई विशेष कदम नहीं उठाया। लोगों में छुआछूत की भावना भी कम होने लगी। आधुनिक युग में होने वाले अन्तर्जातीय विवाह भी पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के ही परिणाम है।

26.3.2 दैनिक जीवन में प्रभाव – पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिमान सामाजिक शिष्टाचार, पहिनावा, भोजन खाने के व्यवहार, गृह उपस्कर, रूपांकन, निजी स्वास्थ्य व्यवहार, आमोद–प्रमोद, क्रीड़ा तथा मनोरंजन सभी में हमने इन प्रतिमानो को न केवल स्वीकार कर लिया है अपितु ये हमारे जीवन का अंग बन गये है यद्यपि ग्रामों में अभी भी थोड़ी बहुत पारम्परिक पद्धतियां चल रही है। पाश्चात्य प्रभाव से भारतीयों के जीवन में पाश्चात्य व्यक्तिवाद तथा सन्देहवाद का बीजारोपण किया। पाश्चात्य समाज में सयुक्त परिवार का कोई महत्व नहीं है, तथा भारतीय समाज ने भी इसका अनुकरण किया। अब शादी के बाद पुत्र अपने माता–पिता से अलग ही जीवन व्यतीत करने लग गया है।

26.3.3 समानता पर बल – पश्चिम के लोग जाति–पाति और ऊंच–नीच में विश्वास नहीं रखते थे तथा उन्होने अपनी शिक्षा के माध्यम से भारतीयों को भी यहीं मूल मंत्र दिया इसके अलावा एक ऐसे प्रगतिशील समाज के निर्माण की प्रेरणा मिली जिसमें मानव मानव के बीच समानता और प्रेरणा भाईचारे की भावना हो तथा भेदभाव को कोई स्थान प्राप्त ना हो। पाश्चात्य समाज में ना कोई छोटा ना कोई बड़ा होता है बल्कि अपने कर्मो से वह बड़ा होता है इस समानता के भाव को भारतीय संस्कृति भी कुछ हद तक अपनाया गया।

26.4.4 शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग का उदय – पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण भारतीय समाज में एक नई बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ। यह वर्ग अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के समर्थक तथा प्रगतिशील समाज का निर्माण करना चाहता था। इन बुद्धिजीवी वर्ग मे राजा राम मोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, राजनारायण वासे आदि थे। इन्ही बुद्धिजीवी वर्ग के कारण भारत में अनेक सामाजिक एंव धार्मिक सुधारों के लिये विभिन्न संस्थाओं की स्थापना का क्रम आरम्भ हुआ। ब्रह्मा समाज, प्रार्थना समाज, वेद समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, अलीगढ़ आन्दोलन आदि संस्थाये अपने अपने दृष्टिकोण से समाज एंव धर्म सुधार हेतु प्रवृत्त हुई। इन्ही वर्गो का अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से पाश्चात्य विचारों से सम्पर्क हुआ था। परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति में नये प्राण का संचार हुआ एंव धीरे–धीरे सांस्कृतिक एंव सामाजिक पुनरूत्थान का क्रम आरम्भ हुआ। इन धर्म सुधार एव समाज सुधार आन्दोलनों की हिन्दू–मुस्लिम सम्प्रदायो का संघटित करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही।

26.3.5 समाज सुधार – भारत में समाज के नव निर्माण के लिये अनेक सुधार आन्दोलन अस्तित्व में आये। भारतीय समाज में सती प्रथा, कन्या वद्य, बालविवाह, अस्पृश्यता, जाति पाति के भेदभाव के निवारण के लिये अनेक आन्दोलन हुये जो कि पश्चिम के प्रभाव का ही परिणाम है। अनेक अधिवेशन हुये जिनमें स्त्री शिक्षा का प्रसार, बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा का विरोध अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन सती प्रथा, कन्या वद्य पर रोक आदि हुये। द्वारिकानाथ टैगोर आदि सुधारकों के प्रयासों से 1829 ई. में विलियम बैटिंक ने एक नये अधिनियम द्वारा सती प्रथा को अवैध तथा दण्डनीय अपराध बना दिया। 1941ई. में सर गंगाराम ने उत्तर भारत में विधवा विवाह सहायक सभा की स्थापना की। 1929 ई. में हरविलास शारदा के प्रयासों से 'शारदा एक्ट' पारित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हुआ, जिसके अनुसार 18वर्ष से कम उम्र के लड़के तथा 14वर्ष से कम उम्र की लड़की का विवाह कानूनन अपराध माना गया।

26.3.6 स्त्रियों की दशा में सुधार – पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय नारियों की दशा में सुधार हुआ। स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये भी आर्य–समाज, ब्रह्म समाज एवं ईश्वरचन्द्र विद्या सागर जैसे अनेक समाज, सुधारक संस्थानकों एवं सुधारकों ने देश में स्त्री शिक्षा को बढ़ावा दिया। समाज में स्त्रियों को समाजिक एंव राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए और नारी को आदर एवं प्रतिष्ठा मिलने लगी।

26.3.7 दलित वर्ग का उद्धार – दलित वर्ग की स्थिति में सुधार लाने के लिये आर्य समाज प्रार्थना समाज और महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने रचनात्मक कार्यक्रम अपनाये जिससे समाज के दलित वर्ग की स्थिति मे पर्याप्त सुधार हुआ। यह सारा सुधार पाश्चात्य प्रभाव के कारण हुआ।

26.4 धार्मिक प्रभाव

पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय धर्म पर भी गहरा एवं व्यापक प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य शिक्षा के कारण हमारे विश्वासों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। धार्मिक क्षेत्र में भी अलग–अलग प्रभाव पड़ा जो इस प्रकार है–

26.4.1 ईसाई धर्म का प्रचार – भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद ईसाई धर्म प्रचारकों ने ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया। इन ईसाई मिशनकारियों ने भारत के निम्न जातियों की शोचनीय स्थिति का फायदा उठाते हुये उन्हे ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया तथा भारतीय धर्म की हंसी उड़ाई। जहां भारतीय धर्म में ऊँचनीच, अनेको कर्मकाण्ड थे वहीं ईसाई धर्म के एकत्व और बन्धुत्व ही भावना ने न केवल निम्न जाति के लोगों को बल्कि शिक्षित वर्ग को भी ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता की ओर आकर्षित किया। धीरे–धीरे हिन्दू धर्म की सामाजिक प्रथाओं के विरोध मे हजारों भारतीय ईसाई धर्म को स्वीकार करने लगे। ईसाई धर्म के बदले हुये प्रभाव के विरूद्ध धर्म सुधार आन्दोलन शुरू हुये।

26.4.2 धर्म सुधार आन्दोलन – पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीयों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वतन्त्र चिंतन और प्रगतिशील विचार उत्पन्न हुये जिसके कारण भारतीयों में धार्मिक आडम्बरों, परम्परागत रूढ़ियो आदि का स्थान तर्क और ज्ञान ने लें लिया। धर्म पर छाया हुआ पाखण्ड और बाह्य आडम्बरों का आवरण हटने लगा तथा भारतीयों मे एक आत्म विश्वास तथा अपनी प्राचीन गौरवमयी परम्पराओं के प्रति श्रृद्धा उत्पन्न की जिससे देश मे राष्ट्रिय चेतना का सचार हुआ।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – पाश्चात्य संस्कृति का दैनिक जीवन पर किस प्रकार प्रभाव पड़ा बताइये (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

26.5 आर्थिक प्रभाव

यद्यपि भारत में अंग्रेजी हस्तक्षेप का मुख्य कारण आर्थिक था। जहां इनका प्रभाव प्रमुख है तथा यह सब हानिप्रद तथा घिनौना है। उन्होंने भारत के सम्भावित आर्थिक धन का शोषण करने के लिये पूर्ण कपटी मार्ग अपनाएं आर्थिक क्षेत्र में भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा। जो इस प्रकार है –

26.5.1 भारत का आर्थिक शोषण – अंग्रेजों ने भारत में आते ही भारतीयों के व्यापार को चौपट कर दिया और उनका आर्थिक शोषण किया। प्लासी के युद्ध के बाद से ही अंग्रेजों ने लूट पाट प्रारम्भ कर दी। अंग्रेजों ने अलग–अलग रूपों में भारत के धन को इंग्लैण्ड भेजना प्रारम्भ कर दिया। भारत से धन का निकास निम्न रूपों में था– गृह व्यय, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भागीदारों को लाभाशं, सार्वजनिक ऋण जैसे अफगान, बर्मा, नेपाल युद्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 7 करोड़ पौड़ ऋण को भारत में कम्पनी के क्षेत्रों का विस्तार करके पूरा किया, अंग्रेज पदाधिकारियों को पेन्शन तथा अवकाश के लिये भी भारतीय कोष से ही धन दिया जाता था। इंग्लैण्ड में भण्डार वस्तुओं की खरीद, विदेशी पूंजी निवेश पर दिया जाने वाला ब्याज, विदेशी बैंक, इन्शोरेन्स, नौवहन कम्पनियों आदि के द्वारा भी भारत के धन का निष्कासन हो रहा था जो भारत की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव डाल रहा था।

26.5.2 ब्रिटिश सरकार का भूमि बन्दोबस्त – अंग्रेजों ने भारतीय राजनीति को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि अंग्रेजों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

द्वारा भारतीयों पर लगाई कठोर लगान व्यवस्था ने भी भारतीयों को अत्यधिक प्रभावित किया। अंग्रेजों ने भारत में स्थाई बन्दोबस्त, रैयतवाड़ी तथा महलवाड़ी व्यवस्था किसानों के लिये शुरू की लेकिन इन प्रणालियों से किसानों से अत्यधिक मात्रा में लगान वसूल किया जाता था। लगान की अत्यधिक राशि के कारण किसानों की दशा दयनीय हो गई।

26.5.3 उद्योग धन्धों का विनाश – अंग्रेजों की दोषपूर्ण आर्थिक नीति के कारण भारत के उद्योग धन्धे नष्ट हो गये। अंग्रेज भारतीय उद्योग धन्धों के प्रति उदासीन रहे। अंग्रेजों ने केवल उन्ही उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जो इंग्लैण्ड की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। अंग्रेजों को अपनी आवश्यकतानुसार कच्चा माल भारत से मिलने लगा तथा वहां से निर्मित माल भारत आने लगा। इस तरह भारत मात्र कच्चे माल की मण्डी बन कर रह गया। इस प्रकार भारत में औधोगिक विकास रूक गया।

26.5.4 भारत का नवऔधोगिकरण – 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रियता की भावना जागृत हुई। विदेशी व्यापार तथा अंग्रेजों की व्यापारिक नीति, उद्योग आदि से भारतीयों में भी औधीगिकरण का विकास प्रारम्भ हुआ फलस्वरूप देश में गेट सरकारी भारतीय व्यापारिक संस्थाओं ने उद्योग धन्धों के विकास के लिये कदम उठाये। भारत में वस्त्र, पटसन, लोहा, कागज, सीमेन्ट, चीनी, चमड़े आदि के उद्योगों को स्थापित किया गया।

26.5.5 कृषि का विकास – कृषि शिक्षा के लिये भी अनेक प्रयास किये गये जो पाश्चात्य संस्कृति से ही प्रभावित थे। उच्च्य कृषि शिक्षा के लिये 1903 में 'एग्रीकल्चर इन्स्टीट्यूट' की स्थापना हुई। 1905 ई. में भारत सरकार ने अखिल भारतीय कृषि बोर्ड की स्थापना की। 1908ई. पूना में 'एग्रीकल्चर कॉलेज' तत्पश्चात कानपुर, कोयम्बूटर आदि कई स्थानों में 'एग्रीकल्चर कॉलेज' स्थापित हुये।

26.5.6 यातायात के साधनों का विकास – पाश्चात्य प्रभाव के कारण जल, स्थल एवं वायु यातायात के साधनों का विकास किया गया। हालांकि यातायात के साधनों का उपयोग अंग्रेज अपनी प्रशासनिक समस्याओं के निराकरण हेतु करना चाहते थे, फिर भी उनका यह कार्य भारतीय औधोगिक विकास को गति देने वाला सिद्ध हुआ।

26.6 शिक्षा का प्रभाव

शिक्षा संस्कृति की धात्री है, क्योंकि शिक्षा के माध्यम से ही संस्कृति के अणु राष्ट्रिय जीवन में प्रवेश करते है। यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व्यापारिक कम्पनी होने के साथ–साथ भारतीय शिक्षा पर भी अपना ध्यान आकर्षित किया। शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रभाव निम्नलिखित कहे जा सकते है–

26.6.1 अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार – ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीयों को पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के रंगने का प्रयास किया गया। 1835 ई. में लार्ड विलियम बैंटिक ने लॉर्ड मैकाले की सिफारिश पर भारत मे पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली लागू की। 1835 ई. में कलकत्ता में मैडिकल कॉलेज की नींव रखी गई। 1854 ई. में कम्पनी के बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड ने शिक्षा के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण नीति निर्धारिता की, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा विभाग खोला गया, जिसका प्रबन्ध एक 'डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इस्ट्रक्शन' को सौंपा गया। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इस नीति के अनुसार नीजि शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने की प्रथा आरम्भ हुई और अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये संस्थाएं स्थापित हुई। इसमें स्त्री शिक्षा का भी प्रबन्ध था जिसके अन्तर्गत कलकत्ता में एक महिला विद्यालय स्थापित कर स्त्री शिक्षा के विकास में अपनी भूमिका निभाई। 1813 ई. में पहली बार ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने कम्पनी के चार्टर में भारत में शिक्षा के प्रसार हेतु कुछ राशि का प्रावधान किया। इसका उद्देश्य भारत में पश्चिमी ज्ञान का आलोक फैलाने एव धार्मिक तथा नैतिक उत्थान हेतु भारत में रहकर कार्य करने वालों को सुविधा उपलब्ध करवाना था। अब शासकीय भाषा के रूप मे फारसी का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया। कुछ जिज्ञासु भारतीय अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी विज्ञान एंव साहित्य की ओर आकर्षित हुये।

26.6.2 अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव – अंग्रेजी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान का प्रसार करना था। अंग्रेजी शिक्षा से भारत में पाश्चात्य ज्ञान और क्रांतिकारी विचारों का प्रवेश हुआ। अंग्रेजी शिक्षा का सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी प्रभाव पड़ा। इसके अलावा बुद्धि जीवियों का एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ। जिसने लोगों में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के विचारों का प्रचार किया और इसे प्राप्त करने के लिये संघर्ष किया। पाश्चात्य संस्कृति की आंधी के प्रथम झोंके से कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग ऐसे प्रभावित हुये कि उन्होने अंग्रेजी लिबास, अंग्रेजी खाना, अंग्रेजी रहन–सहन आदि ग्रहण कर लिया, जिससे प्राचीन भारत के गौरव की विशेषताएं समाप्त होने लगी। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा केवल कुछ लोगों को ही शिक्षित अवश्य ही बना सकी किन्तु इन पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों ने प्राचीन भारतीय आदर्शो को नष्ट कर दिया, जिससे भारतीय समाजिक जीवन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के मूल्य ही नष्ट हो गये।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – पाश्चात्य् संस्कृति का उद्योग धन्धों पर कैसा प्रभाव पड़ा समझाइये। (30 शब्द सीमा)

उत्तर –..

26.7 साहित्य पर प्रभाव

साहित्य का क्षेत्र भी पाश्चात्य सभ्यता एंव संस्कृति के प्रभाव से वंचित न रह सका जिसके कारण नये साहित्य का सर्जन हुआ। पत्रकारिता के कारण सभी भारतीय भाषाओं में गद्य साहित्य का विकास हुआ है। प्रारम्भ में ईसाई धर्म के प्रचार के लियें छापेखाने का प्रयोग हुआ किन्तु धीरे–धीरे छापेखाने के विकास से सभी भारतीय भाषाओं मे कविता के साथ–साथ साहित्य, उपन्यास, नाटक, आख्यान, लेख आदि प्रकाशित होने लगे। पाश्चात्य प्रभाव के कारण साहित्य में 'व्यष्टि' प्रधानता का समावेश हुआ। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से स्वतंत्रता समानता एंव राष्ट्रियता की भावना का विकास हुआ। साहित्यकारों की रचनाओं से देश मे नव जागरण का संचार हुआ और एक नयी दिशा का बोध हुआ।

ईसाई पादरियों एवं प्रबुद्ध अंग्रेजो ने अठारहवीं शत्ताब्दी के उत्तरार्ध एवं उन्नीसवीं के आरम्भ में संस्कृत की, गद्य, शैली में रचित अनेक पुस्तकों यथा कथोपकथन, सिंहासन बत्तीसी, हितोपदेश, राजाप्रतापादित्य चरितम् का प्रबोध चन्द्रिका आदि गीता, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का प्रकाशन किना गया। व्याकरण शास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे गये एवं शब्द कोषों की रचना हुई। इस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव शिक्षा पर भी व्यापक रूप से पड़ा।

26.8 राजनीतिक प्रभाव

राजनीतिक क्षेत्र में भी पाश्चात्य सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। भारत में जनतांत्रिक पद्धति का विकास, संसदीय शासन व्यवस्था सवैंधानिक शासन व्यवस्था आदि ब्रिटिश शासन की ही देन मानी जा सकती है। वर्तमान भारत में शासन की व्यवस्था का मूलआधार वहीं है जिसकी शुरूआत अंग्रेजों ने भारत में की थी। स्वतन्त्रता समानता, जनतन्त्र राष्ट्रवाद, समाजवाद आदि जितनी भी राजनीतिक विचारधाराएँ भारत में प्रचलित है, उनका मूल स्रोत पाश्चात्य चिंतन में देखने को मिलता है।

26.9 प्रान्तीय भाषाओं का उदय

भारतीयों के मानस पर बुद्धिवाद, संशयवाद, उपयोगितावाद, ट्रांसेन्डेण्टेलिज्म, विज्ञानवाद जैसी यूरोपीय चिन्तन धराओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। साहित्य की विभिन्न विद्याओं पर कविता, नाटक, कथा–साहित्य, इतिहास आदि पर सर्वाधिक प्रभाव रोमेन्टिसिज्म का दिखाई पड़ता है। उन्नीसवी शताब्दी में अंग्रेजी साहित्यकारों –शैक्सपियर, स्विनबर्न, डेनियल डेफो, टॉमस हार्टी, डिकिन्स आदि– के दृष्टिकोण, शैली, छन्द रचना आदि से भारतीय बहुत प्रभावित हुए। अब जीवन में व्यक्तिगत अनुभव, पवित्रता एंव समर्पण भाव, नैतिकता, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत बन्धनों को तोड़कर समाज एंव देश के प्रति सेवा भाव, मानवातावादी दृष्टिकोण को साहित्य में अभिव्यक्ति मिली। प्रान्तीय भाषाओं में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव काफी पड़ा। राजाराममोहन राय का संवाद – कौमुदी, देवन्द्रनाथ ठाकुर की तत्वबोधिनी पत्रिका, ईश्वरचन्द्र गुप्ता की सम्वाद प्रभाकर से बंगला भाषा का तेजी से विकास हुआ। इसके अलावा रंगलाल बनर्जी की 'पद्मिनी–उपाख्यान' 'कर्मदेवी' एंव 'शुर सुन्दरी', हेमचन्द्र बधोपाध्याय के महाकाव्य– 'वीर बहु' 'भारत संगीत', नवीनचन्द्र सेन की 'रैवतकद्ध, 'कुरूक्षेत्र' एंव 'प्रमास' के माध्यम से भारतीय समाज के पुररूत्थान एवं स्वतन्त्रता के स्वप्न को अभिव्यक्ति देकर समाज को इस ओर प्रेरित करने का प्रयास किया गया। माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'शर्मिष्ठा', 'पद्मावती' एवं 'कृष्णकुमारी' तथा महाकाव्य 'तिलोत्तमा' व 'मेघनाद वध' लिखे।

26.10 चित्रकला पर पाश्चात्य प्रभाव

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ ही भारतीय कला परम्परा का हवास हो गया। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में राजा रवि वर्मा ने पश्चिमी शैली, तकनीक एंव सिद्धान्तों को अपनाकर भारतीय चित्रकला का पुनरूद्धार किया अब शैली, तकनीक एवं सिद्धान्तों को अपनाकर भारतीय चित्रकला का पुनरूद्धार करने का प्रयत्न किया। उन्होने भारतीय जीवन एवं दृश्यों (लैंडस्केप्स) एवं पौराणिक कथानकों को तैल चित्रों में उतारा। इन चित्रों पर पश्चिमी तैल चित्र शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। स्वतन्त्रोतर भारतीय चित्रकला की मुख्यधारा 'अरूपवादी' शैली को अंगीकार करके चली। इस शैली की प्रेरणा, शिल्प एवं कलातन्त्र, सब कुछ पश्चिमी है। इस प्रकार चित्रकला पर भी पाश्चात्य प्रभाव देखा जा जाता है।

26.11 भारतीय वास्तुकला पर प्रभाव

पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय वास्तुकला को भी प्रभावित किया। प्रारम्भ में अंग्रेजो ने यूरोपीय शैली के चर्च और भवनादि बनाये। धीरे–धीरे जब उनके पैर भारत में जम गये तब भारतीय एंव यूरोपीय शैली के भवनों का निर्माण आरम्भ हुआ इस शैली को यूरोपीय शैली या इण्डो–ब्रिटिश शैली कहा जा सकता है। कलकत्ता व मद्रास के चर्च, लाहौर व शिमला के गिरजाघर, कलकत्ता व लाहौर के हाईकोर्ट इस शैली के महत्वपूर्ण नमूने है। यें ईंटों व लोहे के गर्डरों अथवा धरनों से बने गुम्बद वालें बड़े–बड़े भवन है। इनका तल–विन्यास, मध्य भाग व फसाड़ (अग्रभाग) विक्टोरिया है और शीर्ष व सजावट भारतीय है। पाश्चात्य प्रभाव से कला के स्मारकों में यूरोपीय शैली तथा गुम्बद एवं मेहराव जैसे भारतीय तत्वों का संयुक्त समायोजन देखने को मिलता है। पाश्चात्य वास्तुकला का प्रभाव धीरे–धीरे बढ़ता ही चला गया आधुनिक वास्तु–शिल्प के निर्देश सचिवालय, विधान सभाएं, कलाकेन्द्र, कलादीर्घायें, होटल, मन्दिर आदि भी है। इनमें जहा–तहां पारम्परिक भारतीय वास्तु शिल्प के तत्वों का वास्तुशिल्प के 'सार्वभौमिक' तत्वों के साथ समावेश भी देखने को मिलता है।

26.12 विज्ञान पर प्रभाव

पाश्चात्य प्रभाव में आकर भारत में ज्योतिष, गणित एवं आयुर्वेद तीनों के क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। 1876 ई. में मदनलाल सरकार ने वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिषद् स्थपित करके वैज्ञानिक शिक्षण एंव अनुसंधान का श्री गणेश किया। इसी प्रकार 1890 ई. में जगदीशचन्द्र बोस ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य आरम्भ किया। 1902 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान की शिक्षा प्रारम्भ की गई। 1911 ई. में बैंगलोर में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स' की स्थापना की गई। भारत में भी अनेक वैज्ञानिकों ने अलग–अलग क्षेत्र में रूचि दिखाते हुये अनुसंधान किये इन वैज्ञानिकों में गणितज्ञ श्री निवास रामानुजम, वनस्पति विज्ञानशास्त्री जगदीशचन्द्र बोस, भौतिक विज्ञानशास्त्री चन्द्रशेखर वैकटरमण और मेघनाद शाहा आदि के नाम उल्लेखनीय है। 1919 ई. में चन्द्रशेखर वैकटरमण ने नोबल पुरस्कार प्राप्त कर भारत को गौरव प्रदान कराया। इसी प्रकार वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में डॉ. बीरबल साहनी ने नवीन शोध कार्य कर के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। भौतिक विज्ञान में देश का नाम रोशन किया। यह पाश्चात्य विज्ञान का ही प्रभाव था कि भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये एक पृथक् विभाग की स्थापना की गई। इसी प्रकार एक वैज्ञानिक परामर्शदात्री परिष्द का भी गठन किया गया।

इस वैज्ञानिक प्रगति ने हमारे सामाजिक जीवन को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया है, जिससे हमारे सामाजिक एंव सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन आ रहा है और एक नई भारतीय संस्कृति का निर्माण हो रहा है।

26.13 अन्य प्रभाव

पाश्चात्य सभ्यता के परिणामस्वरूप देश में वैज्ञानिक उन्नति के साथ–साथ तर्क और व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिला। आधुनिक भारतीय स्थापत्य कला, चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला आदि पर भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। संस्कृत साहित्य की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने और वेदों, उपनिषदों, पुराणों व बौद्ध ग्रन्थों के भूले हुये महत्व को पुनः पहचानने में मैक्समूलर, विलियमजीन्स जैसे पाश्चात्य विद्वानों का योगदान उल्लेखनीय है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – पाश्चात्य संस्कृति का विज्ञान में योगदान पर टिप्पणी लिखिये (30 शब्द सीमा)

उत्तर –...

26.14 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने भारतीय जीवन एवं संस्कृति के सभी क्षेत्रों को किसी न किसी रूप में और किसी न किसी सीमा तक अवश्य प्रभावित किया। पाश्चात्य चिंतन ने भारतीय जनमानस पर अपनी छाप छोड़ी। इस प्रकार आधुनिक भारत में जीवन के हर पहलू पर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के तत्वों को संरक्षण मिल रहा है। अनुकरणीय तत्वों को ग्रहण करना देश के लिये लाभदायक होने के साथ ही संस्कृति में भी समृद्ध होती है। लेकिन भारतीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संस्कृति की मूलभूत विशेषताएं पश्चिम का अन्धानुकरण करने से नष्ट हो रहा है। अतःपूर्व और पश्चिम का उचित समन्वय ही भारत और पाश्चात्य संस्कृति के लिये श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – भारतीय कला पर पाश्चात्य प्रभाव बताइये (30 शब्द सीमा)

उत्तर –..

26.15 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 कब और किस अंग्रेज अधिकारी ने सत्ती प्रथा को अवैध एंव दण्डनीय घोषित किया?
प्रश्न–2 पाश्चात्य संस्कृति का साहित्य पर प्रभाव को बताइये (30 शब्द सीमा)
प्रश्न–3 भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव पर निबन्धात्मक टिप्पणी लिखिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–27 : ब्रह्म समाज

संरचना

27.0 प्रस्तावना
27.1 उद्देश्य
27.2 भूमिका
27.3 राजाराममोहन राय का जीवन परिचय
27.4 'ब्रह्म समाज' की स्थापना
27.5 'ब्रह्म समाज' के सिद्धान्त
27.6 'ब्रह्म समाज' का योगदान
    27.6.1 सामाजिक क्षेत्र में योगदान
    27.6.2 धार्मिक क्षेत्र मे योगदान
    27.6.3 राष्ट्रियता के क्षेत्र में योगदान
    27.6.4 शिक्षा के क्षेत्र में योकगदान
27.7 'ब्रह्म समाज' का संघभेद
    27.7.1 आदि ब्रह्म समाज और देवेन्द्रनाथ टैगोर
    27.7.2 भारतीय ब्रह्म समाज और केशवचन्द्र सेन
27.8 सारांश
27.9 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

27.0 प्रस्तावना

19वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति, पश्चिमी सभ्यता संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित हो चुकी थी। पाश्चात्य विचारधारा ने प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयों को प्रभावित किया ऐसे में अनेक सामाजिक कुरीतियों ने भारतीय समाज को और भी जर्जर बना दिया ऐसे में अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय नवयुवकों ने ईसाई धर्म अपनाना प्रारम्भ कर दिया। इस नई चेतना ने भारतीय समाज, धर्म, साहित्य तथा राजनैतिक जीवन को गम्भीरता से प्रभावित किया इस नई चेतना के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी में भारत में अनेक धर्म एंव समाज सुधार आन्दोलन हुये भारतीय धर्म की नयी व्याख्या होने लगी तथा सामाजिक बुराइयों पर प्रबल प्रहार किया गया। इस प्रवृत्ति के धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में नवजागरण या पुनर्जागरण की संज्ञा दी गई। पुनर्जागरण के प्रणेताओं ने भारत के प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया जिनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज प्रार्थना समाज आदि प्रमुख थे।

ब्रह्म समाज के प्रणेता राजा राममोहन राय थे जो पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित थे। इन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना कर समाज में व्याप्त बुराईयों एंव कुरीतियों को दूर करने का सफल प्रयास किया परिणामस्वरूप वे राजनीतिक चेतना के अग्रदूत कहलाये।

27.1 उद्देश्य

ब्रह्म समाज के प्रणेता राजा राममोहनराय ने समाज में व्याप्त बुराइयों का अन्त करने के लिये ब्रह्म समाज की स्थापना की। इन्हे लोग 'नये भारत का जनक' कहते थे। राजा राममोहन राय 19वीं शताब्दी के पहले भारतीय थे जिन्होंने भारतीय धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। ब्रह्म समाज का प्रमुख सिद्धान्त एकेश्वरबाद, विश्व बन्धुत्व, तथा सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना था। इस पाठ के द्वारा 19वी शताब्दी में हुये सामाजिक, धार्मिक आन्दोलन से पाठकों को अवगत कराना है विशेषतः 'ब्रह्म समाज' का क्या योगदान था' इस सन्दर्भ में। इसके अलावा निम्न बिन्दुओं पर विचार किया जायेगा–

- राजा राममोहन राय का ब्रह्म समाज को योगदान
- ब्रह्म समाज के सिद्धान्त

* ब्रह्म समाज के संघभेद–आदि ब्रह्म समाज और ब्रह्म समाज
* ब्रह्म समाज का योगदान विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में, राष्ट्रियता के क्षेत्र में, आदि का विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

27.2 भूमिका

ब्रह्म समाज आन्दोलन 19वीं सदी के भारतीय नवजागरण का प्रथम प्रतिफल था। यूरोपीय संस्कृति और धर्म से प्रभावित हिन्दू धर्म का यह नवीन रूप था, जिसने हिन्दू समाज में एक नया दृष्टिकोण पैदा किया तथा उदार लोकतान्त्रिक आदर्शो के प्रति अपनी आस्था प्रकट की यूरोप से आये बुद्धिवाद के यह अनुरूप था और उपनिषदों का अद्वैतवाद इसका आधार था। इसकी स्थापना सन् 1828 में राजा राम मोहन राय ने की तथा बाद में देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन आदि ने इसका पोषण किया। राजा राम मोहन राय पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान और मूल भारतीय संस्कृति के आदर्शो और मूल्यों के समन्वय के द्वारा एक नये समाज का स्वप्न देख रहे थे और ब्रह्म समाज की स्थापना से काफी सीमा तक समाज में सुधार सम्भव भी हुआ। लेकिन समय के साथ इसके सदस्यों में वैचारिक मत भेद प्रारम्भ हो गया परिणामस्वरूप ब्रह्म समाज अनेक शाखाओं में बंट गया लेकिन फिर भी यह कह सकते है कि ब्रह्म समाज ने देश में नवचेतना जागृत करने में विशेष भूमिका अदा की

27.3 राजाराममोहन राय का जीवन परिचय

राजाराममोहन राय का जन्म प. बंगाल के हुगली जिले के राधानगर गांव में 22 मई 1772 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम रामकण्ठ राय तथा माता का नाम तारिणी देवी था। इनके पिता सिराजुदौला के दरबार में काम करते थे। परन्तु नवाब के दुर्व्यवहार के कारण उन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया, और रात दिन ईश्वर भक्ति में लग गये। मुस्लिम दरबार से जुड़ें होने के कारण इनके पिता ने इन्हे फारसी और अरबी भाषाओं की शिक्षा दिलाई क्योंकि उस समय यही दरबार की भाषाएं थी। कुछ समय बाद राजाराम मोहन राय ने संस्कृत शिक्षा भी ग्रहण कर ली। 12 वर्ष में ही इन्होंने हिन्दू शास्त्रों का भी अध्ययन किया। इनके तीन विवाह हुये प्रथम पत्नि का जल्द ही स्वर्गवास होने के कारण एक वर्ष में ही उनका दूसरा ही नहीं बल्कि तीसरा भी विवाह कर दिया। इनकी शिक्षा पटना और वाराणसी में हुई। बचपन से ही आप मूर्तिपूजा के खिलाफ थे। इन्होने 'हिन्दूओं की मूर्तिपूजा और धर्म प्रणाली' पर एक लेख लिखा। 15 वर्ष की आयु में वे तिब्बत गये जहां मूर्तिपूजा का विरोध करने पर उन्हें वहां से पुनः भागना पड़ा एक बार फिर ये वाराणसी पहुंचे मगर इसी बीच पिता की मृत्यु का समाचार सुना। इस बार अपने परिवार की जिम्मेदारी माता पर डालकर कलकत्ता व्यवसाय करने चले। अब तक राजा राम मोहनराय का अंग्रेजो के प्रति विचार अच्छे नहीं थे। लेकिन कलकत्ता आने के पश्चात् अंग्रेजों के प्रशासकीय गुणों बुद्धिमानों और समय को देखकर उनका अंग्रेजो के प्रति पूर्वाग्रह समाप्त हो गया अब वे अंग्रेजो के विश्वासपात्र बनने लगे । 1803 ई. में इन्होनें कलेक्टर टामस फुटफोर्ड के यहां मुंशी का कार्य किया। 1809 ई. में रंगपुर चले गये। 1812 ई. में राजाराममोहन राय के बड़े भाई जगमोहन की मृत्यु पर उनकी पत्नि को सत्ती होते देख इनका मन बहुत दुःखी हुआ परिणास्वरूप 17 वर्ष बाद इन्ही के अथक प्रयासों से 4 दिसम्बर 1829 ई. को सरकारी आध्यादेश से सती प्रथा पर रोक लगाई गई।

यहां से पुनः कलकत्ता चले गये। 1814 ई. तक इन्होने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी की। इसके पश्चात् नौकरी से त्यागपत्र देकर धर्म एवं समाज सुधार के कार्य में लग गये। 1815 ई. में द्वारिकानाथ ठाकुर, राजा कालिकिंकर घोषाल, जय कृष्णसिंह और गोपीनाथ मुंशी के साथ मिलकर ''आत्मीय सभा'' की स्थापना की। इस सभा का मुख्य उद्देश्य आत्मिक उन्नति के साधनों पर विचार करना था। राजाराममोहन राज ने सर्वप्रथम इस संस्था के माध्यम से उपनिषदों का अनेक भाषाओं में अनुवादः करके बंटवाया। 1815 से 1817 ई. तक इन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थों का बंगला, अंग्रेजी एवं जर्मन भाषा में अनुवाद किया।

1817–1824 ई. तक विभिन्न लेख, पत्रों एवं पुस्तकों के माध्यम से समाज में फैली कुरीतियों का विरोध किया। 1821 ई. में 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया और 1828 ई. में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। जीवन के अन्तिम वर्ष में मुगल सम्राट का एक प्रतिवेदन लेकर इग्लैण्ड गये जहां इनका 1833 ई. में देहान्त हो गया।

27.4 'ब्रह्म समाज' की स्थापना

हिन्दू समाज में नये धार्मिक विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से ही उन्होंने कलकत्ता में 1815 ई. 'आत्मीय सभा' तथा 1816 ई. में 'वेदान्त कॉलेज' की स्थापना की। 1821 ई. में राममोहन राय की सहायता से 'यूनीटेरियन कमेटी' की स्थापना हुई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1823 ई. तक तो आत्मीय सभा तथा 'यूनीटेरियन कमेटी सुचारू रूप से चलती रही लेकिन राजाराममोहन की अनुपस्थिति में 1826 तक ये दोनों संस्थाए एक दूसरे से मिल गयी जिसका नया नाम अब 'ब्रिटिश इण्डियन यूनिटेरियन एसोसियेशन' रख दिया गया। स्पष्ट है कि राजा राममोहन राय दो धार्मिक विचारधाराओं के बीच नये मार्ग को खोज रहे थे लेकिन कुछ ही समय बाद वे समझ गये कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी भाषा और धर्मग्रन्थों के माध्यम से ही अपना पथ निर्माण करना पड़ता है और इसलिये 22 अगस्त 1828 को इस सभा को 'ब्रह्म सभा' बाद में 'ब्रह्म समाज' का नाम दिया गया। इसके सदस्यों के लिये छोटी सी पुस्तक 'ब्रह्मोपासना' भी प्रकाशित की गई।

ब्रह्म समाज मूलतः भारतीय था और इसका आधार था उपनिषदों का अद्वैतवाद। इसकी बैठकों में वेद तथा उपनिषद् के मन्त्रों का पाठ हुआ करता था। ये पाठ दो तेलगू ब्राह्मण करते थे वे वेदों का पाठ पर्दे के भीतर से करते थे जहां अब्राह्मणों का प्रवेश निषिद्ध था। उत्सवानन्द उपनिषदों का पाठ करते थे और रामचन्द्र विद्यावागीश उसका अर्थ बंगला में समझाते थे। अधिवेशन में मूर्तिपूजा को नहीं माना जाता था। ब्रह्म समाज ने अवतारों को नहीं माना और लोगों का ध्यान उस निराकार, निर्विकार, एक ब्रह्म समाज की ओर आकृष्ट किया, जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है किन्तु ब्रह्म समाज की इससे भी बड़ी विशेषता यह थी कि वह सभी धर्मो के प्रति उदार एंव सहानुभूतिशील था। इस प्रकार ब्रह्म समाज के द्वारा राजा राममोहन राय सभी धर्मो के लोगों के बीच एकता एवं सद्भाव की वृद्धि करना चाहते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

27.5 'ब्रह्म समाज' के सिद्धान्त

राजा राममोहन राय वेदान्त के आधार पर हिन्दुत्व के ऐसे रूप की प्रतिष्ठा करना चाहते थे जो बुद्धिवाद और विज्ञान की कसौटी पर खरा उतर सके इसलिये उन्होंने ब्रह्म समाज का जो विधान बनाया उसमें मूर्तिपूजा, अवातारवाद तीर्थ व्रत आदि बाह्य कर्मकाण्ड का कोई महत्व न था इसकी इच्छा थी कि भारत यूरोप से विज्ञान को ग्रहण करे और साथ ही अपने धर्म का बुद्धि सम्मत रूप संसार के सामने रखे।

इसकी स्थापना का उद्देश्य उसके न्यास संलेख में दिया हुआ है– यहां किसी साम्प्रदायिक नाम से उपासना नहीं की जायेगी। जाति, धर्म या सम्प्रदाय का, सामाजिक पद का कोई भेदभाव नहीं होगा। यहां न तो कोई चित्र या मूर्ति होगी, न प्रसाद चढ़ेगा और न ही बलि कर्म होगा। किसी सम्प्रदाय का अनादर नहीं होगा। केवल जगत के सृष्टा, पालनहार, निराकार परमेश्वर की उपासना की जायेगी। ऐसा भाषण, संगीत और प्रार्थना की जायेगी जो प्रेम, भक्ति और दया का प्रसार करे।

यह एक सुधार आन्दोलन था और इसका लक्ष्य हिन्दू समाज की कुरीतियों को समाप्त करना था। राजाराममोहन राय इसके पहले प्रचारक थे। उन्होंने सती प्रथा का डटकर विरोध तथा विधवा–विवाह का समर्थन किया। उन्ही सफल प्रयासों से लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 ई. में सती विरोधी कानून बनाया उन्होंने धर्मानुसार सम्बन्धी कई ज्ञापन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों को भेजे। उन्होंने भारतीयों के लिये अंग्रेजी शिक्षा को महत्वपूर्ण बतलाया और इसके लिये कलकत्ता में एक कॉलेज की स्थापना की। ब्रह्म समाज मूर्तिपूजा और जाति भेद का विरोध करता था और अन्तर्जातीय विवाह को वैध बनाना चाहता था। इस प्रकार ब्रह्म समाज ईसाईयत के विरोध मे हिन्दू समाज की रक्षा के लिये हिन्दूओं का प्रथम चरण था।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– राजा राममोहन राय के जीवन परिचय पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये (30 शब्द सीमा)

उतर– ....

27.6 'ब्रह्म समाज' का योगदान

ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने व समाज की कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। ब्रह्म समाज ने भारतीय समाज के सभी क्षेत्रों में नवीन जागृति उत्पन्न की। ब्रह्म समाज ही वह पहला संगठन था, जिसने हिन्दू धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर आक्रमण करने उसकी दीवारों में दरार पैदा की इस तरह हिन्दू धर्म को नवीन, आधुनिक और सरल बनाने का श्रेय ब्रह्म समाज को है। ब्रह्म समाज ने प्रत्येक क्षेत्र में सुधार किये जो इस प्रकार है–

27.6.1 समाजिक क्षेत्र में योगदान – राजा राममोहन राय हिन्दू समाज की दशा सुधारने को बहुत उत्सुक थे। यद्यपि इन्होंने धर्म सुधार के कार्य भी किये परन्तु वे एक समाज सुधारक के रूप में अधिक सफल सिद्ध हुये। उन्होंने समाज मे प्रचलित कुरीतियों और अंधविश्वासों को दूर करने में पाश्चात्य शिक्षा को भी सहायक बतलाया। वे पश्चिमी समाज की अच्छी बातों को भारतीय समाज में लाना चाहते थे उनके नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने समाज के क्षेत्र में प्रशसनीय कार्य किये।

उन्होने परम्परागत रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विरोध किया उन्होने समाज में प्रचलित बहुविवाह तथा बाल–विवाह का विरोध किया तथा विधवा–विवाह का समर्थन किया। स्त्री शिक्षा तथा स्त्रियों के समानाधिकार के भी वे प्रबल समर्थक थे। इन सभी प्राचीन कुप्रथाओं के विरूद्ध उन्होंने भंयकर आन्दोलन संगठित कर दिया।

उन्होंने समाज मे व्याप्त कुप्रथा सती प्रथा का भी कड़ा विरोध किया। उन्होंने विधवा भाभी को सती होते देखा था जिसे देखकर इनका हृदय द्रवित हो उठा। परिणामस्वरूप उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध ''शास्त्रार्थ'' नामक ग्रन्थ मे कई निबन्ध लिखे और इसे अमानुषिक प्रथा बताया। राजाराममोहन राय के प्रयासों से ही 1829 ई. लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया।

ब्रह्म समाज ने जाति प्रथा तथा ऊँच नीच का भी विरोध किया। ब्रह्म समाज ने हिन्दू जाति में प्रचलित छुआछूत और अस्पृश्यता का भी तीव्र विरोध किया। समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर लाखों व्यक्तियों को ईसाई धर्म अपनाने से रोका तथा जाति–पाति को तोड़कर अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। इस प्रकार ब्रह्म समाज ने हिन्दू जाति की सभी सामाजिक बुराइयों पर कठोर प्रहार कर उससे नवचेतना का संचार किया।

27.6.2 धार्मिक क्षेत्र मे योगदान– धार्मिक क्षेत्र में भी ब्रह्म समाज पीछे नहीं रहा। आधुनिक भारत के धार्मिक जागरण का प्रारम्भ राजा राममोहन राय से ही होता है। उन्होंने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति को अंधविश्वास तथा आडम्बरों के जाल से मुक्त किया। उन्होने सत्य की खोज करने का प्रयास किया तथा इन्होने ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म और हिन्दू धर्म का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्मो में एकेश्वरवाद का सिद्धान्त प्रचलित था। उन्होने मूर्तिपूजा, अनेकेश्वरवाद एंव जातियों की कट्टरता का विरोध करते हुये कहा कि मूर्तिपूजा को वेदों तथा उपनिषदों मे कोई मान्यता प्राप्त नहीं है उन्होने मूर्तिपूजा को हिन्दू समाज के समस्त दोषों का मूल कारण बताया।

27.6.3 राष्ट्रियता के क्षेत्र में योगदान – ब्रह्म समाज ने राष्ट्रियता की भावना के निर्माण मे भी योगदान दिया। उन्होंने प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता एंव संस्कृति का ज्ञान कराया जिसने लोगों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इन्होने स्त्रियों के सामाजिक, कानूनी और सम्पत्ति के अधिकार पर बल दिया। भूमिकर में कमी करने की मांग की। समाचार पत्रों के प्रकाशन पर जो प्रतिबन्ध लगे हुये थे, उसका विरोध किया। राजाराममोहन राय ने भारतीयों में स्वतंन्त्रता का नारा बुलन्द किया। उन्होंने न्याय में जूरीप्रथा का समर्थन किया। इन्होंने दीवानी एंव फौजवादी कानूनों का संग्रह तैयार करने की मांग की। राजा राममोहन राय ने अपने देशवासियों में राजनीतिक जागृति पैदा करने का प्रयास किया। उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाने हेतू सम्बन्धित देशों की संसदो से एक–एक सदस्य लेकर अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस बनाने की योजना बनाई। इस प्रकार राजा राममोहन राय राष्ट्रीयता एंव अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों के प्रबल समर्थक थे। एडम ने राजराममोहन राय के लिये लिखा है कि, ''स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तर्रात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी कार्यो मे फूट–फूट कर निकल पड़ती थी'' इसलिये उन्हे ' नये युग का अग्रदूत' कहा गया है।

27.6.4 शिक्षा के क्षेत्र में योगदान – राजा राममोहन राय के समय में शिक्षा की सुविधा कुछ सीमित, वर्ग तक ही उपलब्ध थी। अतः उन्होने शिक्षा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कदम उठाये। उन्होने अंग्रेज अधिकारियों से प्रेरित होकर कलकत्ता मे हिन्दू कॉलेज श्रीरामपुर मे वेप्टिस्ट मिशन कॉलेज, कलकत्ता मे विश्व कॉलेज और कुछ अंग्रेजी स्कूल गैर सरकारी स्तर पर खोले गये। यह शिक्षा का प्रारम्भ था। यद्यपि वे संस्कृत के प्रकाण्ड थे लेकिन उनका विश्वास था कि देश की समाजिक और आर्थिक प्रगति के लिये प्रेरित किया। भातीय इतिहास में शिक्षा के क्षेत्र मे उनका योगदान अविस्मरणीय है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – ब्रह्म समाज की स्थापना पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

27.7 ब्रह्म समाज का संघभेद

1883 ई. में राजाराममोहन राय की मृत्यु के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज को प्रगतिशील बनाये रखा। केशवचन्द्र सेन ईसाई धर्म के सिद्धान्त के अनुसार चलाना चाहते थे, किन्तु देवेन्द्रनाथ टैगोर इससे सहमत नहीं थे अतः ब्रह्म समाज दो भागों में विभक्त हो गया– आदि ब्रह्म समाज और भारतीय ब्रह्म समाज। आदि ब्रह्म समाज को देवेन्दनाथ तथा भारतीय ब्रह्म समाज को केशवचन्द्र सेन चलाते थे।

27.7.1 आदि ब्रह्म समाज और देवेन्द्रनाथ टैगोर – 1845 ई. में देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्रह्म समाज के संचालक बने। उन्होंने खुले रूप से वेद और वेदान्त का प्रचार किया। उन्होने 'ब्रह्म धर्म' नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित की। इसके पश्चात उन्होने हिन्दू समाज को सुधारने हेतु समाज की मौलिक त्रुटियों की कड़ी आलोचना की, बहुपत्नि विवाह का विरोध किया और विधवा पुनर्विवाह व स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन किया तथा उसका प्रचार भी किया। देव्रेन्द्रनाथ टैगोर की ईसाईयत और पाश्चात्य संस्कृति में रूचि नहीं थी अतः भारत में ईसाई धर्म के प्रचार प्रसार को रोकने का इन्होने प्रयत्न किया। ब्रह्म समाज में वेदों और उपनिषदों को प्रमाणिक माना जाता था परन्तु आगे जाकर ब्रह्म समाज में यह विवाद उत्पन्न हुआ कि वेद अन्तिम प्रमाण है या नही। राजाराममोहन राय के समय ब्रह्म समाज में वेद और उपनिषद् दोनो प्रमाण थे किन्तु अब वेद प्रमाण नहीं रहे। केवल उपनिषद प्रमाण रह गये। इनकी अपनी एक सभा को 'तत्व बोधिनी' थी जिसके सदस्य धार्मिक विचार विमर्श किया करते थे। 1842ई. में इसे ब्रह्म समाज मे मिला दिया गया।

27.7.2 भारतीय ब्रह्म समाज और केशवचन्द्र सेन : – जब केशवचन्द्र सेन 19वर्ष के थे तब 1857ई. में उन्होंने ब्रह्म समाज में प्रवेश किया। यह एक तेजस्वी एंव मेघावी युवक थे। अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दू नवयुवकों में हिन्दूत्व के खिलाफ जो विद्रोह की आग भड़क रही थी, केशवचन्द्र सेन में भी उसका पूरा जोर था। उन्होने पहले मूर्ति पूजा का विरोध, जाति प्रथा का विरोध, अन्तर्राष्ट्रीय विवाह का समर्थन किया। वे ईसा के परम भक्त थे तथा हिन्दू धर्म को भी वे ईसाईयत की दिशा में ले जाना चाहते थे।

अब बाइबिल और ईसाई पुराणों का अध्ययन समाज के अन्दर उत्साह से किया जाने लगा और ईसामसीह सभी ब्रह्म समाजियों के पूज्य पथ प्रदर्शक हो गये। केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाजियों के विवाह सम्बन्ध के लिये जो कानून बनवाया उसमें वर–वधू बालिग होने पर प्रतिबन्ध था लेकिन स्वयं केशवचन्द्र सेन का विवाह इस नियम पर खरा नहीं उतरा अतः ब्रह्म समाज के भी दो भाग हो गये। जो केशवचन्द्र के विरोधी थे उन्होंने अपने समाज को साधारण ब्रह्म समाज और केशवचन्द्र सेन ने अपनी सभा को 'नव विधान सभा' कर दिया।

इस प्रकार प्रारम्भ में जहां ब्रह्म समाज सर्वधर्म समन्वय का प्रयास था वहीं नव विधान सभा तो ईसाइयों और यहुदियों की संस्था बन कर रह गई।

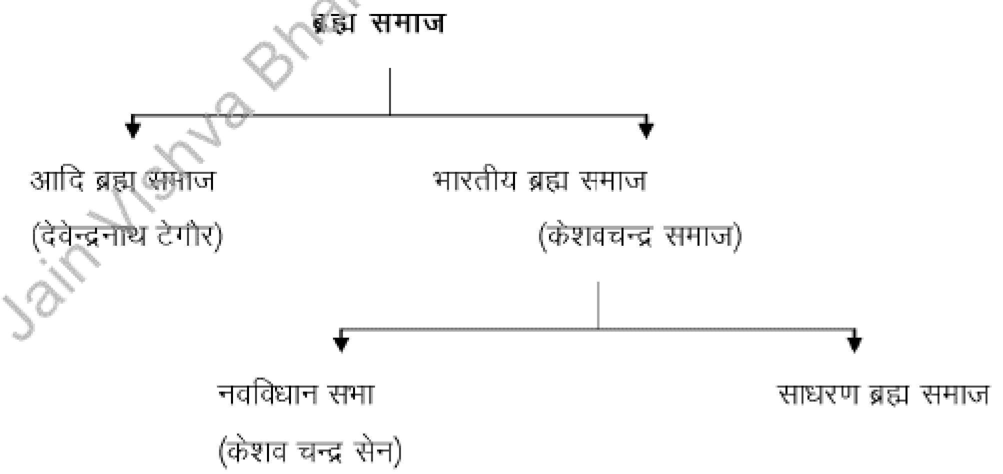

इस प्रकार ब्रह्म समाज की तीन शाखाएं हो गई एक देवेन्द्रनाथ टैगोर द्वारा चलने वाली, दूसरी केशवचन्द्र सेन की तथा तीसरी केशवचन्द्र सेन के विरोधियों की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

27.8 सारांश :

ब्रह्म समाज आन्दोलन अब प्रायः लुप्त हो चुका है। युरोपीय संस्कृति, ईसाइ धर्म, बुद्धिवादी विचारधारा से ये अत्यधिक प्रभावित था। परन्तु राष्ट्रीय जीवन के मुख्य प्रवाह से यह दूर था इसलिये यह व्यापक और लोकप्रिय नहीं हो सका फिर भी इसने धार्मिक जीवन में बुद्धिवाद तथा व्यक्ति अन्तकरण की स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा की। ब्रह्म समाज ने व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतन्त्रता पर बल दिया तथा परोक्ष रूप से राष्ट्रीय चेतना के विकास से भी सहायता दी। मेकनिकोल के अनुसार 'राजा राममोहन राय ने जो ज्योति जलाई उसने भारतीय जीवन के अंधकार को नष्ट कर दिया।'

27.9 अभ्यास प्रश्नावली :

प्रश्न–1 'आत्मीय सभा' की स्थापना कब हुई?

(अ) 1814ई. (ब) 1815ई.

(स) 1816ई. (द) 1813ई.

प्रश्न–2 ब्रह्म समाज के संघभेद को समझाइये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न–3 ब्रह्म समाज पर निबन्ध लिखिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–28 : आर्य समाज

संरचना

28.0 प्रस्तावना

28.1 उद्देश्य

28.2 भूमिका

28.3 दयांनद सरस्वती का जीवन परिचय

28.13.1 स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाएं

28.4 'आर्य समाज' की स्थापना

28.5 'आर्य समाज' के सिद्धान्त

28.6 'आर्य समाज' की विशेषताएं

28.6.1 हिन्दूओं में आत्मविश्वास उत्पन्न करना

28.6.2 शुद्धिकरण

28.6.3 राष्ट्रियता

28.7 'आर्य समाज' का समाज को योगदान

28.7.1 सामाजिक सुधार

28.7.2 धार्मिक सुधार

28.7.3 राष्ट्रीय सुधार

28.7.4 शिक्षा एंव साहित्य में सुधार

28.8 'आर्य समाज' का संघभेद

28.9 'आर्य समाज' की उपलब्धियां

28.10 सारांश

28.11 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

28.0 प्रस्तावना

स्वामी दयानन्द सरस्वती भारत में न केवल वैदिक धर्म के संस्थापक थे बल्कि भारतीय समाज मे व्याप्त बुराइयों को समाप्त कर प्राचीन संस्कृति के पोषक भी थे। उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतू आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज के प्रत्येक सदस्य को दस प्रमुख सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता था। ये दस सिद्धान्त– सत्य, विद्या, वेद, ईश्वर, समाज की उन्नति , सर्वहित पर आधारित थे।

इस समाज के माध्यम से दयानन्द सरस्वती ने समाज में फैली अनेक बुराइयों– बाल–विवाह, कन्या वध, कन्या क्रय–विक्रय, छुआछूत आदि को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुये 'वेदों की ओर लोटे' का नारा दिया।

28.1 उद्देश्य

19वीं शताब्दी में हुये धार्मिक आन्दोलनों में 'आर्य समाज' का महत्वपूर्ण स्थान है। इस आन्दोलन के प्रणेता दयानन्द सरस्वती थे जिन्होने प्राचीन भारतीय संस्कृति को आधार बनाते हुये समाज में आई कुरीतियों आडम्बरों एवं को दूर करने का प्रयास किया। इस पाठ का मुख्य उद्देश्य दयानन्द सरस्वती द्वारा समाज में व्याप्त बुराइयों को सुधार हेतू किये गये प्रयासों को सविस्तार बताना है। निम्न बिन्दूओं के द्वारा इस पाठ का उद्देश्य पूर्ण करने का प्रयास किया जायेगा–

* सामाजिक बुराईयों को दूर करने हेतू किये गये 'आर्य समाज' की स्थापना एवं उसकी उपलब्धियां
* आर्य समाज के मौलिक सिद्धान्त

* दयानन्द सरस्वती द्वारा किये गये– सामाजिक सुधार धार्मिक सुधार, राष्ट्रीय सुधार आदि को विवेचित किया जायेगा।

28.2 भूमिका

19वीं शताब्दी में जो धार्मिक सुधार आन्दोलन हुये उनमे कदाचित सबसे ऊँचा स्थान आर्य समाज का है। आर्य समाज के प्रणेता स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824–1883) बचपन से ही विचारशील थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतीय अतीत के गौरव का अनुसंधान किया और ब्रह्म समाज एंव प्रार्थना समाज की विदेशी प्रभाव से युक्त सुधारवादी प्रक्रिया मे राष्ट्रीय स्वाभिमान की जागृति का शंखनाद किया। इस स्वाभिमान का माध्यम उन्होंने वेदों को माना। इन्होंने राष्ट्रीय जागरण हेतु सत्यार्थ प्रकाश पुस्तक की रचना की और 10 अगस्त 1875 ई. में 'आर्य समाज' नामक सामाजिक संस्था का गठन किया।

इस समय समाज में अनेक कुप्रथाएं फैली हुई थी जातिप्रथा, बालविवाह, सतीप्रथा आदि। ऐसे में समाज में सुधार लाने हेतु अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई। जहां ब्रह्म समाज का विश्वास था कि ईसाई धर्म और अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी विचारों के द्वारा हिन्दू समाज में सुधार की प्रक्रिया शुरू की जा सकती है वही आर्य समाज ने अपनी संस्कृति के विचारों के द्वारा सामाजिक कुरीतियो को दूर करने तथा भारतीय मन में अपनी ही परम्परा से आत्मसम्मान को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। आर्य समाज ने इस्लाम धर्म एवं ईसाई धर्म के स्थान पर हिन्दू धर्म की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया।

28.3 दयानन्द्र सरस्वती का जीवन परिचय

स्वामी दयानन्द का जन्म काठियावाड़ के मौखी रियासत के टंकारा ग्राम में एक अत्यन्त धार्मिक ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके बचपन का नाम मूलशंकर थे। जब वे 14वर्ष के थे तब एक बार शिवरात्रि के पर्व पर अपने पिता के साथ शिव मन्दिर गये वहां उन्होंने एक चूहे को शिवलिंग पर चढ़ते देखा जिससे परम्परागत मूर्तिपूजा से उनका विश्वास उठ गया। अपनी बहन तथा चाचा की मृत्यु के आधातों व अन्य घटनाओं से पीड़ित हो उन्होने मुक्ति का मार्ग खोजने का निश्चय किया। 21 वर्ष की आयु में वे अपने घर से भाग निकले 15वर्ष तक वे ज्ञान, प्रकाश, अमरत्व की खोज में भ्रमण करते रहे अन्त में 1860 ई. में मथुरा आये और वहां उन्होने दण्डी स्वामी विरजानन्द से वेदों का अध्ययन किया जब दयानन्द अपनी शिक्षा को पूर्ण कर चुके थे तो विरजानन्द ने उन्हें पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन कर देश में वैदिक धर्म व संस्कृति की प्रतिष्ठा करने का आदेश दिया। स्वामी दयानन्द जीवन भर गुरू के इस आदेश का पालन करते रहे। 1864 ई. में स्वामी दयानन्द ने सार्वजनिक रूप से आदेश देना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने शास्त्रार्थ किया अपने विचारों का प्रचार किया और 10अप्रैल 1875ई. को बम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। उन्होने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, समाजिक कुरीतियों पर कड़ा प्रहार किया उन्होंने शिक्षा प्रसार की ओर ध्यान दिया तथा स्त्रियों व दलित वर्ग की दशा सुधारने का प्रयास किया। 30अक्टुबर 1883ई. को विष दिये जाने के कारण उनका देहान्त हो गया।

28.13.1 स्वामी दयानन्द सरस्वती की रचनाएँ – दयानन्द सरस्वती ने तीन ग्रन्थों की रचना की जो महत्वपूर्ण है– सत्यार्थ प्रकाश, वेदभाष्य, ऋग्वेद भाष्य भूमिका। सत्यार्थ प्रकाश में विवाह, शिक्षा, शिशु प्रजनन, सरकार, ईश्वर, विश्व, मोक्ष, आस्तिकता तथा भारत के विभिन्न धर्मो के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वेदभाष्य में वेदों की व्याख्या की गई है ऋग्वेद भाष्य भूमिका ऋग्वेद आदि की टीका के रूप में लिखा गया है परन्तु इसमें अन्य हिन्दू धर्मशास्त्रों की आलोचना भी की गई है।

28.4 आर्य समाज की स्थापना

1872 ई. मे जब स्वामी दयानन्द सरस्वती कलकत्ता गये तो वहां देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने उनका बड़ा सत्कार किया। यद्यपि ब्रह्म समाज के सदस्यों से भी उन्होंने बातचीत की लेकिन उनके (ब्रह्म समाज और आर्य समाज) विचारों मे एकमत नहीं था। कलकत्ता से बम्बई आकर 10 अप्रैल 1875 ई. में इन्होने आर्य समाज की स्थापना की। बम्बई मे इनके साथ प्रार्थना समाज के सदस्यों ने भी बातचीत की। किन्तु यह समाज तो ब्रह्म समाज का ही बम्बई संस्करण था परिणामस्वरूप इस समाज से भी स्वामी दयानन्द एक मत नहीं हो सके। बम्बई से स्वामी दयानन्द दिल्ली आये। वहां उन्होंने सत्यानुसंधान के लिये ईसाई, मुसलमान और हिन्दू पंडितो की एक सभा बुलाई किन्तु दो दिनों के विचार विमर्श के बाद भी लोग किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे यहां से वे पंजाब गये। पंजाब मे उनके प्रति उत्साह जाग्रत हुआ और सारे प्रान्त में आर्य समाज की शाखाएं खुलने लगी तभी से पंजाब आर्य समाजियों का प्रधान गढ़ हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

28.5 आर्य समाज के सिद्धान्त

स्वामी दयानन्द तथा उनके विचार में समाज के दस नियमों को मानने वाला व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति का या सम्प्रदाय का क्यों न हो, शुद्धि संस्कार करने पर समाज में सम्मिलित किया जा सकता है। उन्होने सत्यार्थ प्रकाश में आर्य समाज के सभी मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन किया। आर्य समाज के दस नियम उल्लेखित है जो इस प्रकार है–

(1) सर्व विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते है, उन सब का आदि मूल अधिकार है।

(2) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी चाहिये।

(3) वेद सत्य विद्याओं का भण्डार है। उसको पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना आर्यो का परम धर्म है।

(4) सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में सदा तत्पर रहना चाहिये।

(5) सभी कार्य धर्मानुसार अर्थात् सत्यासत्य का विचार करके करने चाहिये।

(6) संसार का उपकार अर्थात् शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति करना मानव–समाज का प्रधान उद्देश्य है।

(7) सबके साथ प्रितिपूर्वक धर्मानुसार तथा यथा योग्य व्यवहार करना चाहिये।

(8) अविधा का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

(9) प्रत्येक मनुष्य को अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये बल्कि, सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

(10) सबको सभी सामाजिक हितकारी नियमों के पालन मे परतन्त्र तथा प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतन्त्र रहना चाहिये।

28.6 आर्य समाज की विशेषताएं :

आर्य समाज की स्थापना के पीछे दयानन्द सरस्वती का उद्देश्य अपने प्राचीन संस्कारों एवं वेदो मे प्रचलित संस्कारों एंव नियमों को अपनाते हुये समाज मे व्याप्त कुरीतियों का अन्त करना था। आर्य समाज की अपनी पृथक् विशेषताएं थी जो इस प्रकार है–

28.6.1 हिन्दुओं में आत्मविश्वास उत्पन्न करना :– भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ ही भारतीयों पर अंग्रेजों का प्रभाव पड़ने लगा परिणामस्वरूप भारतीय अपनी आत्म गौरव एंव आत्म विश्वास खोने लगे। ऐसे मे दयानन्द सरस्वती ने यह प्रचार किया कि वेद सब सत्य विद्याओं का भण्डार है। वेदों में विज्ञान के आधुनिक आविष्कार और विद्याएं बीज रूप में पाई जाती है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने भारतीयों की मानसिक पराधीनता को दूर किया।

28.6.2 शुद्धिकरण – भारत के समस्त धार्मिक आन्देलनों में केवल आर्य समाज ही को इस बात का श्रेय कि उसने ऐसी व्यवस्था की कि दूसरे धर्मो के लोग भी हिन्दू बनाये जा सकते थे इससे हिन्दूओं को सबल मिला।

28.6.3 राष्ट्रीयता – स्वामी दयानन्द ने हिन्दू जाति को सबल और आत्म विश्वास से परिपूर्ण बनाकर उसमें राष्ट्रीय भावना को जगाया। उन्होंने राष्ट्र के प्रति प्रेम को बताते हुये कहां कि, "अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य स्वदेशी राज्य के समान नहीं हो सकता।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – 'आर्य समाज' के प्रणेता दयानन्द सरस्वती के जीवन परिचय को बताइये (30 शब्द सीमा)

उत्तर ....

28.7 आर्य समाज का समाज को योगदान

आर्य समाज की स्थापना कर दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू धर्म एंव समाज सुधार हेतु महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन मूर्तिपूजा तथा हिन्दू धर्म के अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों के खण्डन और वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में लगाया आर्य समाज ने वेदों के आधार पर हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होने सभी वर्गो के लिये वेदो का अध्ययन करने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का मार्ग खोल दिया। इस प्रकार समानता और धार्मिक कट्टरता की भावना को लेकर आर्य समाज ने भारत मे धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राजनैतिक क्षेत्र मे जो कार्य किये वो इस प्रकार है–

28.7.1 सामाजिक सुधार – स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज में क्रांतिकारी सुधारों की आवश्यकताओं पर बल दिया। आर्य समाज ने बाल विवाह, रूढिवादिता, पर्दाप्रथा का खण्डन किया। विवाह के लिये उन्होंने पुरूष की आयु 25 वर्ष तथा कन्या की आयु 16 वर्ष निश्चित की। अर्न्तजातीय विवाह का समर्थन किया। आर्य समाज ने विधवा विवाह का समर्थन किया, स्त्री शिक्षा पर जोर दिया। विभिन्न जगहों पर कन्या पाठशाला स्थापित कराई। दयानन्द सरस्वती ने जन्म या वंश परम्परा पर आधारित वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने जन्म के स्थान पर कर्म व चरित्र को वर्ण का आधार माना। ब्राह्मणों के शास्त्रों पर एकाधिकार के स्थान पर वेद तथा धर्म ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार सभी को दिया।

स्वामी जी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुधार शुद्धि का विधान है। शुद्धि का अर्थ था बलपूर्वक ईसाई मुसलमान बनाये गये हिन्दूओं को पुनः हिन्दू धर्म मे शामिल करना। शुद्धि आर्य धर्म का एक क्रांतिकारी विचार था जिसके फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों को पुनः हिन्दू धर्म मे दीक्षित कर लिया गया शुद्धिकरण आर्य समाज की दृष्टि में देश की धार्मिक तथा सामाजिक एकता स्थापित करने का महत्वपूर्ण साधन है। आर्य समाज ने दलित वर्ग के उत्थान में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। स्वामी दयानन्द ने अछूतों को भी यज्ञोपवित धारण करने का अधिकार प्रदान किया। अनेक स्कूलों की स्थापना की गई जिनमें गायत्री मंत्र सिखाया जाता था। इस प्रकार आर्य समाज ने जाति प्रथा, ऊँच–नीच के भेदभाव तथा छुआछूत की कटु आलोचना की तथा सामाजिक समानता पर बल दिया। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू जाति में संगठन का बीज बो दिया, जिससे उनमें आत्मसम्मान और आत्मा विश्वास की भावना जाग्रत हुई।

28.7.2 धार्मिक सुधार – स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने हिन्दूओं मे प्रचलित सम्प्रदायों, मत मतान्तरों, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, जात–पात, अस्पृश्यता, कन्यावध, कन्या वर विक्रय, देवी देवताओं के पूजने आदि का घोर विरोध करते हुये वैदिक धर्म और अत्यन्त प्राचीन आर्य सभ्यता के पुर्नत्थान का प्रयास किया उन्होने अनेकेश्वरवाद और अवतारवाद का खण्डन किया और एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित किया। हिन्दूओं के मोक्ष का उन्होंने समर्थन किया और मोक्ष प्राप्त करने के लिये सत् कर्म और ब्रह्मचर्य व्रत को साधन बताया। धर्म मे उन्होंने वैदिक धर्म को सर्वोपरि बताया। उन्होने जिस शक्ति के साथ ईसाई धर्म के ढोंग और पाखण्ड की पोल खोली, उससे दुगुने उत्साह से उन्होंने हिन्दू धर्म कुरीतियों का जनाजा निकाला। स्वामी दयानन्द रूढ़ियों के कठोर शत्रु थे और उन्हें अबौद्धिक मान्यता, फूटी आंख नहीं सुहाती थी वे किसी धर्म से नफरत नहीं करते थे बल्कि धर्म के नाम पर होने वाले बाह्‌य आडम्बर, पाखण्ड, ढोंग को वे बरदाश्त नहीं करते थे।

उन्होंने मूर्तिपूजा के विरूद्ध कड़ी आवाज उठायी बल्कि शुद्ध आचरण और कर्म पर बल देने को कहा। स्वामी दयानन्द के प्रयासों से ही आर्य समाज ने शुद्धि संस्कार के माध्यम से विद्यार्थियों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने का प्रयास किया। 'स्वास्थ्य' को उन्होंने जीवन का एक आवश्यक अंग तो माना ही धर्म की साधना के लिये भी इसे आवश्यक बतलाया है। उनके मतानुसार कमजोर, कायर, हतप्रभ किशोर या नवयुवक अपने धर्म का पालन नहीं कर सकता। दयानन्द सरस्वती ने मूर्ति पूजा, कर्मकाण्ड, बलिप्रथा, स्वर्ग और नरक की कल्पना तथा भाग्य में विश्वास आदि विचारों का विरोध किया। आर्य समाज ने हिन्दू धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता का दावा करके हिन्दू सम्मान और गौरव की रक्षा की।

28.7.3 राष्ट्रीय सुधार – दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के माध्यम से तत्कालीन भारत में राष्ट्रीयता की भावना को और अधिक बलवती बनाने का प्रयास किया। भारज में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने वाली जितनी भी संस्थाऐं थी उनमें आर्य समाज सबसे अधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण थी। आर्य समाज ने देश वासियों में स्वाभिमान और स्वदेश प्रेम की भावना जाग्रत की। उनकी सर्वधर्म, स्वभाषा और स्वदेश की आवाज ने देश मे स्वराज्य की आवाज को बुलन्द करने में बहुमूल्य योगदान किया। आज भी आर्य समाज एक तेज और कार्यशील संस्था के रूप में देश में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। वास्तव में दयानन्द सरस्वती वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया तथा यही प्रथम व्यक्ति भी थे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकार किया तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। आर्य समाज ने ही परस्पर अभिवादन करने हेतु विख्यात 'नमस्ते' शब्द का प्रचलन किया जो आज न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी लोकप्रिय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

28.7.4 शिक्षा एवं साहित्य में सुधार – स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा एंव साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में सुधार कार्य किये। उन्होंने 'सत्यार्थ' प्रकाश को हिन्दी में लिखकर राष्ट्रभाषा के विकास में योगदान किया। संस्कृत शिक्षा का अध्ययन करने और अध्यापन कराने में जोर दिया। आर्य समाज ने प्राचीन आश्रम व्यवस्था को लागू करते हुये अज्ञानता को दूर करने और ज्ञान का प्रसार करने का सफल प्रयास किया तथा प्राचीन साहित्य वेदों की अखण्डता को प्रतिपादित किया। यही नहीं उन्होंने नारी शिक्षा को भी महत्व प्रदान किया तथा उनका प्रबल समर्थन किया।

दयानन्द सरस्तवी का वैदिक दर्शन उनकी शिक्षा का आधार था। उनका प्रसिद्ध नारा था 'वेदों की ओर लोटे।' वे वेद और वैदिक संस्कृति के महान् पोषक थे। उनके अनुसार शिक्षा उसे कहते है जिससे विद्या सभ्यता, धर्मात्मायन और जितेन्द्रियता आदि सद्गुणों का प्रस्फुटन हो तथा अविधा का नाश हो और ऐसी शिक्षा उनके अनुसार वेदों से मिल कर रही थी।

28.8 आर्य समाज का संघभेद

स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद आर्य समाजियों में कुछ विषयों पर मतभेद हो जाने के कारण 1892ई. में इसके दो दल बन गये। उनके मतभेद का कारण आर्य समाज के दस सिद्धान्त, स्वामी दयानन्द के विभिन्न आदेश एवं उपदेश तथा वेदों की व्याख्या की पालना थे। इस प्रकार इन दो दलों के मुख्य लाला हंसराज तथा महात्मा मुंशीराम हो गये। इनमें लाला हंसराज पाश्चात्य शिक्षा के तथा महात्मा मुंशीराम प्राचीन शिक्षा पद्धति के समर्थक थे। ऐसे में लाला हंसराज के नेतृत्व में कई स्थानों पर स्कूल एंव कॉलेजों की स्थापना हुई वही महात्मा मुंशीराम के नेतृत्व में गुरूकुल संस्थाएं। ये शिक्षण संस्थाऐं न केवल हिन्दू धर्म और सिद्धान्त तथा आर्य समाज के सिद्धान्त के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई।

28.9 आर्य समाज की अपलब्धियां

आर्य समाज ने हमारे समाज में हिन्दूत्व के पौराणिक रूप का खण्डन कर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की। आर्य समाज ने हिन्दूओं मे नवजीवन का संचार किया। स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर ''दी थियोसोफिस्ट समाचार पत्र'' में इनकी प्रंशसा की गई। शुद्धि आन्दोलन का समर्थन कर आर्य समाज ने हिन्दू समाज को संरक्षण दिया। ईसाइयत और इस्लाम की चूनौती का आर्य समाज सफल प्रत्युत्तर था। आर्य समाज ने मूर्तिपूजा, बाल विवाह, जातिभेद, अस्पृश्यता व आवतारवाद का खण्डन किया। इन क्रान्तिकारी सुधारो का समर्थक होने के कारण ही इन्हे 'इस्लाम का वैदिक संस्कार' कहा जाता है। इन्होंने हिन्दी एवं संस्कृत भाषा के प्रयोग पर बल दिया। राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति भी सर्वप्रथम आर्य समाज ने ही चालू की। स्वराज्य शब्द भी इन्हीं की देन है उनका नारा 'वेदों की ओर लोटे', भारतीय संस्कृति को जीवन्तता प्रदान करता है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– आर्य समाज के संधभेद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये (30 शब्द सीमा)

उतर–..

28.10 सारांश

इस तरह आर्य समाज ने हिन्दूओं की धार्मिक और सामाजिक जागृति के लिये जो आन्दोलन चलाया, उसमें वर्तमान राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। आर्य समाज के महान् कार्यो में वैदिक धर्न का पुनरूद्धार, समाज सुधार, शुद्धिकरण, जाति भेद, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति, नारी शिक्षा का समर्थन, हिन्दी प्रसार एंव सक्रिय जागरण को आन्दोलन में शामिल कर सकते हैं।

28.11 अभ्यास प्रश्नावली :

प्रश्न–1 स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना कब की

(अ) 10मार्च 1875 (ब) 10अप्रैल 1785 (स) 10अप्रैल 1875 (द) 10मार्च 1875

प्रश्न–2 'आर्य समाज' के सिद्धान्तो को समझाइये (30शब्द सीमा)

प्रश्न–3 'आर्य समाज' पर निबन्धात्मक टिप्पणी करिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–29 : रविन्द्रनाथ टेगौर के सामाजिक एंव सांस्कृतिक विचारों का योगदान

संरचना

29.0 प्रस्तावना

29.1 उद्देश्य

29.2 भूमिका

29.3 रविन्द्रनाथ टैगोर का जीवन परिचय

29.4 टैगोर का साहित्यिक योगदान

29.5 टैगोर के सामाजिक एंव सास्कृतिक विचारों का योगदान

29.5.1 मानवतावादी दृष्टिकोण

29.5.2 ऐतिहासिक दृष्टिकोण

29.5.3 पूर्व और पश्चिम का समन्वय

29.5.4 राष्ट्रवादी दृष्टिकोण

29.5.5 नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति पर बल

29.5.6 रचनात्मक प्रवृत्ति के समर्थक

29.5.7 सामाजिक क्षेत्र में सुधार

29.5.8 शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण

29.5.9 ग्रामीण क्षेत्रों का उत्थान

29.5.10 साम्प्रदायिकता के प्रति दृष्टिकोण

29.5.11 भारतीय संस्कृति के पोषक

29.6 सारांश

29.7 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

29.0 प्रस्तावना

रविन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय साहित्य का लगभग एक शताब्दी तक प्रतिनिधित्व किया और इसके फलस्वरूप भारतीय सांस्कृतिक जागरण में काफी योगदान मिला। वे एक कवि, लेखक, दार्शनिक, कलाकार, चित्रशिल्पी, संगीतज्ञ, नाटककार, विशिष्ट विद्वान एवं देशभक्त होने के साथ–साथ उच्च कोटि के तत्ववेत्ता और शिक्षाशास्त्री भी थे। इनको साहित्य से विशेष प्रेम था परिणाम स्वरूप इन्होने साहित्य की अनेक विद्याओं मे अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। इन्होंने अनेक काव्य ग्रन्थ, उपन्यास, कहानी, साहित्य, नाटक रचना एवं कविताओं की रचना की, जिसने इन्हे विश्व में महान् बना दिया। इनके द्वारा लिखित 1909में 'गीतांजलि' पर उन्हे नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। शिक्षा के क्षेत्र में भी आपने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1901ई. में कलकत्ता के पास बोलपुर नामक स्थान पर ''शान्ति निकेतन'' नामक शिक्षण संस्था की स्थापना की और 1921ई. में इसे 'विश्व भारती' के रूप मे परिणित कर दिया गया। टैगौर ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शो को प्रेरणा प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

29.1 उद्देश्य

आधुनिक भारत के महापुरूषों में रविन्द्रनाथ टैगोर बहुत श्रृद्धा से लिया जाने वाला नाम है। वे देश के कवि, राष्ट्रप्रेमी और दार्शनिक तथा महान् चित्रकार भी थे। उनकी महान् कृतियों से साहित्य जगत समृद्ध हुआ है। इस पाठ का मुख्य उद्देश्य टैगोर के व्यक्तित्व का चित्रण करना है विशेषत निम्न बिन्दुओं के आधार पर–

- उनका प्रारम्भिक जीवन एवं प्रकृति एवं सौन्द्रर्य के प्रति उनकी रूचि
- उनकी प्रमुख रचनाँएं
- उनके विचारों में सामायिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण

29.2 भूमिका

भारत में आधुनिक साहित्यिकों, कलाविदों और दार्शनिकों में रविन्द्रनाथ टैगोर का विशेष स्थान है। वे अपने देश के कवि राष्ट्र प्रेमी और दार्शनिक थे ही तथा अपने महान् व्यक्तित्व में तीनों योग्यताओं को सारभूत किये हुये थे, किन्तु वे और उनका व्यक्तित्व समस्त विश्व पर अमिट छाप छोड़ गये है। उन्होने लगभग एक शताब्दी तक भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व किया तथा देश में रविन्द्रनाथ टैगोर की एक विश्व कवि के रूप में अब भी प्रतिष्ठा बनी हुई है। टेगौर आर्य संस्कृति की एक महान् देन है। भारतीय संस्कृति का तेजस्व टैगोर मे स्पष्टतः दिखाई देता है। वे भारत के ही नहीं अपितु विश्व के एक महान् प्रतिभा थे। मुख्य रूप से एक कवि के रूप में ही उनकी ख्याति है, किन्तु यदि उन्हे युग पुरूष की संज्ञा दी जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

29.3 रविन्द्रनाथ टैगोर का जीवन परिचय

रविन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 6मई 1861ई. को बंगाल के एक सुसंस्कृत परिवार में हुआ था इनके पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा माता शारदा देवी थी। इसके पिता ब्रह्म समाज के प्रमुख नेता थे यह उनका सौभाग्य था कि वे एक धनवान व सभ्य कुल में उत्पन्न हुये जिसके सदस्य कला और साहित्य से प्रेम रखते थे। रविन्द्र को घर से बाहर नहीं जाने देते थे अतः उनका सारा बचपन एक उद्यान के मध्य स्थित एक सुन्दर घर में बिताया जिसके कारण बचपन ही से रविन्द्र पर प्रकृति के सौन्दर्य का प्रभाव पड़ा और उन्हे मनन और चिन्तन का समय मिला। बड़े होने पर उनका यह प्रकृति प्रेम ओर अधिक बढ़ गया।

रविन्द्रनाथ को स्कूली शिक्षा से कष्ट होता था 1875ई. नें 15वर्ष की आयु में उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। तत्पश्चात् उनकी शिक्षा घर पर ही हुई 1878ई. वे अपने भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ इंग्लैण्ड चले गये वहां उन्होंने ब्राइटन नगर के एक विद्यालय में और फिर लंदन के एक विख्यात कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की। वहां लंदन विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य का विशेष अध्ययन किया। 1880ई. पुनः भारत लौट आये। लौटने पर उन्होंने बंगाल के देहातो में भ्रमण किया तथा उन्हे भारतीयों की बुरी दशा का पता चला उनका साहित्यिक जीवन यहीं से आरम्भ होता है। 1883ई. में इनका विवाह मृणालिनी देवी से हुआ। इस दौरान पिता की जमींदारी का कामकाज देखते हुये उनका सम्पर्क कृषकों से हुआ। उनके जर्जरित जीवन तथा सामाजिक अन्धविश्वासों से रविन्द्रनाथ को नया अनुभव हुआ। अतः उन्होंने किसानों के दुःखों को दूर करने का निश्चय किया। इस समय तक रविन्द्रनाथ के कई गीत, निबन्ध, नाटक, काव्य संग्रह एंव उपन्यास आदि प्रकाशित हो चुके थे। यद्यपि वे राजनीति में रूचि नहीं रखते थे फिर भी बंग–भंग एवं स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित हुये। 1909ई. में शान्ति निकेतन की स्थापना की। 1912ई.में यूरोपीय यात्रा के दौरान उन्होंने भारतीय संस्कृति पर व्याख्यान दिये और 'गीतांजलि' का अंग्रेजी अनुवाद किया जिस पर इनको 1913ई. में साहित्य का नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। 1915ई. में इन्हे 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया गया। उनके द्वारा स्थापित 'शान्ति निकेतन' या 'विश्व भारती' शिक्षा का एक अनुठा प्रयोग था। 7अगस्त 1941ई. को 80वर्ष की आयु में कलकत्ता में इनका देहावसान हो गया। वे देशभर में गुरूदेव के नाम से विख्यात हुये तथा अपने पीछे भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति से ओत–प्रोत साहित्यिक विरासत छोड गये।

29.4 टैगोर का साहित्यिक योगदान

टैगोर ने जीवन के साठ वर्ष साहित्य साधना में बिताये। उनकी साहित्य प्रतिभा अद्वितीय थी। इंग्लैण्ड से लौटने पर उन्होने अनुभव किया कि बंगाल नवीन विचारों तथा धर्म, साहित्य और राजनीति की नवीन भावनाओं से परिपूर्ण है। उन्होंने नवीन भावना पर नवीन साहित्य सृजन करना आरम्भ किया तथा कविताएँ, नाटक, उपन्यास, गीत, निबन्ध और कहानियां लिखी। उनके इस प्रारम्भिक साहित्य में 'प्रभाव संगीत' सर्व प्रसिद्ध है। लेकिन, रविन्द्रनाथ टैगोर ने बचपन से ही अनेक बंगाली भाषा में कविताएं लिखी इनकी प्रमुख कविताएं थी– बनफूल, कवि काहिनी, कड़िओं कोमल, आदि थी।

इनके पश्चात् मानसी, सौनारतरी, चित्रा, प्रेम का अभिषेक, स्वर्ग की विदाई, जीवन देवता, खेया, गीतिमाल्य, वर्षा मंगल, ऋतुरंग, कणिका आदि काव्य संग्रह प्रकाशित हुये।

1905ई. के बंगाल विभाजन के पश्चात् इस कवि ने राजनिति से ओत–प्रोत राष्ट्रीयता की भावना संजोये राष्ट्रीय गान ''जन–मन–गण' लिखा।

इनका सबसे बड़ा साहित्यिक ग्रन्थ 'गीतावली' 1909ई. में प्रकाशित हुआ। प्रारम्भ में यह बंगला भाषा में था। यह ग्रन्थ सुन्दर, उत्साह वर्धक और अमर कविताओं का संग्रह है। फिर इसका अंग्रेजी अनुवाद भी स्वयं इन्होंने ही किया। इसी ग्रन्थ पर 1913ई. में टैगोर को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया यह टैगोर की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रविन्द्रनाथ टैगोर ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर उनके नाटकों की रचना की इनमें चित्रांगदा, नटीरपूजा, डाकघर, विसर्जन, राजा और रक्त करवी प्रमुख थे।

कहानी संग्रह में भी टैगोर का साहित्य अद्वितीय है। इनके द्वारा रचित कहानियां है— काबुलीवाला, गोरा, करूणा, बहु ठकुरानी का हार, राजर्षि, आंख की किरकिरी और नौका डूबी प्रमुख है।

टैगोर प्रेम गीतों की रचना में बेजोड़ थे। उनके प्रेमगीतों नें काव्य और संगीत का सुन्दर समन्वय मिलता है। उन्हें पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति का पूर्ण ज्ञान था। वे भारत कें शास्त्रीय संगीत और आधुनिक संगीत दोनों से परिचित थे इस ज्ञान का उपयोग काव्य साहित्य, मध्यकालीन वैष्णव भजनों और गीता का भारी प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त रविन्द्र ने अनेक निबन्ध, आत्म—जीवनी, संस्मरण, साहित्य की आलोचना पर लेख, विदेश भ्रमण की डायरी असंख्य साहित्यिक पत्र तथा बालोपयोगी पुस्तके लिखी है। इस प्रकार टैगोर ने लगभग सभी क्षेत्रों में महान् प्रतिभा का परिचय दिया है। उनका साहित्य और व्यक्तित्व विराट है।

बोध—प्रश्न

प्रश्न— रविन्द्रनाथ टैगोर की जीवनी पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये? (30 शब्द सीमा)

उत्तर—...

29.5 टैगोर के सामाजिक एंव सांस्कृतिक विचारों का योगदान

टैगोर के साहित्य से विश्व साहित्य समृद्ध है। टैगोर के साहित्य से टैगोर के विचारों का पता चलता है। टैगोर के सामाजिक एंव सांस्कृतिक विचारों की विवेचना निम्न बिन्दूओं से की जा सकती है—

29.5.1 मानवतावादी दृष्टिकोण— रविन्द्रनाथ टैगोर सही अर्थो में मानवतावादी थे। उन्होंने स्वयं को प्रेम, भ्रातत्व और सहयोग के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी मान्यता थी कि पृथ्वी का श्रृंगार और सत्य की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति मानव है। वे मानव को पृथ्वी और प्रकृति से भी ऊँचा मानते थे। उन्होंने अपनी पृथ्वी और प्रकृति से भी ऊँचा मानते थे। उन्होंने अपनी पुस्तक ''द रिलिजन ऑफ मैन' में लिखा है, 'मेरा धर्म मानव धर्म है जिसमें अनन्त की व्याख्या मनुष्य के रूप द्वारा की जाती है। 'रविन्द्रनाथ टैगोर ने मानव को ईश्वर के तुल्य बताया। उनके अनुसार मानव संसार में रहकर काम करने वाला कर्मयोगी है। वह स्वार्थ और अंहकार रहित है, लेकिन आत्मचेतना, कर्त्तव्यता और प्रगतिशील से ओत—प्रोत है। टैगोर ने अपने साहित्य में बताया कि मानव नरदेवता है इसकी कद्र करनी चाहिये। उन्होंने मानव धर्म को जगाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार मानव को नीच या पतित समझना भगवान का अपमान करना है।

उन्होंने अपनी कृतियों एवं विचारों से पीड़ित मानवता की रक्षा का सन्देश दिया उनका मानवतावाद, व्यापक आध्यात्मिक और सर्वग्राही था। उनके अनुसार मनुष्य को जाति, देश या सम्प्रदाय से ऊपर उठकर मानव से प्रेम करना चाहिये। उन्होंने अपने जीवन में मानव सेवा का हर सम्भव प्रयास किया। उनकी मान्यता थी कि प्रेम, भ्रातत्व और करूणा जैसे मानवीय गुणों को ग्रहण कर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाना चाहिये ताकि यह पृथ्वी स्वर्ग बन सके।

29.5.2 ऐतिहारिक दृष्टिकोण — रविन्द्रनाथ टैगोर ने रागाज गें जातियों वर्गो तथा राभ्यताओं गें होने वाले रांघर्ष को स्वीकार करते हुये कहां है कि सभ्यता का प्रमुख कार्य इन संघर्षो का समाधान करना है जो प्राचीन विश्वासों और नवीन अनुभवों के समन्वय से संभव है सेवा एवं एकता सामाजिक जीवन के आदर्श सूत्र है। उनका मानना था कि मानवता का इतिहास प्राणी जगत के निर्माण का इतिहास है क्योंकि यह सिद्ध हो चुका हैं कि सर्वश्रेष्ठ गतिविधि अपरिवर्तनीय रूप से मानवता से सम्बन्धित है। उनका विचार था कि मनुष्य अपनी बाधाओं को दूर करने में सक्षम होना चाहिये और भारतीय संस्कृति का आधार सामाजिक समन्वय है इसलिये वह आज भी जीवित है जबकि विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताएं अतीत के गर्भ में समा चुकी है।

29.5.3 पूर्व और पश्चिम का समन्वय— रविन्द्रनाथ समन्वयकारी थे। अतः उन्होने भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। टैगोर का लक्ष्य सर्वभौम मानवता की अवधारणा थी। यही कारण है कि उन्होंने मानवतावाद, सार्वभौमवाद तथा पूर्व और पश्चिम के विचारों के समन्वय को मूर्तरूप देने के लिये 1921ई. में शान्ति निकेतन के स्थान पर विश्व भारती की स्थापना की। उनके साहित्य में भारतीय अध्यात्मवाद और पश्चिम के भोगवाद का भी समन्वय दिखाई देता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। उन्होंने प्राचीन भारतीय आदर्शो और आधुनिक प्रगतिशील विचारों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। उनकी मान्यता थी कि यूरोप ने पूर्वी देशों को स्वतन्त्रता का विचार प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, लेकिन पाश्चात्य देशों में भोगवाद, शक्तिपूजा और लोलुपता का साम्राज्य अधिक है जो एक भयंकर अभिशाप है जिससे बचना चाहिये। वे भारत के राष्ट्रीय चरित्र की विशेषताओं के साथ ही पश्चिम से प्राप्त स्वतन्त्रता के विचार स्वीकार करते है। उनके द्वारा रचित 'सृजनात्मक एकता' निबन्ध में पूर्व एवं पश्चिम के समन्वय पर टिप्पणी लिखी है।

29.5.4 राष्ट्रवादी दृष्टिकोण – टैगोर एक उदार राष्ट्रवादी थे उन्होंने अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से देशवासियों में पुनर्जागरण की भावना का विकास किया। वे कहते थे ह्रदय में पवित्रता और आन्तरिक शुद्धि से वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। वे तत्कालीन राष्ट्रीय घटनाओं से प्रभावित होकर राष्ट्रवादी हो गये। उन्होंने 1919ई. में जलियांवाला बाग की घटना के विरोध में सरकार द्वारा दी गई पदवी का परित्याग कर दिया। उनके द्वारा रचित गीत 'जन–गण–मन' आज भारत का राष्ट्रगीत है। अपनी रचनाओं में उन्होंने अपने देशवासियो को यह याद दिलाने की सदैव चेष्टा की कि उन्हे विदेशी–शासन को उस पाप का दण्ड मानना चाहिये जो उन्होंने अपने समाज के ही एक अंग को मानवीय अधिकारों से वंचित करके किया है। उनकी यह मान्यता थी कि मानव मात्र का सर्वांगीण विकास ही राष्ट्रीयता का मूल रूप है। टैगोर के लिये देश भक्ति का अर्थ व्यक्ति का अपने राष्ट्र, देश और परम्पराओं के प्रति पूर्ण समर्पण था।

29.5.5 नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति पर बल– रविन्द्रनाथ टैगोर ने मनुष्य के स्वस्थ मानसिक विकास तथा नैतिक एंव आध्यात्मिक उन्नति के लिये शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के प्रचलन को आवश्यक माना। वे अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व बन्धुत्व और मानवता के पुजारी थे। आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नयन के लिये वे जीवन के समस्त कार्यकलापों का वर्णन प्रकृति के समान ही निष्कपट, स्पष्ट और पवित्र रूप में करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी व्यक्ति पूरी शक्ति के साथ प्रकृति की गुप्त लीला की खोज करे तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि करे।

29.5.6 रचनात्मक प्रवृत्ति के समर्थक – टैगोर मनुष्य के रचनात्मक प्रवत्ति के समर्थक थे। उन्होंने समाज में चेतना का संचार किया तथा लोगों को निस्वार्थ भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहने का संन्देश दिया। टैगोर ने कहा कि यदि देश और समाज प्रगति करना चाहते है तो इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करे तथा जीवन मे रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाये।

29.5.7 सामाजिक क्षेत्र में सुधार – समाज सेवा के क्षेत्र में भी टैगोर का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। टैगोर की मान्यता थी कि हमारे समाज की सबसे बड़ी कमजोरी छुआ–छूत और जाति–पांति का भेदभाव है। उन्होंने समाज में नारी–को बराबरी का दर्जा देने की पेशकश की और यह भी कहा कि जिस समाज में नारी का आदर नहीं होता वह समाज उन्नति नहीं कर सकता। टैगोर ने कहा कि प्रेम, और सहानुभूति सामाजिक प्रणाली के सर्वोत्तम गुण है जिनका अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिये। टैगोर ने जाति प्रथा, अस्पृश्यता तथा समाज मे नारी की गिरती हुई स्थिति पर भी प्रहार किया। उन्होने कहा कि भारत को मजबूत बनाने के लिये यहां के निवासियों में भ्रातृत्वभाव और सहयोग की भावना आवश्यक है। उन्होने कहा कि भारतीय समाज का पुनर्निर्माण करने के लिये प्राचीन भारतीय संस्कृति के आदर्शो को अपनाना चाहिये।

29.5.8 शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण – रविन्द्रनाथ टैगोर का बचपन से ही स्कूली शिक्षा के प्रति विरोध भावना थी शिक्षा के प्रति उनका दृष्टिकोण बहतु व्यापक था। उनके अनुसार शिक्षा से व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होना चाहिये। शिक्षा का उपयोग हमारे आर्थिक, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन में होना चाहिये। वे शिक्षा में प्राचीन भारतीय आदर्शो तथा पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के अच्छे तत्वों का समन्वय करना चाहते थे। उनके अनुसार शिक्षा के द्वारा अविद्या एवं अज्ञान का विनाश होना चाहिये। टैगोर ने प्राचीन शिक्षा प्रणाली के आधार पर प्रकृति के रमणीय वातावरण में 1901ई. में 'ब्रह्मचर्य आश्रम' की स्थापना की जो बाद में 'शान्ति–निकेतन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। व्यक्ति को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जो उसे अच्छा और उत्तरदायित्व नागरिक बनाने के लिये मानसिक रूप से प्रशिक्षित करे जिससे उसमें राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना सामाजिक व्यवस्था के मूल्यों की पहचान उत्पन्न करके एक ऐसे नागरिक बनाये जो राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति में निश्चित योगदान दे सके।

वे ऐसी शिक्षा के समर्थक थे जो राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शो को प्रेरणा दे सके इस हेतु उन्होने 1921ई. में 'विश्व भारती' नामक संस्था की स्थापना की जो आगे चलकर विश्वविद्यालय मे परिवर्तित हो गई। इस तरह टैगोर के शिक्षा के प्रति रचनात्मक विचार एंव इन संस्थाओं के कारण वे 'गुरूदेव' के नाम से प्रसिद्ध हुये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

29.5.9 ग्रामीण क्षेत्रों का उत्थान – रविन्द्रनाथ टैगोर ने ग्रामीण क्षेत्रों के उत्थान पर भी विशेष बल दिया। उनकी मान्यता थी कि यदि देश सही अर्थो में प्रगति करना चाहता है तो यह ग्रामीण विकास से ही सम्भव है। उन्होंने ग्रामोद्धार के लिये 'शान्ति–निकेतन' संस्था के अन्तर्गत 'श्री निकेतन' नामक एक और संस्था का स्थापना की।

29.5.10 साम्प्रदायिकता के प्रति दृष्टिकोण– रविन्द्रनाथ टैगोर ने धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक एकता की भावना पर जोर देते हुये हिन्दू–मुस्लिम एकता बनाये रखने पर जोर दिया। उन्होने समाज में प्रचलित रूढ़ियों को समाप्त कर सामाजिक और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उनका कहना है कि दोनो ही धर्मो के अनुयायी परस्पर धार्मिक कट्टरता की भावना को समाप्त करके एक राष्ट्र की सन्तान के रूप में मिलजुल कर कार्य करे। उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल दिया। इस तरह उन्होंने साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया।

29.5.11 भारतीय संस्कृति के पोषक –रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपने साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति की समन्वयवादिता, अध्यात्मिकता, सहिष्णुता, उदारता, धर्म निरपेक्षता, आदि के विविध गुणों का प्रचार किया, एकता की स्थापना पर बल दिया उनका कहना था कि सभी धर्मो और मनुष्य जीवन का एक ही लक्ष्य है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में उन्होने संस्कृति के आदर्शो को ही पोषित किया।

बोध–प्रश्न

प्रश्न– टैगोर के विचारों में मानवतावादी दृष्टिकोण को समझाइये (30 शब्द सीमा)

उत्तर–..

29.6 सारांश

गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर भारत के उन महान् पुरूषों में से थे, जिन्होने देश के साहित्य तथा सांस्कृतिक जागरण में महान् योगदान दिया। प. नेहरू के शब्दों में 'रविन्द्रनाथ टैगोर पूर्व और पश्चिम के बीच की खाई के पाटने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहे। वे समन्वय की प्रतिमूर्ति थें। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे उन्होंने देश को एक नया जीवन एंव प्रेरणा प्रदान की। वे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक उन्नति तो चाहते थे ही साथ ही वे मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक विकास, स्वतन्त्रता और विशालता का अभ्यूदय भी चाहते थे।

29.7 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न–1 रविन्द्रनाथ टैगोर को किस साहित्य पर नोबल पुरस्कार दिया गया?

(अ) काबुलीवाला (ब) चित्रागदा (स) गीताजंलि (द) गोरा

प्रश्न–2 रविन्द्रनाथ टैगोर की साहित्य रचना पर टिप्पणी लिखिये? (30 शब्द सीमा)

प्रश्न–3 रविन्द्रनाथ टैगोर की हमारे व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवन को क्या देन है समझाइये ? (निबन्धात्मके)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–30 : आचार्य तुलसी के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों का योगदान

संरचना

30.0 प्रस्तावना
30.1 उद्देश्य
30.2 भूमिका
30.3 आचार्य तुलसी – जीवन परिचय
 30.3.1 जीवन के स्मरणीय दिन
 30.3.2 सम्मान
 30.3.3 जीवन दर्शन
 30.3.4 महत्त्वपूर्ण कृतियां
30.4 आचार्य तुलसी के सांस्कृतिक विचारों का योगदान
 30.4.1 मानवतावादी जीवन मूल्यों पर बल
 30.4..2 नैतिकता पर बल
 30.4.3 अनुशासन
 30.4.4 आत्मानुशासन
 30.4.5 चरित्र निष्ठता पर बल
 30.4..6 अन्याय व शोषण से मुक्ति
 30.4.7 आध्यात्मिकता–वैज्ञानिकता का समन्वय
 30.4.8 कथनी–करणी की समानता
 30.4..9 कर्त्तव्यनिष्ठा व कर्मशीलता पर बल
 30.4.10 नवीनता व प्राचीनता का समन्वय
30.5 आचार्य तुलसी के सामाजिक विचारों का योगदान
 30.5.1 परिवार
 30.5.2 सामाजिक रूढ़िया
 30.5.3 दहेज
 30.5.4 सामाजिक क्रान्ति
 30.5.5 सामाजिक परम्पराओं में परिवर्तन
30.6 सारांश
30.7 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

30.0 प्रस्तावना

व्यक्ति का व्यक्तित्व ही उसके व्यवहारों का दर्पण होता है। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर भी पड़ता है, क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह सत्य भी है कि व्यक्तित्व दूसरों को समझाने का माध्यम है। व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसके कृतित्व से अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि किसी भी मनुष्य का व्यवहार या कृति उसके व्यक्तित्व अर्थात् उसके मनोभावों से प्रेरित होती है जिसका जैसा व्यक्तित्व होगा वैसा ही वह कार्य करेगा।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व व कृतित्व दोनों ही अनुपम व अद्वितीय है उन्होंने अपने व्यक्तित्व व कृतित्व से सम्पूर्ण संसार को आलौकित किया है, आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व ही उनके नेतृत्व की सफलता का साक्षी है वे कालजयी व्यक्तित्व के धनी है क्योंकि उन्होंने स्थूल शरीर को त्याग दिया किन्तु अपने सतोगुणी पुरुषार्थ को वज्रमय बना दिया है जो युगों तक विस्मरणीय रहेगा।

व्यक्तित्व के साथ–साथ उनका कृतित्व भी अद्वितीय है, उन्होंने आध्यात्मिक चेतना के साथ साहित्य, सामाजिक, धार्मिक शैक्षणिक एवं राष्ट्रीय चेतना का जो निर्माण किया है। वह अपने आप में अद्भुत है।

आचार्य श्री के व्यक्तित्व व कृतित्व को शब्द सीमा में बाधना किसी के लिए सम्भव नही है इसी दृष्टि से आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा हैं –

तुम महाग्रन्थ हो,
मैने तुम्हारे कई अर्थ लगाए,
पर वह अर्थ नहीं लगा,
जो मूल है।[1]

30.1 उद्देश्य

इस पाठ का मुख्य उद्देश्य आचार्य तुलसी के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों से पाठकों को अवगत कराना है। आचार्य तुलसी एक ज्योतिर्मय व्यक्तित्त्व का नाम है। बाहर से वे जितने ज्योतिर्मय है, अन्तर्मन में उससे कही अधिक ज्योति सजाये हुये थे। ऐसे व्यक्तितत्त्वों की पदचाप जिस धरती पर होती है, वह धन्यता का अनुभव करती है। 1914 ई. में अपनी जीवन यात्रा शुरू करके 1955 ई. में मुनि तुलसी की दीक्षा ग्रहण की। अपने गतिशील व्यक्तित्त्व से आपने पूरे जैन समाज को गति प्रदान की। आपके विचारों से सभी व्यक्तियों को नया उजाला मिला। राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ में आपके चिन्तन को महत्त्व मिला। अन्तर्राष्ट्रीय समस्या सामाजिक समस्या सभी पर आपने अपने विचार प्रकट किये। प्रस्तुत इकाई में निम्न बिन्दूओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जायेगा –

* जीवन चरित्र
* महत्त्वपूर्ण कृतियां
* आचार्य तुलसी का सामाजिक चिन्तन विशेषतः परिवार, कुप्रथाओ, समस्याओं के सन्दर्भ में
* आचार्य तुलसी का नैतिकता, मानवता, आध्यात्मिक

30.2 भूमिका :

बहुमूल्य रत्नों से परिपूर्ण भारतभूमि का अंचल कितना पवित्र व सौभाग्यशाली है, यह विश्वप्रसिद्ध बात हैं। यह भारत भूमि अपने अन्तर में जहां अनेक रत्न, मणि आदि छिपाए हुए है वही समय–समय पर ऐसे नवरत्नों का अवतरण भी हुआ है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व व कृतित्व से सम्पूर्ण राष्ट्र को प्रभुता सम्पन्न किया है। ऐसे महापुरुषों ने सदैव स्वयं जलकर सांस्कृतिक मूल्यों व मानवता के दुर्भिक्ष को रोकने हेतु सम्पूर्ण समाज का मार्ग प्रशस्तीकरण किया है। ऐसे ही विलक्षण महापुरुष अणुव्रत अनुशास्ता गणाधिपति आचार्य तुलसी है।

आचार्य तुलसी विलक्षण प्रतिभा के धनी रहे है, कहने को तो वे 13 पंथ संघ में आचार्य थे किन्तु जब उनके व्यक्तित्व व कृतित्व का विश्लेषण किया जाता है तो उनमें एक संत, समाज सेवी, विधिवेत्ता, वैज्ञानिक, राजवेत्ता, साहित्यकार और एक कुशल वक्ता के दर्शन होते हैं। अतः उनके व्यक्तित्व को इन्द्रधनुष की उपमा दी जा सकती है जो कि अपने आप में अनेक विद्याओं को समाहित किए हुए है। आचार्य तुलसी ने सदैव समय को पहचान उसके साथ चलने की बात की है तथा सामयिक समस्याओं के समाधान में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

आचार्य तुलसी ने तात्कालीन समाज में व्याप्त साम्प्रदायिकता, चारित्रिक गिरावट तथा नैतिकता व मानवता के पतन की स्थिति का अवलोकन किया और इस समस्याओं को जड़ से उखाड़ फैंकने का निर्णय लिया इसी दिशा में उन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत आन्दोलन द्वारा आयोजित 'अहिंसा–दिवस', मैत्री दिवस, सब सम्प्रदाय के लोगो का मिलान, अपने–अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि सहिष्णुता व साम्प्रदायिक एकता के विकास का आधार बन गया। इसी दिशा में सन् 1960 में 'नया मोड' आन्दोलन का सूत्रपात किया इसका उद्देश्य समाज में प्रचलित कुप्रथाओं यथा पर्दा प्रथा, मृत्युभोज, विधवाओं के प्रति तिरस्कार की भावना, आदि का उन्मूलन करना था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

30.3 आचार्य तुलसी जीवन–परिचय

आचार्यश्री तुलसी सर्वांगीण व्यक्तित्व के धनी थे। वे विरल महापुरुष धरती पर उतरे, भारतीय संस्कारों में पले, भारत के क्षितिज पर सूरज की तरह चमके और पूरे विश्व को आलोकित कर अन्तर्धान हो गए। तेरापंथ धर्मसंघ की साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने आचार्य तुलसी के जीवन–चरित्र को अनुपम ढंग से प्रस्तुत किया है। चुम्बकीय व्यक्तित्व के स्वामी आचार्यश्री तुलसी के उजले आभामण्डल का प्रभाव अप्रतीम था। उनकी आँखों का तेज अलौकिक था, उनकी दृष्टि पारदर्शी थी। कानों की रचना विलक्षण थी। उनके भाल पर चुहचुहाता पसीना प्रखर पौरुष की कहानी सुनाता था। उनका मस्तिष्क उर्वर था। नित नए सपने देखना, उन्हें पूरा करना प्रबल भाग्य और पुरुषार्थ के सुयोग को दर्शाता है। उनकी वाणी का जादू मनुष्य को मुग्ध कर लेता था। ऐसे होनहार बालक का जन्म विक्रम कार्तिक शुक्ला द्वितीया (24 अक्टूबर 1916) को लाडनूँ नामक कस्बे में हुआ था, जो नागौर जिले के उत्तर–पूर्वी छोर पर बसा एक कस्बा है। इसका अस्तित्व महाभारत काल से माना जाता है। पिताश्री झूमरमलजी खटेड़ तथा वंदना की कुक्षि से उस नर–रत्न ने जन्म लिया। माँ से भरपूर संस्कार मिले।बचपन माँ के लाड–प्यार, दुलार में बीता। वे स्वयं अपनी आत्मकथा (मेरा जीवन–मेरा दर्शन) में लिखते हैं – "मैं जब बच्चा था, मेरे सामने मेरी माँ से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं था। खिलाना, पिलाना, नहलाना, डांटना, आँख–दिखाना, सुलाना, उठाना, मनाना, समझाना, संस्कार देना आदि सब काम माँ करती थी। बचपन से ही आचार्यश्री तुलसी संस्कारी, धार्मिक, सत्यनिष्ठ तथा प्रमाणिक थे। अनेक घटना प्रसंगों से उनके जीवन में इन जीवन–मूल्यों का दर्शन होता है।

प्रारम्भिक–शिक्षा एक जैन–स्कूल में सम्पन्न हुई। कक्षा दो तक पढ़ाई की। विशेष रूप से गणित और हिन्दी का अभ्यास किया। वि.सं. 1982 का वर्ष आचार्य तुलसी के लिए भाग्योदय का वर्ष था। तेरापंथ धर्मसंघ के अष्टमाचार्य कालूगणि के दर्शन में उनमें वैराग्य का बीज प्रस्फुटित हुआ। 5 दिसम्बर, 1925 को आपकी दीक्षा का सुसंस्कार सम्पन्न हुआ। मुनि जीवन के रूप में नया जन्म मिला। 11 वर्ष की अल्पायु में दीक्षा ग्रहण कर 12 वर्ष तक अध्ययन–अध्यापन किया एवं साधना के रहस्यों को अनावृत किया। गुरु चरणों में स्वाध्याय, संगीत–साधना की। 22 वर्ष की तरुण वय में समूचे धर्मसंघ का भार कोमल कंधों पर आ गया। 83 वर्ष तक समाज और राष्ट्र में नैतिकता, अध्यात्म, अणुव्रत की अलख जगाई तथा समाज के सभी वर्गों में सुधार, चेतना जागरण, नैतिक और चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना की। नारी–शिक्षा और जागृति पर विशेष बल दिया। शिक्षा के प्रत्येक घटक पर गंभीरता पूर्वक न केवल चिन्तन प्रस्तुत किया, साथ में शिक्षा में समाविष्ट विसंगतियों को दूर करने के कारगर उपाय भी सुझाये। अणुव्रत की आचार–संहिता, प्रेक्षाध्यान और जीवन–विज्ञान जैसे उपक्रमों से भावी पीढ़ी के जीवन–निर्माण का प्रायोगिक प्रारूप प्रस्तुत किया।

30.3.1 जीवन के स्मरणीय दिन

1. **जन्म** : वि.सं. 1971, कार्तिक शुक्ला 2।
2. **दीक्षा** : वि.सं. 1982, पौष कृष्णा 5 दिसम्बर 1925, लाडनूँ (राज.)
3. **युवाचार्य** : वि.सं. 1993, भाद्रपद (प्रथम), शुक्ला – 3, 21 अगस्त, 1936, गंगापुर (राज.)
4. **आचार्य** : वि.सं. 1993, भाद्रपद (प्रथम), शुक्ला – 9, 27 अगस्त, 1936, गंगापुर (राज.)
5. **आचार्य पद का विसर्जन** : वि.सं. 2050, माघ, शुक्ला–7, 18 फरवरी, 1994, सुजानगढ़ (राज)
6. **परिनिर्वाण** : वि.सं. 2054, आषाढ़, कृष्णा – 3, 23 जून, 1997, गंगापुर (राज.)

30.3.2 सम्मान

* **भारत–ज्योति अलंकरण** : 12 फरवरी, 1986, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, राष्ट्रपति ज्ञानी जेलसिंह द्वारा
* **वाक्पति अलंकरण (डी.लिट्.)** : 14 जून, 1993, उच्च शिक्षा संस्थान, वाराणसी।
* **इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार** : 31 अक्टूबर, 1993, नई दिल्ली
* **गणाधिपति गुरुदेव** : 18 फरवरी, 1994, सुजानगढ़ (राज.)
* **अवदान** : अणुव्रत, आगम–सम्पादन, नया मोड़, प्रेक्षाध्यान, जीवन–विज्ञान, समण दीक्षा, जैन जीवनशैली

30.3.3 जीवन दर्शन

आचार्यश्री महाप्रज्ञ आचार्य तुलसी के यशस्वी उत्तराधिकारी हैं। वे सात दशक तक सहयात्री रहे। उन्होंने आचार्यश्री

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तुलसी के जीवन–दर्शन को यथार्थ के धरातल पर अलौकिक ढंग से व्यक्त किया है –

''आचार्य तुलसी ने जीवन के रहस्यों को समझने का प्रयत्न किया। अनेक रहस्यों के तल तक पहुँच पाए और अनुभव किया – जीवन का एक दर्शन होना चाहिए। वह रहस्यों को देखने के लिए एक आलोक है। उसके आलोक में जीवन को समझना कुछ आसान हो जाता है।

आचार्य तुलसी अनुशास्ता के साथ–साथ अनुसंधाता भी थे। आचार्य तुलसी सत्य के शोध, अन्वेषण और अनुसंधान में निरन्तर लगे रहे, इसीलिए रूढ़िवाद और उपयोगिता शून्य परम्परावाद उन्हें कभी अभिभूत नहीं कर पाया। उनके जीवन–दर्शन में पद–पद पर सत्य की जिज्ञासा और अनुसंधित्सा देखने को मिलेगी।

आचार्य जितने तत्त्ववेत्ता थे, उतने ही व्यवहार में निष्णात थे। उन्होंने विश्व को तत्त्व की दृष्टि से देखा। समाज को व्यवहार की दृष्टि से देखा। उनके जीवन में निश्चय और व्यवहार का अपूर्व समन्वय था।

आचार्य तुलसी का जीवन घटना प्रधान था। उनके आधार पर वे 'क्या खोया, क्या पाया' का लेखा–जोखा करते रहते थे।

संघर्ष महानता का उपादान है। आचार्य तुलसी की जन्म कुण्डली में प्रबल राजयोग, प्रबल अभ्युदय योग है। वहाँ प्रबल संघर्ष का भी योग है। अपने पुरुषार्थ से सफलता अर्जित की।

आचार्य तुलसी का जीवन–दर्शन अध्यात्म का जीवन–दर्शन है। इसीलिए उसमें मानवीय एकता का उन्मेष है, सार्वभौम या असम्प्रदायिक धर्म की ज्योति है, धर्म क्रांति के प्रस्फोट हैं, युगीन समस्या का समाधान है।

आचार्य तुलसी युगप्रवर्तक युग–पुरुष थे। उनके जीवन को त्रैकालिक सत्य के साथ–साथ युगीन सच्चाई के साथ भी देखना अधिक प्रांसगिक, अधिक हितकर और अधिक दिशा–सूचक होगा।

आचार्य तुलसी के जीवन–दर्शन ने मानव समाज के मूल्यों की प्रतिष्ठा की। धर्माचार्य रहते हुए भी समाज–सुधार पर अत्यधिक बल दिया। अच्छे मानव के निर्माण को आवश्यक बताया। भारतीय नागरिक में नैतिक और चारित्रिक उन्नयन के लिए देश की आजादी के साथ ही अणुव्रत आन्दोलन का शंखनाद किया।

वे पादविहारी थे। गरीब की झोपड़ी से राष्ट्रपति भवन तक 1 लाख किलोमीटर की पद–यात्रा द्वारा इस नैतिकता और चरित्र–निर्माण के संदेश को पहुँचाया। उनका कहना था – ''मै उस जीवन को नारकीय जीवन मानता हूँ, जिसमें छल, धोखा, लोलुपता, विश्वासघात और हिंसा हो और उस जीवन को स्वर्गिक जीवन कहता हूँ, जो संतोष, सादगी, विश्वास, चरित्र और नीति से परिपूर्ण हो।''

आचार्य तुलसी की साहित्य सम्पदा अत्यधिक विस्तृत है और प्रत्येक कृति में मानव चेतना का आह्वान है।

बोध–प्रश्न

प्रश्न – आचार्य तुलसी के जीवन का संक्षिप्त परिचय दीजिए?

उत्तर – ....

30.3.4 महत्त्वपूर्ण कृत्तियां

अणुव्रत आन्दोलन अणुव्रत एक ऐसी मानवीय आचार संहिता है, जिसका किसी उपासना या धर्म विशेष के साथ संबंध न होकर सत्य, अंहिसा आदि मूल्यों से हैं 'अणुव्रत आन्दोलन' पुस्तिका में अणुव्रत की आचार संहिता एवं उसके मौलिक आधारों की चर्चा की गयी है। इसमें अणुव्रत की पृष्ठभूमि को समझाने का प्रयास किया गया है और यह इसमे सफल भी है।

❋ **कुहासे में उगता सुरज** : ''कुहासे में उगता सुरज'' 101 आलेखों का संकलन है। इस पुस्तक समाज को भौतिक के खतरे से आगाह किया गया है। यह पुस्तक वर्तमान की चकाचौंध मे अपने मूल्यों व संस्कृति का विस्मृत करने वाली पीढ़ी के लिए दिग्दर्शन है तथा अनैतिकता व हिंसा के कुहासे में संयम और अहिंसा के सूरज को नई ज्योति के साथ उगाने में सहयोगी है।

❋ **खोए सो पाए** : ''खोए सो पाए'' नामक शीर्षक इस पुस्तक में नैतिकता एवं मानवीय मूल्यों की मार्मिक अभिव्यक्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दी गई है। आचार्य तुलसी स्वयं इस पुस्तक के प्रयोजन को अभिव्यक्ति देते हुए कहते है – 'खोए सो पाए' को पढ़ने वाला साधक अपने आपका पूर्ण रूप से खोना, विलीन करना सीख ले, यह उसके जीवन की सबसे बडी उपलब्धि हो सकती है।''[1]

✱ **घर का रास्ता** : ''घर का रास्ता'' प्रवचन पाथेय ग्रन्थमाला का सतरहवां भाग है। इसमें वर्तमान युग की अनेक समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन एवं प्रभावी समाधान हैं यह पुस्तक घर से भटके मानव के लिए मार्गदर्शक का कार्य करेगी। इसमें घटनाओं, रूपकों तथा कथाओं के माध्यम से शाश्वत घर तक पहुंचने के लिए निर्देशिका है।

✱ **जन–जन से** : ''जन–जन से'' पुस्तक में आचार्य तुलसी के 19 क्रांतिकारी युग–संदेश समाहित है। इस पुस्तक में तुलसी के विचारों की आत्मनिष्ठा स्पष्ट होती है जो कि नवसमाज के निर्माण को उत्प्रेरित करती है। आचार्य तुलसी लाखों लोगों के सम्पर्क में आएं उनको देखा उनके विचारों से परिचित हुए और उनमें त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया।

✱ **जागो, निद्रा त्यागो** : आचार्य तुलसी ने अपनी परिष्कृत दृष्टि से मानव जीवन को सूक्ष्मता से देखने, समझने और नया आयाम प्रदान किया है। 'जागो! निद्रा त्यागो' पुस्तक में सामाजिक, नैतिक एवं मानवीय पक्षों पर आचार्य तुलसी के विचारों का संकलन है। आचार, संस्कार, राष्ट्रीय–भावना, साधना, शिक्षा आदि विषयों से ओत–प्रोत विषयों से युक्त दृष्टिकोण भी समाहित है।

✱ **नैतिकता के नए चरण** : ''नैतिकता के नए चरण'' 'अणुव्रत विचार माला' का चौथा अंश है। इस पुस्तक में 7 लघु प्रवचनों का संकलन है। इन प्रवचनों में अणुव्रत के विविध पक्षों का नैतिक संदर्भ में चिंतन किया गया है। इस पुस्तक में अणुव्रत और नैतिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। आचार्य तुलसी कहते हैं – ''नैतिक पुनर्निर्माण की परिकल्पना मुझे बहुत प्रिय है। उसकी क्रियान्विति को मैं अपने ही लक्ष्य की क्रियान्विति मानता हूँ।

✱ **प्रज्ञापर्व** : आचार्य तुलसी सैद्धान्तिक जीवन में विश्वास नहीं करते थे, उनके अनुसार जीवन प्रायोगिक होना चाहिए। उनके जीवन का एक सामूहिक प्रयोग का वर्ष था – 'योगक्षेमवर्ष' जिसे 'प्रज्ञापर्व' के रूप में मनाया गया। इस वर्ष का प्रमुख उद्देश्य था – मौलिकता की सुरक्षा के साथ आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्ति का निर्माण करना। इसी से सम्बन्धित विचारों का संकलन है 'प्रज्ञापर्व' इस पुस्तक में सामयिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

✱ **प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा** : प्रेक्षा स्वयं को देखने की विशिष्ट पद्धति है। इससे सम्बन्धित प्राथमिक जानकारी देने की दृष्टि से आचार्य तुलसी ने 'प्रेक्षासंगान' की संरचना की, इसमें 300 पद्यों के माध्यम से प्रेक्षाध्यान की विधि व महत्व को स्पष्ट किया है। इन पद्यों पर प्रश्नोत्तरों के माध्यम से व्याख्या लिखी गयी जो कि 'प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। यह पुस्तक मानव के अस्तित्व को समझने का नया दृष्टिकोण तो प्रस्तुत करती है साथ ही आत्मशक्ति को जागृत करने का भी सशक्त माध्यम है।

✱ **प्रेक्षाध्यान : प्राणविज्ञान** : प्रेक्षाध्यान को स्पष्ट करने के लिए ''जीवन विज्ञान ग्रंथ माला'' प्रकाशित हुई इसी के श्रृंखला में 'प्रेक्षाध्यान : प्राणविज्ञान' भी एक है, इस पुस्तक में प्राणशक्ति के महत्व व उसको जागृत करने के विभिन्न प्रयोगों को स्पष्ट किया गया है।

✱ **बीति ताहि विसारि दे** : आज प्रत्येक व्यक्ति अवसाद से ग्रसित है। सम्पूर्ण मानव जीवन को इस दुविधा संकट से बाहर निकालने की दृष्टि से 'बीति ताहि विसारि दे' एक अवदान है। इस पुस्तक में योग साधना, नारी, युवक, शिक्षा आदि अनेक विषयों पर हृदयस्पर्शी प्रस्तुति हुई है।

✱ **बैसाखियां विश्वास की** : वर्तमान युग यांत्रिकी युग है किसी के पास दूसरों के लिए समय नहीं है और इसी समस्या के समाधान के रूप में आचार्य तुलसी जी ने 'बैसाखियां विश्वास की' में रखा है। आचार्य तुलसी स्वयं इस पुस्तक के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं – अनैतिकता बढ़ रही है, यह चिन्ता का विषय है, इससे भी बड़ी चिन्ता है, नैतिक मूल्यों के प्रति विश्वास समाप्त होता जा रहा है। लोक–जीवन में इस विश्वास को उच्छ्वसित रखने के लिए समय–समय पर कुछ छोटे–छोटे आलेख लिखे गए। उन्हीं आलेखों का सकंलन है – बैसाखियां विश्वास की। इस संकलन को पढ़कर कुछ लोग भी यदि नैतिक मूल्यों के प्रति अपना विश्वास जगा पाएं तो इसमें लगे क्षणों की सार्थकता है।[2] ''

✱ **सफर : आधी शताब्दी का** : 'सफर : आधी शताब्दी का' पुस्तक में आचार्य तुलसी ने अपनी पचास वर्ष की उपलब्धियों एवं अनुभूतियों का सरस आकलन किया है। तथा हमारे आस–पास व्याप्त समस्याओं के निदान का मार्ग प्रशस्त किया है। इस पुस्तक में युवकों व महिलाओं पर भी विचार व्यक्त किए है।

✱ **समता की आंख : चरित्र की पांख** : 'उद्‌बोधन का तृतीय संस्करण 'समता की आंख : चरित्र की पांख' के रूप

में प्रकाशित है। इस पुस्तक में छोटे–छोटे लेखों के माध्यम से नैतिक सन्दर्भों का समाज के साथ सामंजस्य बैठाने का भी व्यावहारिक विवरण है। इसमें आचार्य तुलसी जी ने मौखर्य अपेक्षा मौन को अधिक महत्व प्रदान किया है।

✱ **समाधान की ओर** : प्रत्येक व्यक्ति का ह्रदय शंकाओं व जिज्ञाओं का भण्डार होता है प्रतिक्षण वह इसके समाधान में लगा रहता है। समाधान ही लक्ष्य प्राप्ति का साधन है। 'समाधान की ओर' पुस्तक में युवकों की जिज्ञासाएं एवं आचार्य तुलसी के समाधान है। आचार्य तुलसी के अनुसार समस्याएं आती है तो समाधान भी आता है। केवल आवश्यकता होती है उसको सामने लाने की। इस दिशा में यह पुस्तक विशेष रूप से समाज को नव दिशा प्रदान करने में सहायक है।

✱ **बूंद–बूंद से घट भरे भाग–1,2** : आचार्य तुलसी के प्रवचनों में धर्म, दर्शन, विज्ञान, समाज, राजनीति, मनोविज्ञान, शिक्षा आदि विषयों का समन्वय है। इस पुस्तक में सन् 1965 और 66 के प्रवचनों का संकलन है। इसमें व्यक्ति की चेतना को अध्यात्म की ओर उन्मुख किया गया है।

''सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से, राष्ट्र स्वयं सुधरेगा' आचार्य तुलसी द्वारा दिया गया विचार की सार्थकता इस पुस्तक में प्रकट करता है। जैसे बूंद–बूंद से घट भरता है, वैसे ही व्यक्ति सुधार से समाज, राष्ट्र एवं विश्व का सुधार संभव है।

✱ **शांति के पथ पर (दूसरी मंजिल)** : 'शांति के पथ पर' (दूसरी मंजिल) सर्वोदय ज्ञानमाला का पांचवा अंश है। लगभग 40 साल पूर्व हुए प्रवचनों के समावेश के माध्यम से सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक परम्पराओं का जींवत प्रस्तुतिकरण किया गया है। इस पुस्तक के विचार बौद्धिक स्तर पर ही नहीं, अनुभूति के स्तर पर लिखे व बोले गए है। इसलिए यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

✱ **नवनिर्माण की पुकार** : जब आचार्य तुलसी ने अनुभव किया कि भारतीय समाज को नवनिर्माण की आवश्यकता है तब उन्होंने राजधानी दिल्ली से लेकर छोटे–बड़े गांवों तक हजारों किलोमीटर की पदयात्राएं की। नवनिर्माण की पुकार' पुस्तक में दिल्ली यात्रा के अनुभवों व कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक तीन प्रकरणों में विभाजित है।

✱ **अग्नि परीक्षा** : ''अग्नि परीक्षा'' खंडकाव्य में राम के अयोध्या आगमन से लेकर सीता की अग्नि परीक्षा तक का वर्णन है। आचार्य तुलसी ने इसमें सीता के माध्यम से भारतीय नारी की शालीनता, सात्विकता, समर्पण की अभिव्यक्ति की। सीता राम के मति–विभ्रम को अपने ही भाग्य का लेखा मानती है –

जो हुआ दोष मेरा है, निर्दोष निरन्तर रहे राम।

कृत कर्मों का हो कुपरिणाम, जिनसे उनकी मति हुई वाम।।[4]

आचार्य तुलसी ने इस काव्य में प्रसंगवशं रूढियों तथा प्रतिक्रियावादी के प्रति विद्रोह प्रकट किया है। समाज में व्याप्त अत्याचार, शोषण एवं उत्पीड़न के विरोध करने वाली यह गीतिकाव्य की पुस्तक समाज को पुरूत्थान की भोर ले जाने में सक्षम है।

✱ **चंदन की चुटकी भली** : 'चंदन की चुटकी भली' नामक काव्य में आचार्य तुलसी ने प्राचीन भारतीय संस्कृति को उजागर करने का प्रयास किया है। इस काव्य में मानव प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति दोनों का ही सुन्दर चित्रण है।

✱ **डालिम चरित्र** : 'डालिम चरित्र' घटना प्रधान काव्य है इसमें डालगणी के शासन सम्बन्धी अनेक घटनाओं का वर्णन किया है। इस काव्य की मूल भाषा राजस्थानी है किन्तु यत्र–तत्र गुजराती, खड़ी बोली आदि प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग किया गया है।

✱ **व्यवहार बोध** 'व्यवहार बोध' की रचना के प्रयोजन के बारे में पूज्य गुरूदेव का अभिमत पठनीय है – ''विज्ञान ने सुख–सुविधाओं के अंतहीन साधन जुटा दिए है फिर भी सब व्यर्थ हैं, यदि वह जीने की कला नहीं जानता। प्राथमिक रूप में जीवन की कला का बोध देने के लिए मैने एक छोटी सी कृति व्यवहार की रचना की। व्यवहार एक आईना है, जिसमें समूचा जीवन प्रतिबिम्बित होता है। व्यवहार बोध को पढ़े, अपने आपको देखे, भीतर झांके, स्वयं को बदले और जीने की कला सीखें।''[11]

अतः कहा जा सकता है कि आचार्य तुलसी ने अपने अनुभवों का सजीव चित्रण किया है। सहनशीलता जीवन का महत्वपूर्ण मूल्य है, किन्तु आज इसकी कमी होती जा रही है। वर्तमान में कोई किसी को सह नहीं सकता, इसकी मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति प्रस्तुत काव्य में उल्लेखित है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उपरोक्त काव्य के विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट होता है कि आचार्य तुलसी ने अपने प्रवचनों के साथ–साथ अपने काव्यों में भी संयमशील, शालीनता, समर्पण, सहिष्णुता, त्याग, चरित्र जैसे जीवन मूल्यों को बनाये रखने पर बल दिया है साथ–साथ ही समाज में नारी की महिमा को भी उद्घाटित किया है।

30.4 आचार्य तुलसी के सांस्कृतिक विचारों का योगदान

30.4.1 मानवतावादी जीवन मूल्यों पर बल – गणाधिपति आचार्य तुलसी की कृतियां मानवीय मूल्यों से ओत–प्रोत है। उन्होंने मानव जीवन से अधिक महत्व मानवता को दिया है उन्होंने अपनी कृति में स्पष्ट किया हैं –

मानव जीवन सहज हमले, पर दुर्लभ मिलती मानवता।
मानव की आकृति में प्रायः पलती रही दानवता।।

उन्होंने मानवता को सभी पदों से सर्वोपरी माना है, उन्होनें स्पष्ट कहा है कि यदि में संसार में कहीं सुख व शांति की कमी नजर आती है तो इसके पीछे मानवता की कमी ही सबसे बड़ा कारण है।

30.4.2 नैतिकता पर बल– आचार्य तुलसी जी नैतिक जागरण को अपने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानते है उन्होंने अन्तःशुद्धि या व्यवहार शुद्धि को ही नैतिकता माना है। और साथ ही साथ स्पष्ट भी किया है कि नैतिकता पुस्तकों से नहीं, अपितु शिक्षकों व अभिभावकों के व्यवहार से ग्रहण की जाती है। संभल सयाने नामक पुस्तक में उन्होंने प्रतिदिन क्षीण होती नैतिकता को विश्व स्तर पर सबसे बड़ी समस्या माना है और इसका कारण आध्यात्मिक अभाव माना है। अन्य स्थान पर लिखा है –

सामाजिक दायित्व बोध से, नैतिक बल फिर जागे।
आध्यात्मिक बल का संबल या, मानव मूर्च्छा त्यागे।।

उन्होंने नैतिक बल युक्त गरीब व्यक्ति को भी सबसे अमीर माना है। लेकिन उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि नैतिकता केवल सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं है ये तो प्रायोगिक है और जब तक इसका प्रयोग नहीं किया जाता तब तक मात्र एक वाक्य है।

30.4.3 अनुशासन– आचार्य तुलसी ने अनुशासन को जीवन निर्माण का आधार माना है। उन्होंने अपनी पुस्तक जब जागे तभी सवेरा, में स्पष्ट किया है कि अनुशासन शब्द आज्ञा के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। आज की इस अनुशासनहीन स्थिति को देखते हुए आचार्य तुलसी जी कहते हैं –

अनुशासन है जटिल पहेली, आज समूचे जग में।
व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सारे ही उलझ रहे पग–पग में।।[1]

उन्होंने अनुशासनहीनता को आज की शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष माना है। उन्होंने अपनी कृतियों में स्पष्ट किया है कि मन की प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन करके ही अनुशासन की प्राप्ति की जा सकती है, यह कोई बाहरी वस्तु नहीं अपितु स्वयं के मन की उपज होती है।

30.4.4 आत्मानुशासन– आचार्य तुलसी के विचारों से स्पष्ट होता है कि आत्मानुशासन का विकास ही सफल जीवन की आधार शिला है। आज आत्मानुशासन का सर्वत्र अभाव है जबकि इसकी सर्वाधिक आवश्यकता ही आज है –

आज अपेक्षा से अपना, अनुशासन जागे।
ऐसी क्रांति घटित हो मानव, उच्छृंखलता त्यागे।
स्वर्णिम भविष्य है आगे।।

उन्होंने आत्मानुशासन को अनुशासन का ही सर्वोत्कृष्ट रूप माना है।

30.4.5 चारित्र निष्ठता पर बल – आचार्य तुलसी जी ने अपनी कृतियों में सर्वाधिक बल चरित्र के अभाव में ज्ञान और दर्शन निष्क्रिय है। उन्होंने आज की चारित्रिक पतन की स्थिति को गम्भीर समस्या बताया है और कहा हैं –

घोर चारित्रिक पतन, सब ओर बढ़ता जा रहा है।
सत्य का सूरज स्वयं पर, आवरण है पा रहा।।[1]

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उन्होंने चारित्रिक उत्थान की दृष्टि से ही अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया था।

30.4.6 अन्याय व शोषण से मुक्ति – उन्होंने समाज को अन्याय व शोषण से मुक्त करने के अथक प्रयास किए, उन्होंने नारी को शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए कई आन्दोलन चलाए परिणामस्वरूप पर्दाप्रथा, व बाल विवाह जैसी कुरीतियों का अन्त भी किया।

30.4.7 आध्यात्मिकता–वैज्ञानिकता का समन्वय – आचार्य तुलसी ने व्यक्ति के विकास के लिए अध्यात्म व विज्ञान दोनों के समन्वय को स्वीकार किया है उनके अनुसार केवल अध्यात्म के सहारे आज के वैज्ञानिक युग में विकास नहीं किया जा सकता और विज्ञान अकेला विनाश का पर्याय है।

30.4.8 कथनी–करण्नी की समानता – आचार्य तुलसी जी ने अपने प्रवचनों व कृतियों में कथनी–करणी की समानता पर बल दिया है, उनके अनुसार कथनी और करणी की समानता ही व्यक्ति को विकास की ओर अग्रसर करती है। जिस व्यक्ति की कथनी और करणी में समानता नहीं होती उसका तो पतन निश्चित है ही साथ ही साथ वह समाज की उन्नति नहीं कर सकता, जिसका वह सदस्य है।

30.4.9 कर्तव्यनिष्ठा व कर्मशीलता पर बल – आचार्य तुलसी जी कर्तव्यनिष्ठा को मानवता का प्रथम सोपान मानते है। उनकी कृतियों से स्पष्ट होता है कि कर्तव्यनिष्ठा सदाचार की प्रेरक शक्ति है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि जिस समाज में कर्तव्यबोध नहीं होता, वहां ध्वंस की शुरूआत हो जाती है।

आचार्य तुलसी ने कर्म के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए जो कार्य किया जाता है वह कर्म सिद्धान्त नहीं बन सकता। और जो कर्म सिद्धान्त नहीं है उसके आधार पर व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। उन्होंने कर्म के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दीमक की तरह हजारों पुस्तकें चाट जाने से कोई लाभ नहीं है यदि विद्यार्थी के कर्म स्वच्छता नहीं है तो।

कथनी करनी की समानता में गतिशील चरण हो।

30.4.10 नवीनता व प्राचीनता का समन्वय –आचार्य तुलसी नए मूल्यों के औचित्य को स्वीकार करते थे किन्तु तभी जबकि प्राचीन मूल्यों पर उनका अतिक्रमण ना हो तथा समाजोपयोगी हो। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि प्राचीन मूल्यों तथा रूढ़ परम्पराओं के आधार पर विकास नहीं हो सकता इसलिए उन्होनें नवीन प्राचीन मूल्यों के समन्वय पर बल देते हुए कहा –

सिर्फ पुरानी धारणा, रह जाएगी बन रूढ़।

सिर्फ नयापन आदमी को, कर देगा दिग्मुढ़।।[1]

बोध–प्रश्न

प्रश्न – आचार्य तलसी के सांस्कृतिक विचारों को बताइये ? (कोई 4 बिन्दूओं पर)

उत्तर – ....

30.5 आचार्य तुलसी के सामाजिक विचारों का योगदान

आचार्य तुलसी धर्माचार्य के साथ साहित्यकार भी है अतः उनके साथ सहज ही मणिकांचन योग हो गया है। जिस प्रकार कबीर ने जो कुछ लिखा वह किताबी ज्ञान से नहीं, अपितु आंखों देखी बात लिखी, वैसे ही आचार्य तुलसी ने सामाजिक चेतना को अपनी अनुभव की आंखों से देखकर उसे संवारने का प्रयत्न किया है। उनके समाजदर्शन की विशेषता है कि उन्होंने सब कुछ स्वीकारा नहीं है, गलत मान्यताओं को फटकार एंव चुनौती भी दी है तथा उसके स्थान पर नए मूल्य–निर्माण का संदेश दिया है। आचार्य तुलसी के उद्‌बोधन से समाज ने एक नयी करवट ली है तथा उसने युग के अनुसार अपने को बदलने का प्रयास भी किया है।

समाज के सम्यक् विकास एंव गति हेतु वे नारी जाति को उचित सम्मान देने के पक्षपाती है। उन्होंने अनेक बार इस स्वर को मुखर किया है–''जो समाज नारी को सम्मानपूर्वक जीने, स्वतन्त्र चिंतन करने और अपनी अस्मिता को पहचानने का अधिकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नहीं देता है वह विकास नहीं कर सकता है।''

30.5.1 परिवार– परिवार समाज की महत्वपूर्ण एवं बुनियादी संवर्ग है। पाश्चात्य देशों में परिवार पति–पत्नी पर आधारित है पर भारतीय परिवारों के मुख्य केन्द्र बालक, माता–पिता एंव दादा–दादी होते है। आचार्य तुलसी संयुक्त परिवार के पक्षपाती है क्योंकि इसमें निश्चिन्तता और स्थिरता रहती है। उनका मानना है कि परिवार के टूटने का प्रभाव केवल वर्तमान पीढ़ी पर ही नहीं पड़ता उससे भावी पीढ़ियां भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

आचार्य तुलसी की दृष्टि में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, असहिष्णुता, सन्देह, अहंकार, औधोगीकरण, मकान तथा यातायात की समस्या आदि तत्व परिवार–विघटन में मुख्य निमित्त बनते हैं पर सबसे बड़ा कारण वे पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव को मानते है–''पश्चिमी सभ्यता की घुसपैठ ने परिवार में बिखराव तो ला दिया, पर अकेलेपन की समस्या का समाधान नहीं किया''

अच्छे संस्कारों का संक्रमण संयुक्त परिवार की सबसे बड़ी उपयोगिता है। इस तथ्य को आचार्य तुलसी अनेक बार भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत करते रहते है। परिवार में शान्त सहवास का होना अत्यन्त अपेक्षित है। आचार्य तुलसी तो यहां तक कह देते है– ''जहां एक सदस्य दूसरे के जीवन में विघ्न बने बिना रहता है, जहां सापेक्षता बहुत स्पष्ट होती है, वहीं सही अर्थ में परिवार बनता है।'' संयुक्त परिवार में शांत एंव सौहार्दपूर्ण सहवास के लिए परिवार बनता है।'' संयुक्त परिवार मे शांत एवं सौहार्दपूर्ण सहवास के लिए आचार्य तुलसी चार गुणों का होना अनिवार्य मानते है– 1. सहनशीलता, 2. स्नेहशीलता, 3. श्रमशीलता, 4. पारस्परिक विश्वास।

उनका विश्वास है कि ये चार तत्व जिस परिवार के सदस्यों में है, वहां सैकड़ों सदस्यों की उपस्थिति में भी विघटन एंव तनाव की स्थिति घटित नहीं हो सकती।

30.5.2 सामाजिक रूढ़ियां– समाज की समस्याओं के बारे में आचार्य तुलसी नवीन सन्दर्भ में सोचने, देखने व परखने में सिद्धहस्त है। उन्होंने समाज की इस विवेक दृष्टि को खोलने का प्रयत्न किया कि सभी पूर्व मान्यताओं को नवीन कसौटियों पर नहीं कसा जा सकता। पुरानी चौखट पर नवीन तस्वीर को नहीं मढ़ा जा सकता। उसमें भी कुछ युगीन एवं अपेक्षित संशोधन आवश्यक है। कहा जा सकता है कि उनके साहित्य में प्राचीन परम्परा और युगचेतना एक साथ साकार देखी जा सकती है।

सामाजिक परम्पराओं के बारे में उनका चिन्तन स्पष्ट है कि सामाजिक परम्पराएं एवं रीति–रिवाज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सक्रांत होते है और समाज को जोड़कर रखते है पर जब उन परम्पराओं और रीति–रिवाजों में अपसंस्कृति का मिश्रण होने लगे, आडम्बर और प्रदर्शन होने लगे तो वे अपनी सांस्कृतिक गरिमा खो देते है''

आचार्य तुलसी हर परम्परा को अंधविश्वास या रूढ़ि नहीं मानते, क्योंकि वे मानते है कि सत्य अनन्त है अतः बुद्धिगम्य भाग को छोड़कर शेष विपुल सत्य को अन्धविश्वास कहना उचित नहीं है।

आचार्य तुलसी समाज को अनेक बार चुनौती दे चुके है– सामाजिक कुरूढ़ि एवं अन्धविश्वासों से समाज इतना जर्जर, दुःखी, निष्क्रिय, जड़ और सत्वहीन हो जाता है कि वह युग की किसी चुनौती को झेल नहीं सकता है यही कारण है कि वे समाज में व्याप्त दुर्बलता, कुरीति एंव कमजोरी की तीखी अलोचना करते है पर उस आलोचना के पीछे कारण प्रगतिशील एवं सुधारवादी दृष्टिकोण रहता है, जो कम लोगों में मिलता है।

30.5.3 दहेज– आचार्य तुलसी की प्रेरणा ने लाखों परिवारों को इस मर्मान्तक पीड़ा से मुक्त ही नहीं किया वरन् सैकड़ों कन्याओं के स्वाभिमान को भी जागृत करने का प्रयत्न किया है, जिससे समाज की इस विषैली प्रथा के विरूद्ध वे अपनी विनम्र एंव शालीन आवाज उठा सके। राणावास में मेवाड़ी बहिनों के सम्मेलन में कन्याओं के भीतर जागरण का सिंहनाद करते हुए वे कहते है– ''दहेज वह कैंसर है, जिसने समाज को जर्जर बना दिया है तैयार रहना होगा। आल लोगों में यह जागृति आए कि जहां दहेज की मांग होगी, ठहराव होगा, वहां हम शादी नहीं करेंगी। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर जीवन व्यतीत करेंगी, तभी वांछित परिणाम आ सकता है।''

आचार्य तुलसी ने समाज की इस कुप्रथा के विविध रूपों को पैनेपन के साथ उकेरकर वेधक प्रश्नचिन्ह भी उपस्थित किए है–

30.5.4 सामाजिक क्रांति– देश में अनेक क्रांतियां समय–समय पर घटित होती रही है, उनमें सामाजिक क्रांति की अनिवार्यता सर्वोपरि है क्योंकि रूढ़ परम्पराओं में जकड़ा समाज अपनी स्वतंत्र पहचान नहीं बना सकता है। आचार्य तुलसी को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामाजिक क्रांति का सूत्रधार कहा जा सकता है। समाज को संगठित करने, उसे नई दिशा देने, जागृत करने तथा अच्छा–बुरा पहचानने में उनका क्रांतिकारी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आया है। क्रांति के संदर्भ में आचार्य तुलसी का निजी मंतव्य है कि क्रांति की सार्थकता तब होती है, जब व्यक्ति–चेतना में सत्य या सिद्धांत की सुरक्षा के लिए गलत मूल्यों का गलत तत्वों को निरस्त करने का मनोभाव जागता है।'' वे रूढ़ सामाजिक मान्यताओं के परिवर्तन हेतु क्रांति को अनिवार्य मानते है पर उसका साधन शुद्ध होना आवश्यक मानते है। आचार्य तुलसी सामाजिक क्रांति की सफलता में मुख्य केन्द्र–बिन्दु युवा समाज को स्वीकारते है। इस सन्दर्भ में उनकी निम्न टिप्पणी पठनीय है–''क्रान्ति का इतिहास युवाशक्ति का इतिहास है। युवकों के सहयोग और असहयोग पर ही वह सफल एंव असफल होती है।'' युवकों को अतिरिक्त महत्व देने पर भी उनका संतुलित एंव समन्वित दृष्टिकोण इस तथ्य को भी स्वीकारता है– मैं मानता हूं समाज की प्रगति एंव परिवर्तन के लिए वृद्धों का अनुभव तथा युवकों की कृतित्व शक्ति दोनों का उपयोग है। मैं चाहता हूं वृद्ध अपने अनुभवों से युवकों का पथदर्शन करें और युवक वृद्धों के पथदर्शन में अपने पौरूष का उपयोग करें।''

30.5.5 सामाजिक परंपराओं मे परिवर्तन – विवाह आदि की सामाजिक परंपराएं अधिक बोझिल एंव अनैतिक वातावरण की सर्जक बन गई है। बहुत –से व्यक्ति अप्रमाणिकता को नहीं चाहते हुए भी इन परंपराओं को निभाने के लिये अप्रमाणिक बनते है। समाज में सुव्यवस्था हो तो इन पर सहज ही नियंत्रण हो सकता है किन्तु स्पष्ट है कि वैसा कोई शक्तिशाली सामाजिक संगठन नहीं है। संस्कार की जो बुद्धि धार्मिक बनने के प्रथम चरण में स्वयं आ जानी चाहिए, वह नही आती, इसलिए धर्म की प्रगति में हेतुभूत विशिष्ट नियमों की अपेक्षा इसके लिए बराबर प्रयत्न करना होता है। जब तक उक्त परंपराओं में परिवर्तन नहीं होता, तब तक अणुव्रती बनने में भी लोग कठिनाई का अनुभव करते है। परिवर्तन करना कठिन होता है, किन्तु उसके होने पर लोग बहुत–सी कठिनाइयों से सहज ही बच जाते है। तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर इस विषय में एक उद्‌बोधन मिले, यह अपेक्षित है। वह इस प्रकार है–

1. जन्म–संस्कार के उपलक्ष्य में प्रचलित परंपराओं–छूछक, दशोटन आदि के बंद किया जाए।
2. विवाह–संस्कार के उपलक्ष्य में प्रचलित परंपराओं–दहेज, ठहराव, वर–विक्रय, कन्या–विक्रय आदि के बंद किया जाए। पर्दा न रखा जाए।
3. मृत्यु–संस्कार के उपलक्ष्य में प्रचलित परंपराओं–शोक–चिन्ह, शोक की बैठक, विधवा को कोने में बिठाना आदि की अवधि को कम किया जाए। मृत्यु भोज न किया जाए। शोक–स्वरूप काले वस्त्र न पहनाएं जाएं।

आचार्य श्री तुलसी ने लिखा है कि जैन धर्म जातिवाद को महत्व नहीं देता। भगवान महावीर के युग में रूढ़िवाद का बोलबाला था। उन्होंने उसके विरूद्ध जबरदस्त क्रान्ति की उद्‌घोषणा की ''जातिवाद अतात्विक है। महान वही है जिसका चरित्र महान है। ऐसा होते हुए भी जातिवाद के आधार पर जो खिलवाड़ किये जाते हैं और निम्न कही जाने वाली जातियों को धर्माराध ाना या धर्मश्रवण से अलग रखा जाता है यह धर्म को सही रूप में नहीं समझने का परिणाम है। धर्म सार्वजनिक राजपथ है जिस पर चलने का जन–जन को अधिकार है।'' आचार्य श्री ने लिखा ''जातिवाद मनुष्यता पर कलंक है। जाति और रंग के आधार पर मनुष्य को मानवीय अधिकारों से वंचित रखना मानवता का अपराध है'' जातिवाद को लेकर किसी को अस्पृश्य मानना, उन्हें मंदिर में प्रवेश का अधिकार देना, घृणा के भाव पैदा करना, मेंरी दृष्टि में वह धर्म नहीं है, समता नहीं है। बुद्धिकृत विभाजन को नकार दिया जाए तो समूची जाति एक है, अविभाज्य समान अस्तित्व और क्षमतावाली है। जाति का अहं व्यक्ति को पतन की ओर जे जाता है उन्होंने एक गीत में लिखा है– ''मिसरी स्यूं मुख मीठो होसी कोई खावे, जांत पातरो पचड़ो फिर क्यूं बीच में आवे''। गुरूदेव ने जातिवाद के विरूद्ध आवाज ही नहीं उठाई, जीवन के अनेक प्रसंगों से समाज को सक्रिय प्रशिक्षण भी दिया।

30.6 सारांश

इस प्रकार लोक चेतना में अहिंसा को जीवन–शैली का अंग बनाने के लिए उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। वर्तमान में समाज अनेक बुराईयों में धंसता जा रहा है। आज समाज के प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक व्यक्ति को नवनिर्माण की आवश्यकता है। वर्तमान में स्थतियाँ इतनी विकट हो गयी है कि छात्र का शिक्षक के प्रति सम्मान, गुरू शिष्य सम्बन्धों की मधुरता व पवित्रता, छात्रों में आपसी सद्‌भावना कम होती जा रही है। सद्‌भावना को बनाएँ रखने के लिए अनेक प्रयास किए। आपसी आन्दोलन चलाएं जिनमें अणुव्रत व नया मोड़ प्रमुख है, इनका जन साधारण प्रचार–प्रसार करने के लिए लाखों किलोमीटर की पैदल यात्रा की। देश के कोने–कोने में जाकर जन सम्पर्क किया उनको नैतिकता की ओर अग्रसर किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

30.8 अभ्यास प्रश्नावली

प्रश्न– 1 आचार्य तुलसी को इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार से कब सम्मानित किया गया ?

प्रश्न– 2 आचार्य तुलसी की कृत्तियों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (30 शब्द सीमा)

प्रश्न– 3 आचार्य तुलसी के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों के योगदान पर निबन्धात्मक वर्णन करिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्नातक (प्रथम वर्ष)

विषय : इतिहास

द्वितीय पत्र :

भारतीय संस्कृति की आधारशिलाएँ

संवर्ग

संवर्ग–1	विभिन्न धर्म
संवर्ग–2	वर्ण–व्यवस्था एवं पुरुषार्थ
संवर्ग–3	साहित्य
संवर्ग–4	कला
संवर्ग–5	भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

विशेषज्ञ समिति

1. डॉ. अरुणा सोनी
2. डॉ. विनीत गोधल

लेखक

डॉ. अरुणा सोनी

सम्पादक

डॉ. रणजीत पूनियां

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 1000

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

अनुक्रमणिका

संवर्ग–1 **1–31**

इकाई – 1 भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएं 1

इकाई – 2 सिन्धु धर्म 7

इकाई – 3 वैदिक धर्म 14

इकाई – 4 जैन धर्म 20

इकाई – 5 बौद्ध धर्म 26

संवर्ग–2 **32–59**

इकाई – 1 वर्ण व्यवस्था 32

इकाई – 2 आश्रम – व्यवस्था 37

इकाई – 3 16 संस्कार – उपनयन एवं विवाह संस्कार के सन्दर्भ में 42

इकाई – 4 पुरुषार्थ 50

इकाई – 5 प्राचीनकाल में शिक्षा के मुख्य केन्द्र 54

संवर्ग–3 **60–91**

इकाई – 1 रामायण 60

इकाई – 2 महाभारत 65

इकाई – 3 पुराणों का सांस्कृतिक महत्व 70

इकाई – 4 गुप्तकाल में विज्ञान का विकास 75

इकाई – 5 कालिदास 81

इकाई – 6 तुलसीदास 86

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–4	**92–144**
इकाई – 1 सिन्धुघाटी सभ्यता की कला	92
इकाई – 2 मौर्यकाल की कला	98
इकाई – 3 मथुरा कला	106
इकाई – 4 जैन कला	112
इकाई – 5 गुप्तकालीन मन्दिर	123
इकाई – 6 मुगल स्थापत्य कला	129
इकाई – 7 राजपूत चित्रकला की शाखाएं	138
संवर्ग–5	**145–192**
इकाई – 1 भक्ति आन्दोलन एवं उसका भारतीय संस्कृति पर प्रभाव	145
इकाई – 2 सूफी धर्म एवं उसका भारतीय संस्कृति पर प्रभाव	153
इकाई – 3 पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव	160
इकाई – 4 ब्रह्म समाज	168
इकाई – 5 आर्य समाज	174
इकाई – 6 रविन्द्रनाथ टैगोर के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों का योगदान	179
इकाई – 7 आचार्य तुलसी के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों का योगदान	184

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun